श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—२

श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचितः

मानसोल्लासः

तद्व्याख्या च

माधुरी

महामण्डलेश्वरश्रीमहेशानन्दगिरिस्वामिविरचिता

5.3

मूल्य 50 रुपये मात्र

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—२

श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचितः

मानसोल्लासः

तद्व्याख्या च

माधुरी

महामण्डलेश्वरश्रीमहेशानन्दगिरिस्वामिविरचिता

प्रकाशकः

श्रीदक्षिणामूर्तिमठः

प्रकाशक :
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ,
डी ४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी (२२१०१०)

प्रथम संस्करण १९६३ ई०
द्वितीय संस्करण १९८७ ई०

मुद्रक :
निर्मल चित्रण, आगरा

पूर्व-पीठिका

——:o:——

ॐ

नमस्तेभ्योपि ये सोमकलाकलितशेखरम् ।
नाथं स्वप्नेपि पश्यन्ति निर्मलानन्ददायिनम् ।।

मानव हृदय में प्रकृति के अन्तस्तल में निहित रहस्य को समझने की नैसर्गिक अभिलाषा रहती है । मानव दो प्रकृतियों को भिन्नरूप से अनुभव करता है । वाह्यजगत् और आन्तरजगत् या मन और द्रव्य ही वेदों में परा और अपरा प्रकृति कहे गये हैं । अपनी रुचि, योग्यता और संस्कारों के प्रभाव से जगत की असीमता में प्रवेश मनुष्यमात्र करता है । मशक और वाज दोनों ही आकाश में उड़ते हैं । मूर्ख और ज्ञानी दोनों ही अनादिकाल से दृश्य को अदृश्य के द्वारा समझने का प्रयत्न करते रहे हैं, पर सत्य सर्वदा वाणी का अविषय ही बना रहा है ।

वाह्यजगत् के अन्वेषणों को विज्ञान और मानस जगत् के अन्वेषणों को दर्शन नाम से कहा जाता है । अर्वाचीन काल में युरोपीय संस्कृति ने विज्ञान में अभूतपूर्व प्रगति की है । भारत, जो प्राचीन काल में आन्तर जगत् के अन्वेषणों का केन्द्र रहा है, अनेक कारणों से दर्शन में ऐसी नवीन दिशा दिखाने में अभी समर्थ नहीं हो पाया है । तथापि विज्ञजनों की मान्यता है कि प्राचीन युगों की सैद्धान्तिक प्रगति सम्य-ग्रूप से समझ लेने पर अभी भी मार्ग दर्शन के लिये पर्याप्त है ।

वस्तुतः परा और अपरा प्रकृतियों के अतीत जो तत्व हैं वही वेदों की हमें एक आध्यात्मिक देन है । यह तत्व विज्ञान और दर्शन दोनों से परे है । दोनों प्रकृतियाँ इस में समन्वित हैं । यही वह आधार है जो हमें दोनों की ही परीक्षा करने की सामर्थ्य देता है । सृष्टि इसी

केन्द्र से स्पन्दित होकर पुनः इसी में लय होती है । इसी को सदाशिव-तत्त्व कहा जाता है । प्रकृति के पर्दे को खोलने पर ही हम इसको जान पाते हैं, तथापि पर्दे में से भी विज्ञों को केवल उसी का प्रकाश प्रतीत होता है । अवगुण्ठन को तो सौन्दर्य की आकर्षण वृद्धि का प्रसाधन सहृदय स्वीकार करते हैं ।

आज विज्ञान और दर्शन का द्वन्द्व केवल भौतिक न रह कर धार्मिक जीवन में उतर आया है । धर्म दर्शन का साथी रहा है । विशेषतः भारत में तो प्रत्येक धर्म दर्शन पर ही स्थापित होता है । विज्ञान ने दर्शन को चुनौती ही नहीं पराजित भी कर दिया है । आज का दार्शनिक या तो वैज्ञानिक रहस्यों का मानस टीकाकार रह गया है, या संकुचित होकर दार्शनिक इतिहासकार मात्र बन चुका है । विज्ञान के विकास-वाद, सापेक्षवाद आदि का अयौक्तिक घटन प्रथम पक्ष में पुष्ट प्रमाण है एवं द्वितीय पक्ष में तो प्रायः भारत के सभी दार्शनिक आ जाते हैं । मौलिक दार्शनिक विचारों का अभाव ही इस युग में विज्ञान के उत्कर्ष का प्रतीक है । अनिच्छापूर्वक भी हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि धर्म आज हमारे जीवन को स्पन्दित नहीं करता । वह या तो अपठित जनसामान्य में भय और लोभ से जीवित है, या एक अज़ीब खिलौने की तरह जीवन गृह का शृंगार । धर्म मरणो-न्मुखी है । प्रश्न है क्या दर्शन उसकी मदद कर सकेगा ?

आज के युग की आवश्यकता धर्म के रूप को समझने की है क्या धर्म दार्शनिकों की ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं पर अवलम्बित है अथवा जन्मान्तर की अज्ञेय स्थिति के भय का ही उसे सहारा है ? अथवा उसका कोई मौलिक आधार है ? यदि पूर्व दो विकल्प सत्य हों, और संसार के सभी तथाकथित धर्म इन्हीं पर आधारित हैं, तो धर्म को बचाना न केवल व्यर्थ है पर असम्भव भी ।

वेद हमें एक नवीन मार्ग बतलाता है । भारत में आज से प्रायः १५०० वर्ष पूर्व यही स्थिति आई थी । बौद्ध दर्शन एवं धर्म ने हमें एक करारी हार दी थी । और एक सहस्र वर्ष पर्यन्त हमने अपनी

मान्यताओं की परीक्षा की। संसार के इतिहास में प्रथम बार धर्म की आधार शिला स्वयं धर्म बना। धर्म को दर्शन, मानस जगत्, विज्ञान, अन्धविश्वास एवं पारलौकिक भीति आदि सभी से विश्लिष्ट कर के अपने रूप से समझा गया। निःसन्देह वेद की अपौरुषेयता का सिद्धान्त इसी आधार पर सिद्ध है। वेद में धर्म को इसी दिक्कालातीत रूप से प्रतिपादित किया गया है। यहाँ हमें धर्म शब्द से आध्यात्मिक सिद्धान्त समझना चाहिये। माण्डूक्यकारिकाभाष्य में 'धर्मान् आत्मनः' कह कर आचार्य इसी का निर्देश करते हैं।

यद्यपि भारत में सभी ने उस समय विचार-सरणि निर्माण के द्वारा इस विश्लेषण में भाग लिया था, तथापि भगवान शंकर परावतार आचार्य भगवत्पाद को ही इसके रहस्योद्घाटन का श्रेय है। गौतम, कणाद, प्रशस्तपाद, आसुरि, पंचशिख, कपिल, बादरायण आदि के नाम और ग्रन्थ विश्वविख्यात हैं। पर वे जिस तत्त्व को प्रकट करने का प्रयत्न असफलरूप से कर रहे थे उसे आचार्य ने करामलकवत् सब को सुलभ कर दिया। धर्म के इस रूप पर ही आश्रित हो कर हम ने न केवल सभी वैदिक सम्प्रदायों का समन्वय किया वरन् बौद्ध जैसे नास्तिकों को भी आत्मसात् कर लिया। मध्यकाल में पुनः धर्म अनेक वादों से आक्रान्त हो गया। आज आवश्यकता है पुनः विशुद्ध धर्म को समझ कर विज्ञान और दर्शन दोनों को एक नवीन दिशा देने की। यदि भारत ने इसमें सफलता पाई तो वह भी विश्व में गुलाम न रह कर स्वतन्त्र बन पायगा। अन्यथा आज तो हम गेहूँ और दूध से लेकर यन्त्र और शस्त्र, एवं दर्शन और विचार से लेकर भाषा और पोशाक तक में गुलाम बने हुए हैं। शासकों के चर्म का वर्ण परिवर्तन तो स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता? और न केवल ग्रामीण नृत्यों का नाम संस्कृति ही है।

धर्म के विशुद्ध रूप को यद्यपि भाष्यकार शंकर ने प्रकट किया तथापि भाषा में सत्य के प्राकट्य में दिक्कालातीतता असंभव है। अतः हमारे आदर्श रूप से उन्होंने परमहंस सम्प्रदाय के आद्याचार्य

भगवान् दक्षिणामूर्ति को रखा । उनका व्याख्यान ही मौन है। इस तत्त्व को प्रकट करने के लिये ही इस स्तोत्र की रचना की गई है। वैदिक धर्म अनादि होने पर भी उसके सिद्धान्त का प्राकट्य दक्षिणामूर्ति के मौन व्याख्यान से सृष्टि के आदि काल में सनत्कुमारों को हुआ। एवं शंकर के ही प्रस्थानत्रय व्याख्यानों से वाणी में प्रकट हुआ। प्रस्थानत्रयी के अध्ययन में हमें सर्वदा इसका दर्शन होता है कि कहीं आचार्य धर्म के विशुद्ध रूप का वर्णन कर रहे हैं और कहीं व्यावहारिक रूप का। प्रथम ही आधार है, द्वितीय तो कार्यार्थ है। इसीलिये कहीं तो वे परमेश्वर को अविद्या के काल में ही मानते हैं और कहीं उसे ही ब्रह्मरूप मानते हैं । निर्गुण और सगुण ब्रह्म के ही दो रूप हैं ।

शांकर विचार-सरणि उपनिषदों की भित्ति पर खड़ी थी। आगमों पर यद्यपि प्रपंचसार एवं सौन्दर्य लहरी में पर्याप्त प्रकाश डाला गया था पर उनका दार्शनिक विकास नहीं किया जा सका था । अतः शांकर शिष्य परम्परा के गृहस्थ शिष्यों ने इस ओर समधिक प्रयास किया । वसुगुप्त और सोमानन्द, जो काश्मीर में अद्वैतवाद के अप्रतिम प्रचारक थे, इसके प्रधान थे। अभिनवगुप्तपाद इसके सर्वोच्च शृंग थे यह निर्विवाद है । आचार्य विद्यारण्य ने जिस प्रकार पंचदशी से वैदिक परम्परा को सर्वसुलभ कर दिया, उसी प्रकार श्रीविद्यार्णव से आगम परम्परा को भी सरल बना दिया । उनकी सूतसंहिता की टीका तो दोनों के समन्वयात्मक रूप समझने में आदर्श ग्रन्थ है । यह स्मर्तव्य है कि आचार्य शंकर भगवत्पाद ने सूतसंहिता को १७ बार पढ़ने के बाद ही भाष्यों का निर्माण प्रारम्भ किया था । अतः शांकर परम्परा का मूल ग्रन्थ उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

मध्यवर्ती काल में दक्षिण भारत में मीमांसा एवं उत्तर भारत में न्याय का प्राबल्य रहा । वैष्णव धर्म के प्रसार ने भक्ति को द्वैतपरक बना डाला और उसको इतना विकृत बना दिया कि वह वैदिक और आगम दोनों परम्पराओं से हट गई। इन सभी धाराओं का

प्रभाव अद्वैतवाद के प्रसार में पड़ा। वाचस्पति ने दार्शनिक क्षेत्र में जिस प्रकार अद्वैतवाद को अनुभव और साधन क्रम से विपरीत बना दिया वह तो विज्ञों को विदित ही है। कल्पतरुकार ने अतिसुन्दर रूप से उनका भेद बताते हुए कहा है 'स्वशक्त्या नटवद्ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत्। जीवभ्रान्तिनिमित्तं हि बभाषे भामतीपतिः।' जो परम शिव का विलास या आभास था वही जीव का बन्धन या माया बन गई। अन्ततोगत्वा अज्ञान या माया को सृष्टि का उपादान कारण भी माना जाने लगा जो शांकर सिद्धान्त के अत्यन्त विरुद्ध था।

काश्मीर में इन सिद्धान्तों का प्रवेश न हो सका। अतः वहाँ आगमों का अद्वैतवाद परिशुद्ध रूप से वृद्धि को प्राप्त होता रहा। इसको प्रत्यभिज्ञा या त्रिक दर्शन कहते हैं। पाश्चात्य लेखकों के प्रान्तीयतावाद ने इसे काश्मीरी शैव-दर्शन का नाम दिया है। वस्तुतः यह अद्वैतवाद ही है।

वर्तमान ग्रन्थ भगवान् शंकरभगवत्पादाचार्य द्वारा निर्मित है एवं उनके साक्षात् शिष्य भगवान् सुरेश्वराचार्य द्वारा मानसोल्लास नामक वार्तिक से विभूषित है। अतएव इसके परिशुद्धसिद्धान्तरूपता में मतभेद असम्भव है। वर्तमान अनेक ग्रन्थों में जो कमियाँ हैं वे इसमें नहीं हैं यह हमने व्याख्या में दिखाने का प्रयत्न किया है। कई लोग इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ग्रन्थ मानेंगे। परन्तु इस ग्रन्थ का निर्माण वेदान्त सूत्रों के अधिकरण क्रम से है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन आगम और शिवसूत्रों पर आधारित है। सैद्धान्तिक एकता तो स्वतः सिद्ध है।

श्री गोपीनाथ कविराज के अन्वेषणों से यह निश्चित हो चुका है कि वेदान्त का प्राचीनतम रूप शिवाद्वयवाद या ईश्वराद्वयवाद ही था। शंकरभगवत्पाद का महान कार्य था उसमें से विशुद्ध धर्म को मथ कर निकालना अतः उन्होंने तत्त्व-मीमांसा आदि का सार्वभौम रूप ही आकर ग्रन्थों में रखा। न्याय या कापिल मान्यताओं को भी तत्तदभिमत रूप से अभ्युपगत कर लिया। परन्तु उनकी शिष्य परम्परा में साधन क्रम एवं आधारभूत धार्मिक व दार्शनिक मीमांसा में शिवाद्वयवाद की

प्रधानता बनी रही एवं प्रधान पीठों में आज तक अक्षुण्ण है। तथापि दार्शनिक पण्डितों ने इस से अनवगत होने के कारण इसका तिरस्कार कर के मनमानी प्रक्रियाओं का अनावश्यक बोझ वेदान्त पर डाला। आज आवश्यकता है कि हम इस बात को समझें। इस ग्रन्थ से यह स्पष्ट हो जाता है।

किंच वेदान्त दर्शन के साधन क्रम का आधार वैदिक कर्म आज नष्ट-प्राय है। प्राचीन परिपाटी से वर्णाश्रम धर्म भी उच्छिन्न-सा है। अतः आवश्यक है कि हम मानवमात्र सम्बन्धी साधन क्रम को प्रधानता दें। आगमों में ही हमें यह मार्ग दर्शन मिलता है। शैव धर्म अति प्राचीन काल से सार्वभौम धर्म रहा है। जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, लिंग आदि सभी भेदों में भिन्न होता हुआ भी अभिन्न बना रहता है। व्रात्य और पंचमों को भी इस में स्थान है। 'चाण्डालानपि दीक्षयेत्' शैवागम का ही उद्घोष है। पर बौद्ध आदि की तरह यहाँ वेद और वर्णाश्रम का विरोध नहीं वरन् सभी को यथा योग्य स्थान दिया गया है और एक समन्वय उपस्थित है। शंकरभगवत्पाद ने ब्रह्मसूत्रों में ज्ञान में सर्वाधिकार स्वीकार करके आश्रमाधिकरण एवं विधुराधिकरण में जो व्यवस्थित विकल्प किया है वह शैवागमों की ही दृष्टि है। बुद्ध के जन्म के कई सहस्रों वर्ष पूर्व से यह विश्वभर में फैल चुका था। कोरिया व मंगोलिया, चीन व जापान, रूस व मिश्र, रोम व यूनान, अमेरिका व अफ्रीका, इण्डोनेशिया व आस्ट्रेलिया सर्वत्र शैव धर्म के ध्वंसावशेष पुरावेत्ता प्राप्त कर चुके हैं। आज हमें पुनः वैदिक धर्म के इस सार्वभौम रूप के प्रचार से विश्वभर में नव आलोक देना ही पड़ेगा। इस स्तोत्र में अत्यन्त संक्षेप से इसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

इस परम्परा का सम्बन्ध विशेषतः श्री दक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय से रहा है। गुरु परम्परा में स्वयं भाष्यकार श्री दक्षिणामूर्ति पीठ पर आरूढ़ रहे हैं एवं उन्हें मुखरदक्षिणामूर्ति ही माना जाता है। इस पीठ की प्रधानता समन्वय दृष्टि रही है। आगम व निगम दोनों के समन्वय

से ही भाष्यकार सर्वज्ञ और जगद्‌गुरु कहे जाते हैं। हमें इस स्थल पर एतद्विषयक अधिक विचार करना इष्ट नहीं। इसके विद्यापरम्परा की विशेषताओं का निदर्शन एक स्वतंत्र ग्रन्थ का विषय है।

यद्यपि इस ग्रन्थ पर अनेक टीकायें हुई हैं पर उनमें प्रायः त्रिकदर्शन के अज्ञान से खींचतान के अर्थ किये गये हैं। हमारे ही पीठ के अनन्त श्री महामण्डलेश्वर स्वामी अमरेश्वरानन्द जी ने इस पर सरल हिन्दी में वृत्ति लिखी थी। पर वह अब सर्वथा दुर्लभ है एवं उसकी शैली अर्वाचीन लोगों के लिये अनुपयुक्त है। फिर भी ७० वर्ष पूर्व अहमदाबाद से प्रकाशित यह वृत्ति विज्ञों को अवश्य देखनी चाहिये। आंग्ल भाषा में महादेव शास्त्री और गुर्जर भाषा में प्रतापराय देसाई के द्वारा यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

हमारा विचार इस ग्रन्थ पर विस्तृत भाष्य लिखने का है परन्तु वर्तमान संस्करण में केवल मूल ग्रन्थ के शब्दार्थ मात्र बताने का उद्देश्य रखा है। स्वभावतः व्याख्या अति संक्षिप्त और दृष्टि से परिचय मात्र कराने में गतार्थ है। सहृदय मूल के भावों को हृदयंगम करेंगे, क्योंकि मूल को समझे बिना विस्तृत भाष्य अनुपादेय ही सिद्ध होगा।

नव वैदिक धर्म (Neo-Hinduism) के संस्थापक रूप से इस ग्रन्थ के मूल लेखक आचार्य शंकरभगवत्पाद का जीवन सारे संसार में सुपरिचित है। प्रायः १५०० वर्ष पूर्व सुदूर केरल में जन्म लेकर समग्र भारत में केवल विचार बल से बौद्ध धर्म का समूल नाश करके पुनः वेदसिद्धांत की स्थापना ही नहीं वरन् सर्वदा इसके संरक्षणार्थ दशनाम संन्यास संघ की स्थापना भी की। भाष्य आदि ग्रन्थों से वेद का युक्तिसिद्ध वर्णन प्रस्तुत किया। केवल ३२ वर्ष की वय में कैलास गमन किया।

मानसोल्लास के लेखक ने उत्तर भारत के मिश्र कुल में जन्म लेकर साक्षात् शंकरभगवत्पाद से श्रीपरमहंसदीक्षा ली एवं सुरेश्वराचार्य नाम

प्राप्त किया । बृहदारण्यक पर आपका वार्तिक वेदान्त शास्त्र में 'वार्तिकान्ता ब्रह्मविद्या' कह कर सम्मानित किया जाता है। इनका मीमांसा और न्याय का अध्ययन अपूर्व था एवं युक्तिवाद में (Polemics) इन्होंने नई परम्परा चलाई जो श्रीपरमहंस चित्सुखाचार्य के समय तक पल्लवित होती रही । आप वार्तिककार कहे जाते हैं । इस ग्रन्थरत्न में आपने समग्र वैदिक सिद्धान्त का जो रहस्योद्घाटन किया है वह अपूर्व है यह विज्ञ पाठक स्वयं देखेंगे ।

शिवाद्वयवाद और शाङ्कराद्वैतवाद

मूल ग्रन्थ को सम्यग्रूपेण समझने के लिये हमें इन दोनों धाराओं पर दृष्टिपात करना पड़ेगा । विषय क्रम से ही हम विचार प्रवृत्ति करेंगे ।

संसार के सभी व्यवहारों में ज्ञान और क्रिया से अतिरिक्त पदार्थ की उपलब्धि नहीं है। आभ्यंतर व्यवहार ज्ञान प्रधान हैं परन्तु प्रधानतः क्रियामूलक हैं। वाह्य व्यवहार इसके विपरीत ज्ञानमूलक एवं क्रियात्मक प्रधानतः हैं। ब्रह्मसूत्र वेदों के ज्ञानकाण्ड या आध्यात्मिक अंशों का विचार है और धर्मसूत्र कर्मकाण्ड या आधिभौतिक और आधिदैविक अंशों के विचार में गतार्थ है। ब्रह्मसूत्रकार के ही पट्टशिष्य धर्मसूत्रकार हैं, अतः दोनों का सिद्धान्तभेद तो परवर्ती मतवाद का फल ही मानना पड़ता है। वेद में तात्पर्य भेद का प्रतिपादन तो विषयभेद से स्वाभाविक है। परन्तु दोनों ही सूत्रों में उपासना का विचार आता है। कर्मगत उपासना ही चित्तैकाग्र्य के द्वारा ज्ञानान्तःपाती उपासना बन जाती है। इस उपासना के मूल में ज्ञान और क्रिया के भी आधाररूप से रहने वाली इच्छाशक्ति है । ज्ञान सर्वथा वस्तु के अधीन है और क्रिया का स्वरूप कर्ता के अधीन है। इच्छा ही वह स्वातन्त्र्य शक्ति है जो क्रिया को यह विलक्षणता देती है। इच्छा ज्ञान के विना संभव नहीं। अतः ज्ञान और क्रिया की संयोजिका ही इच्छा है। श्रद्धा इच्छाशक्ति का सत्त्वगुण के उत्कर्षकाल का रूप है। इसीलिये श्रद्धारहित क्रिया निष्फल मानी जाती है ।

वेद ने इस इच्छाशक्ति को ही जगत् का कारण माना है। 'सोऽकामयत' (बृ० १.२.४) 'स ईक्षत' (ऐत० १.१.१), 'स ईक्षाञ्चक्रे' (प्र० ६.३) 'तदैक्षत' (छा० ६.२.१) 'कामस्तदग्रे समवर्तत' (ऋ० १०.१२.६४) आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। स्वातन्त्र्य का विचार ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूल शिवसूत्रों की प्रधान देन है। परन्तु इसका मूल भगवान शंकरभगवत्पाद के ग्रन्थ ही हैं; इसका प्रबलतम-प्रमाण प्रत्यभिज्ञाहृदय का 'शाङ्करोप-निषत्सार-प्रत्यभिज्ञामहोदधेः। क्षेमेणोद्ध्रियते सारः संसारविषशान्तये ।।' (पृ० १६) है। [शंकर की उपनिषद् के सार प्रत्यभिज्ञा समुद्र का भी सार संसार रूपी विष की शान्ति के लिये क्षेम द्वारा निकाला जाता है।] उपदेश-साहस्री के प्रारम्भ में उसे स्वयं भगवान ही उपनिषद् कहते हैं। (पृ० १३७) अन्य कोई शांकरोपनिषद् कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। अतः प्रत्यभिज्ञा का मूल वहीं है।

इच्छा, ज्ञान और क्रियाएँ ही सभी दार्शनिक विचारों की अथ और इति है। इन तीनों का समन्वय ही अद्वैत है। इनमें से अन्यतम पर अधिक बल ही द्वैतदर्शनों का मूल है। हिन्दी के सर्वोच्च कवि जयशंकर 'प्रसाद', जो अर्वाचीन काल में शिवाद्वयवाद के प्रबल समर्थक रहे हैं 'इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे। दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।' (कामायनी पृ० १८६) कह कर इसका ही प्रतिपादन करते हैं।

ये तीनों शक्तियाँ किसी शक्तिमान् के ही आश्रित रह सकती हैं। और तीनों का अन्योन्याश्रय आश्रय की एकता का साधक है। जो जानता है वही तद्विषयक इच्छा करता है और जिसमें इच्छा है वही पुनः क्रिया में प्रवृत्त होता है। अतः तीनों का आधार ही शिव नाम से कहा जाता है। वेदान्त में सभी वाद माया का अधिष्ठान ब्रह्म को ही स्वीकार करते हैं।

शक्तिशिवात्मक ही जगत् है। शक्ति और शिव का भेद स्वीकार करने पर द्वैत-स्वीकृति हो जाती है। शक्ति को असत् मानने पर भी

यह द्वैतापत्ति निवृत्त नहीं हो सकती। अतः अद्वैत में दोनों का अनिर्वचनीय सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। इसको 'न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक्' (पंचदशी २.५३) [संसार में चैत्र और उसकी शक्ति के पृथक् उल्लेख के अभाव से] आचार्य श्रीपरमहंस विद्यारण्य अनुभव सिद्ध बताते हैं। भिन्नता अनुपलब्धि से असिद्ध है और अभिन्नता सुषुप्ति या प्रलय में अमान्य है। उभयरूपता तो सर्वथा असंगत है। पारिशेष्यात् अनिर्वचनीयता ही स्वीकार्य है।

माया को मिथ्या भी उपर्युक्त दृष्टि से ही वेदान्तों में प्रतिपादित किया है। अत्यन्त असत् यदि मिथ्या का अर्थ होता तो बौद्धदर्शन की शाखा शांकर अद्वैत बन जाता। 'मिथ्याशब्दो द्व्यर्थोऽपह्नववचनोऽनिर्वचनीयतावचनश्च' (पंचपादिका) से आचार्य प्रवर पद्मपाद स्पष्ट ही मिथ्या को अनिर्वचनीयता का पर्याय बताते हैं। परवर्तीकाल में लौकिक मिथ्या शब्द से पारिभाषिक मिथ्या शब्द के भेद को विस्मृत कर वेदान्ती और वेदान्त के समालोचक दोनों ही भ्रान्ति में पड़े हैं। कार्यात्मक जगत् में अपह्नववाची होने पर भी कारणात्मक माया में तो सर्वदा अनिर्वचनीयतावाची ही मिथ्या शब्द है। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य सम्बन्धवार्तिक (३७७–३९६) में प्रपंचविलयवादी का ऊहापोह से खण्डन करते हैं। विद्यारण्य तो अपह्नववादियों को पक्षाघात से पीडित भी कह देते हैं।

आधुनिक सम्प्रदायज्ञान से रहित पाण्डित्याभिमानी तो अनिर्वचनीयता का भी 'कह नहीं सकते' ऐसा अर्थ करके वक्तृगत दोष प्रतिपादन करते हैं। वेदान्त दर्शन में 'कहा नहीं जा सकता' [सदसद्भ्यां वैलक्षण्यम्] ऐसा अर्थ स्वीकृत होने से सम्बन्ध निर्वचन करने वाला वस्तु प्रतिपादक ही यह शब्द माना जाता है, वक्ता के ज्ञान सामर्थ्य का अभाव प्रतिपादक नहीं। इसे सन्देहवाद (agnosticism) कहना तो सर्वथा हास्यास्पद है। नवीन शब्दशास्त्र (Scmenticism) का अध्ययन संभवतः हमारे उच्छिष्ट भोजी आधुनिकों को अर्थ के अनर्थ करने से प्रतिमुख कर सके !

ठीक इन्हीं शब्दों में प्रत्यभिज्ञादर्शन भी माया के सम्बन्ध का निर्देश करता है। 'असती अपि सत्यवदाभासयन्ती मदीया शक्तिः' (सर्वतोभद्र पृ० १६५) [न हुई भी हुई की तरह प्रकाश करने वाली माहेश्वरी शक्ति] मिथ्या प्रतिपादक वाक्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। इसी शक्ति से ब्रह्म जगत् विमर्श करता है। यही उसका स्वातन्त्र्य है। 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' (प्रत्यभिज्ञाहृदय. २) के अनुसार अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणता ही अद्वैत में सर्वदा स्वीकृत है।[1] एवं यह मिथ्या माया के द्वार से ही संभव होने से प्रत्यभिज्ञा दर्शन को भी स्वीकृत है।

परवर्ती वेदान्त दर्शन में वाचस्पति मिश्र ने मण्डन के पृष्ठसेवी बनकर जो भाष्यसम्प्रदाय में मतद्वैध लाया उसी के फलस्वरूप प्रकाशानन्द ने स्वकृत वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली में सर्वशः साङ्ख्यवाद का आश्रयण कर लिया। शिवाद्वय परम्परा के उल्लङ्घन का फल द्वैतवाद में पतन तो स्वाभाविक है।

ऐतिहासिकदृष्ट्या वेदान्त में पूर्व-पूर्व आचार्य पर-पर आचार्यों की अपेक्षा ब्रह्म की कारणता में माया का न्यून-न्यूनतर हस्तक्षेप स्वीकार करते हैं। सूत्रकार ने तो ज्ञेय ब्रह्म की प्रतिज्ञा के बाद उसका लक्षण ही जगत्कारण रूप से किया है। भगवान् भाष्यकार के प्रमुख सिद्धान्त अध्यासवाद का यही लक्षण आधार है। 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १.१.१.२) के भाष्य में 'जन्म-स्थिति भंगंयतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्म' [जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारण

---

१. तुलसीदास भी शिवाद्वय के प्रभाव से विनय-पत्रिका में 'केशव कहि न जाई' कह गये। परन्तु वैष्णव मत पर बौद्ध छाया का प्रमाण भी 'शून्य भित्ति पर' लिख कर दे गये। वैदिकों में तो ब्रह्म ही भित्ति है। द्र० योगवासिष्ठ में 'रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला। तथा त्रैलोक्यखचितं ब्रह्मैव प्रविदृश्यताम्।।' एवं चित्रदीप प्रकरण।

से जन्म, संरक्षण और नाश होते हैं वह ब्रह्म है।] कहकर स्पष्ट ही शुद्ध ब्रह्मकारणता का समर्थन किया।

बौद्धिक विचार श्रद्धा की न्यूनता से शुद्ध ब्रह्म में कारणता स्वीकार नहीं कर पाता। अतः ब्रह्मा के अवतार भगवान् सुरेश्वराचार्यों ने वेदान्त को यौक्तिक नींव पर दृढ़ करने के निमित्त शुद्ध ब्रह्म में अज्ञान निमित्तक करणता का साधन किया। उसी को सिद्धान्त के प्रौढ आचार्य सर्वज्ञात्म महामुनि ने 'अज्ञान-तज्जघटना चिदधिक्रियायाम् द्वारं परं भवति नाधिकृतत्वमस्याः' (सं० शा० १.५५५) [अविद्या और उसके कार्य का अध्यास जगत् के प्रति ब्रह्म में उपादानत्व के सम्पादन में निमित्तमात्र है।] कह कर द्वार कारण मात्र ही स्वीकार किया। वास्तविक कारणता तो उन्होंने भी 'तस्माद्युक्ता योनिता चेतनस्य' (सं० शा० १.५४७) एवं 'स्वात्मानमेव जगतः प्रकृतिं यदेकं सर्गे विवर्तयति तत्र निमित्तभूतम्। कर्माकलय्य रमणीय कपूयमिश्रं पश्यन्नृणां परिवृढं तदितीर्यमाणम्॥' (सं० शा० १.५५०) [अतः चेतन में ही कारणता उचित है। एवं संसार की उत्पत्ति में एक निमित्त-भूत चेतन ही जीवों के पुण्य, पाप और मिश्र कर्मों की समालोचना करके स्वयं ही चेतन प्रकृति रूप होकर जगदाकार से परिणत होता है।] आदि के द्वारा स्पष्ट ही शुद्ध ब्रह्म में ही स्वीकार की है।

आचार्य प्रकाशात्म श्रीचरण भी 'तस्माद् ब्रह्मैव स्वमाययाऽविद्याया विवर्तते' (पंचपादिका विवरण) कहते हैं। सम्प्रदाय के इन सभी आचार्यों ने अज्ञान को निमित्त मात्र स्वीकार किया, कारणता तो ब्रह्म में ही प्रतिपादित की। अप्पय दीक्षितेन्द्र ने 'अकारणमपि द्वारं कार्येऽनुगच्छति। मृद इव तद्गतश्लक्ष्णत्वादेरपि घटेऽनुगमन-दर्शनात्' (सिद्धान्त लेश संग्रह १.२५) [माया कारण न होने पर भी कार्य में, मिट्टी की चिकनाहट के घट में रहने की तरह, अनुवृत्त है।] कह कर इस दृष्टि को सुस्पष्ट कर दिया है। माया अद्वैतवाद में प्रायः अन्यथासिद्ध कारण से अधिक महत्त्व नहीं रखती। 'कल्पयत्यात्मना-त्मानमात्मा देवः स्वमायया।' (गा० का० २.१२) [आत्मा अपनी

माया के द्वार से अपने आप को कल्पित करता है ।] के द्वारा आचार्य-प्रवर भगवान् गौडपाद इसी का निर्देश करते हैं । यहाँ आत्मना स्वमायया से माया और आत्मा में भेदभ्रम की निवृत्ति ही इष्ट द्योतित की है ।

यह माया ही वाचस्पति मिश्र के हाथों में सहकारी कारणता में परिवर्तित हो गई । शिवाद्वयवाद के स्थान पर द्वैतवादी साङ्ख्य इतः पर वेदान्त को अनुप्राणित करने लगा । 'विद्यास्वभावे ब्रह्मणि तदनुपपत्तेः' (भामती) [ज्ञानात्मक ब्रह्म में माया स्थिति युक्तियुक्त नहीं है ।] कह कर ब्रह्म में निर्गुणता सिद्धि के प्रयास में औडुलोमि के मत का पोषण होने पर माया में ब्रह्म से सद्वितीयता आ गई, यद्यपि मिथ्या होने से समानसत्तावाला द्वैत तो यहाँ भी नहीं है ।

वाचस्पति के मत का पूर्ण स्फुटन प्रकाशानन्द स्वामी ने 'ब्रह्माज्ञानाज्जगज्जन्म ब्रह्मणोऽकारणत्वतः' (सिद्धान्त मुक्तावली ३८) [ब्रह्म-विषयक अज्ञान ही जगत्प्रतीति में हेतु है क्योंकि ब्रह्म कारण नहीं है ।] कहकर किया । इस माया-कारणतावाद में ब्रह्म की निष्क्रियता का संरक्षण तो हुआ पर प्रधान और माया प्रायः समानार्थक हो गये । 'दृश्यत्वाद्यनुमानसिद्धानिर्वचनीयस्य जगतोऽनाद्यनिर्वचनीयाऽविद्यैव कारणम्, न ब्रह्म' (तत्र) में उन्होंने न केवल जगत्कारणता में श्रौत-प्रामाण्य का निराकरण करके अनुमान प्रामाण्य प्रदर्शन करने में भाष्य-मत की अवहेलना और साङ्ख्य व न्याय के अर्धनास्तिक मत को पुष्ट किया वरन् ब्रह्म से कारणता हटाकर सूत्र और भाष्य की संगति को ही खो दिया ।

इसी कारण भामती प्रस्थान में 'जीवाश्रया ब्रह्मपदाह्यविद्या तत्त्वविन्मता' के द्वारा माया के आश्रय में भी नवीन धारा प्रवृत्त की गई । शांकराद्वैत में माया का आश्रय ब्रह्म था, पर नवीन मत ने जीव को स्वीकार किया । शिवाद्वयवाद तो स्पष्ट ही 'आश्रयत्व-विषयत्व-भागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' (सं० शा० १.३१९) की

तरह सदाशिव के ही आश्रयत्ववाद का समर्थन 'शिवस्य तु मायाया अधिष्ठातृता' (शैवपरिभाषा २) आदि से करता है।

जीवाश्रित माया की स्वीकृति से सृष्टि प्रयोजन भी भिन्न हो गया। 'नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्वं' (सूत्रभाष्य पृ० ३९२) के द्वारा जो नट की तरह खेल के आनन्द के लिये था वह जीवों के बन्धन का हेतु बन गया। 'स्वशक्त्या नटवद्ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत्। जीव भ्रान्ति-निमित्तं तद्‌बभाषे भामतीपतिः॥' (कल्पतरु) में अमलानन्दस्वामी ने इन दोनों दृष्टियों का संग्रह कर लिया है। बन्धन और मोक्ष दोनों का विषय ब्रह्म न रहकर जीव बन गया। अतः संसार आनन्दस्वरूप न रहकर दुःखरूप बन गया।

परवर्ती वेदान्ती जितना ही ब्रह्म को निष्क्रिय व निर्गुण सिद्ध करने का प्रयास करता है, उतना ही द्वैत खिल उठता है। श्रुति सिद्धान्त में द्वैत से ही 'द्वितीयाद्वै भयं' (बृ० १.४.२) 'नेहनानास्ति' (बृ० ४.४.१९) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ० ४.१०) परहेज बताया है। अनिर्वचनीयतावाद से ही अद्वैत ब्रह्म ही नहीं निर्गुणता की भी सिद्धि संभव है। शक्तिरूपता से जहाँ दृष्टि हटी वहीं द्वैतवाद का प्रवेश हुआ। अपनी शक्ति कभी द्वितीय नहीं हो सकती।

शिवाद्वय की प्रत्यभिज्ञादर्शन वाली धारा इस द्वैतधारा से सर्वथा अस्पृष्ट रही। इसने परवर्त्ती काल में कहीं-कहीं शांकराद्वैत को माया-वाद कहकर जो द्वैतता का लाञ्छन लगाया है वह प्रधानधारा पर न होकर प्रधानवाद-प्रभावित धारा पर ही है। साम्प्रदायिक दृष्ट्या दण्डी संन्यासी दार्शनिक दृष्ट्या भामती प्रस्थान के अनुयायी बन गये और उसका विरोध प्रत्यभिज्ञादर्शन ने किया। शांकराद्वैत की प्रधान धारा साम्प्रदायिक दृष्ट्या श्रीपरमहंसों में अद्यावधि अक्षुण्णरूपेण प्रवा-हित हो रही है और इसका प्रत्यभिज्ञा से समर्थन ही होता है। आधुनिक विशृंखलित काल में साम्प्रदायिक परम्पराओं में कुछ मिश्रण होना तो सहज ही है।

तत्त्वमीमांसा शैवदर्शन की संसार को एक अपूर्व देन है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इससे सुन्दर, समन्वयात्मक और पूर्ण विचार किसी भी विश्वदर्शन में नहीं मिलता। प्रत्यभिज्ञा भी इन ३६ तत्त्वों को स्वीकार करता है। शांकरतत्त्वमीमांसा दार्शनिक दृष्ट्या पूर्ण है और उसमें ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व स्वीकृत है। प्रत्यभिज्ञा भी परमार्थत: एक ही तत्त्व स्वीकार करके 'स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपंचकस्वभाव:' (प्रत्यभिज्ञाहृदय ७) एवं 'शिवतत्त्वं एकं वस्तु सत्' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी ३.१.२) दोनों का समन्वय प्रस्तुत करती है। परमार्थत: एक ही पुन: व्यवहारकाल में अनेक उपाधियों से भिन्न बनता है यह सूत्रभाष्य में ज्योतिरधिकरण में स्पष्ट कहा गया है। यद्यपि सभी शैवदर्शनों में तत्त्वसंख्या इतनी ही है पर तत्त्वभेद का अनाग्रह और अपारमार्थिकत्व, एवं सदाशिव की पारमार्थिकता का आग्रह और सर्वतत्त्वों का व्यक्तीभवनाश्रयता-स्वीकृति प्रत्यभिज्ञा को वैदिक अद्वैत से अभिन्न सिद्ध करता है।

शांकर अद्वैत में ज्ञानसाधना का गुरुभक्ति से अनन्य सम्बन्ध माना गया है। वस्तुत: श्रुति में ही हमें पर्याप्त प्रमाण मिल जाता है कि गुरु के बिना ज्ञान दुर्लभ है। 'स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (मु० १.२) 'आचार्याद्धैव विद्या (छा० ४.१.३) 'तथा गुरौ' (श्वे० ६.२३) इत्यादि वाक्यों में स्पष्टत: गुरु के द्वारा ही ज्ञान प्राप्ति की संभावना का निर्देश है। इसी का विस्तार भाष्यकारों ने करते हुए 'शास्त्रज्ञोपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणन्न कुर्यात्' (मु० भा०) के द्वारा गुरु के बिना ज्ञान प्राप्ति को असंभव बताया। भगवान विष्णु के अवतार आचार्य पद्मपादों ने भी 'सिद्धान्तोपदेशकगुरूणां असंगात् अलाभात् मुक्तिर्जीवस्य दूरत:।' (विज्ञानदीपिका २६) एवं वार्तिककारों ने भी इसी का प्रतिपादन किया। श्रीपरमहंस सर्वज्ञात्मगिरि भी 'यदीय सम्पर्कमवाप्य केवलं वयं कृतार्था:' (सं० शा० १.८) कहकर गुरुकृपा मात्र को पर्याप्त बता रहे हैं। ज्योतिर्मठ के आद्याचार्य श्रीपरमहंस आनन्दगिरि तो केवल गुरुकृपा से तोटकाचार्य बन गये। अद्यावधिपर्यन्त श्रीपरमहंस

सम्प्रदाय में गुरु ही ज्ञानार्थ पर्याप्त माने जाते हैं एवं गुरु के विना श्रवण की असंभवता से ज्ञान भी असंभव ही हो जाता है। गुरु सिद्धदेह से भी उपदेश करते हैं यह बात दूसरी है।

यह स्तोत्र तो श्रीदक्षिणामूर्ति को गुरुमूर्ति रूप से ही पूज्य बताता है। दोनों का अभेद ही इष्ट है। अतः श्रीदक्षिणामूर्ति वैदिक सम्प्रदाय में तो गुरु का अतिविशिष्ट स्थान है। यहाँ तो 'त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयणं विना मे सन्नप्यसन्निव परः पुरुषः पुरासीत्। त्वत्पादपद्मयुगलाश्रयणादिदानीन्नासीन्न चास्ति न भविष्यति भेदबुद्धिः।' (सं० शा० ४.५८) गुरु के चरणों के सहारे के विना परमेश्वर होते हुए भी नहीं के समान था क्योंकि जाने विना पदार्थ अभाव-सा ही व्यवहार में रहता है। और गुरु चरणकमलों के आश्रय लेने पर द्वैत-धी का त्रैकालिक अत्यन्ताभाव हो गया। इसी परम्परा के अनुकूल प्रत्यभिज्ञादर्शन के आचार्य उत्पलदेव विना गुरु के परमेश्वर की अज्ञातता का साहित्यिक वर्णन करते हुए 'तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोप्यन्तके कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा। लोकस्यैष तथा नवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो नैवालन्निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता।' (प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति ४.१७) कहते हैं कि दूतियों द्वारा नीत नायिका सर्वगुणसम्पन्न पति को देखकर भी उसे न जानकर उससे आनन्द प्राप्त नहीं करती। इसी प्रकार अन्तःस्थित ब्रह्म भी अज्ञेय होने से आनन्दप्रद नहीं होता। गुरु जब 'तत्त्वमसि' से निर्देश करता है, तभी 'यत्साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म' को जानकर वह कृतार्थ हो जाता है। भाष्यकार के 'शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मनः (गीभा पृ० ५५) एवं 'आचार्यागमसंस्कृतेन मनसा' (कठभाष्य पृ० ८६) का ही यह वार्तिक श्लोक प्रतीत होता है।

उत्पलदेव की आलङ्कारिक भाषा का सौन्दर्य दृष्टव्य है। अभिनवगुप्तपादों के हाथों में कला और दर्शन का धर्म से जो अपूर्व-समन्वय हुआ वह विश्व में कहीं भी नहीं मिलता। अद्वैत की यह धारा ही हिन्दी के सर्वोच्च कवि जयशङ्करप्रसाद की जननी है। दुःख है कि

प्रसाद के पश्चात् ही हिन्दी में 'कवि' नष्ट होकर केवल दलबन्दी करने वाले राजनीतिज्ञ ही इस पद को अपनाने लगे हैं। यदि हिन्दी को वास्तविक रूप से राष्ट्रभाषा बनना है तो कानून और नारों के बल से नहीं, ठोस भारत की शुद्ध वैदिक और आगमिक धाराओं का अध्ययन करने वाले साहित्यस्रष्टा उत्पन्न करने होंगे। अन्यथा घासलेटी साहित्य को जनसाहित्य के नाम से प्रसार करके सस्ती और अल्पजीविता भले ही हिन्दी को प्राप्त हो जाय, राष्ट्र भाषा का पद तो दुर्लभ ही रहेगा। परम्पराहीन साहित्य चिरंजीवी नहीं हो सकता । न उच्छिष्ट साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य ही कहा जा सकता है।

अनेक भारतीय विचारक पाश्चात्य देशों में सौन्दर्य और दर्शन का सम्बन्ध देखकर भारतीय दर्शन में इस कमी का निर्देश करते हैं। पर यह आङ्गल भाषा में अननुवादित प्रत्यभिज्ञादर्शन विषयक उनके अज्ञान का ही पुष्ट प्रमाण भले ही हो, भारतीय दर्शन की कमी का नहीं। हमारे आचार्यवृन्द कला के सिद्धान्तों के प्रतिपादन की अपेक्षा कला-निर्माण के द्वारा अपने सिद्धान्तों के निर्देश में अधिक विश्वास करते थे। धार्मिक साहित्य और स्थापत्य एवं नृत्य और संगीत आदि सभी भारत में कलापूर्ण रहा है। जीवन में आस्तिक भाव से प्रवृत्त धर्म ही कला का केन्द्र होता है। सत्यं और शिवं के साथ सुन्दरम् भी हमारा आदर्श है। यदि आत्मा से हमें सत्यं का स्फुट ज्ञान होता है और महेश्वर से शिवं का तो चितिशक्ति ही सौन्दर्य का मूल भी सिद्ध होती है। उनके तात्त्विक अभेद में ही शिवाद्वयवाद और शाङ्कराद्वैत दोनों की निष्ठा है। हमारे वैदिक दर्शन के सौन्दर्य सिद्धान्त (aesthetics) की इसी अद्वैतवाद में गतार्थता है।

परवर्तीकाल में यद्यपि नास्तिकधारा के प्रभाव में प्राचीन हीनयानी बौद्ध और दिगम्बर जैनों ने निवृत्ति प्रधान धर्म की स्थापना की एवं उसके फलस्वरूप सौन्दर्य की अवहेलना होने लगी पर अन्ततोगत्वा वैदिक धारा से प्रभावित होकर अर्वाचीन महायानी बौद्ध और श्वेताम्बर जैनों ने पुनः सौन्दर्य के महत्व को समझकर स्वधर्म में

साहित्य, स्थापत्य आदि को स्थान देकर जो अपूर्व प्रगति की वह विपश्चितों से अपरिचित नहीं है।

वैदिक धर्म की मुख्य धारा तो आजतक सौन्दर्य के प्राधान्य पर बल देती रही है। वैसे प्राकृतिकता हमारे सौन्दर्य के मानदण्ड का आश्रय रही है, और कृत्रिमता को हमने सर्वदा हेय समझा है। इसीलिए आज के कृत्रिम सौन्दर्य को तो हम हेय ही समझते हैं। शांकर सिद्धान्त ने तो रस और ब्रह्म के अद्वैत के वैदिक सिद्धान्त पर ही अपने सौन्दर्य शास्त्र का निर्माण किया है। यह अभेद दर्शन ही अद्वैत की विश्वदर्शन को अतिविशिष्ट देन है। अभिनव, अप्पय, जगन्नाथ, कय्यट, माधव आदि ने तो सैद्धान्तिक ग्रंथों (Critique of Aesthetics) के निर्माण से भी इस पक्ष का पोषण किया है। कलात्मक रचनाएँ तो प्रायः शिवाद्वय से ही प्रभावित रही हैं। कालीदास, श्रीहर्ष, बाणभट्ट आदि साहित्यकार शैवमत के ही रहे हैं। कविकुल चूडामणि कालीदास शिवाद्वयवादी और कविदार्शनिक श्रीहर्ष शांकराद्वैतवादी तो साम्प्रदायिक दृष्ट्या रहे हैं एवं श्रीमाली ब्राह्मण होने के कारण कविता कान्त माघ तो जन्म से ही शैव थे। दक्षिण भारत में तो विल्वमंगल जैसे विष्णुभक्त भी सोमगिरि के शिष्य थे एवं 'शैवा वयं न खलु तत्र विचारणीयः, पंचाक्षरीजपपरा नितरांस्तथापि।' (कृष्णकर्णामृत) [हम शैव हैं और ॐ नमः शिवाय का नियमतः जप करते हैं, इस विषय में विद्वान कोई सन्देह न रखें। फिर भी विष्णु का ध्यान भी हमें सहज प्राप्त है।] कहने वाले शैव थे। तामिळ भाषा तो शैवाचार्य ज्ञान संबंधर एवं माणिक्य की रचनाओं से ही विश्व भाषाओं में पूज्य स्थान प्राप्त कर चुकी है। इसी धारा के वर्तमान लेखकों में प्रसाद का मान्य स्थान है।

इस प्रकार दर्शन और साहित्य दोनों क्षेत्रों में शैवधर्म का विशिष्ट स्थान रहा है। मध्ययुग में यद्यपि वैष्णव धारा से प्रभावित रचनाएँ उत्तर भारत में प्रधानतया हुई पर इसीलिये उनमें या तो अश्लील श्रृंगार प्रधान हो गया या शुष्कता आ गई। सामरस्य का भाव दूर

होते ही कला विशृंखल होकर वास्तविक सौन्दर्य से दूर हो जाय यह स्वाभाविक है। यह प्रसक्त विषय पर विचार यहीं शेष करते हैं। विशिष्ट अधिकारपूर्ण विद्वान् इधर अन्वेषणात्मक कार्य में प्रवृत्ति करें तो अनेक सूत्रों का पता लग सकेगा। परन्तु इसके लिये गुरु परंपरा से अध्ययन आवश्यक है।

गुरु और ज्ञान का कारण-कार्यात्मना अभिन्न सम्बन्ध भी दोनों सम्प्रदायों का एकत्व प्रतिपादक है। अभिनवगुप्त तो 'पुस्तका-धीत-विद्याश्च गुरुक्रमविवर्जिताः। आचरन्तो दिशन्तश्च पच्यन्ते नरके चिरम्।' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी ४.१) [गुरुपरम्परा से रहित पुस्तक से पढ़े हुए लोग सिद्धान्त का आचरण अर्थात् मंत्रजप, पूजन आदि एवं उपदेश करने वाले चिरकाल पर्यन्त नरक में भोग करते हैं।] कहकर 'असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेवो-पेक्षणीयः' (गी० भा० पृ० ३७०) [सारे शास्त्रों का ज्ञाता भी असाम्प्रदायिक होने पर मूर्ख की तरह उपेक्षणीय होता है] इस भाष्यपंक्ति का ही स्पष्ट उपोद्बलन करते हैं। यह गुरु परम्परा आजकल के गुरुडम से भिन्न है, यह तो स्पष्ट ही है। 'यो नो न्यायशलाकयैव निखिलं संसारबीजन्तमः प्रोत्सार्याऽऽविरकारबोद् गुरुगुरुः पूज्याय तस्मै नमः।' (नैष्कर्म्य सिद्धिः ४.७७) [सम्पूर्ण संसार के बीजरूप अज्ञानान्धकार को न्यायरूपी शलाका से हटाकर शिवबोध को हृदय में प्रकट करने वाले ही वास्तविक गुरु हैं। उन पूज्यों के प्रति सर्वस्व-समर्पणात्मक नमस्कार है।] कह कर भगवान सुरेश्वराचार्यों ने स्पष्टतः गुरु का लक्षण कह दिया है। अतः ऐसे गुरु के बिना शिवज्ञान की संभावना दोनों ही अद्वैतसम्प्रदायों को स्वीकृत नहीं। ज्ञान का प्रधान आश्रय गुरु ही है क्योंकि साधना, मंत्र, वेद, युक्ति, कृपा आदि सभी उसके द्वार से ही हैं। हमारे पूर्वाचार्य अनन्त श्री स्वामी नृसिंहगिरि जी 'कमल को जलरहित स्थल में सूर्य सुखाता है पर जलस्थ पद्म का पोषण करता है' के दृष्टान्त से गुरुकृपा प्राप्त ही जीव शिव के द्वारा पोषित होता है यह सिद्ध किया करते थे। प्रस्तुत वार्तिक में तो इस

का युक्ति युक्त पोषण किया ही गया है। आजकल के स्वयं ज्ञानियों का अद्वैत सिद्धान्त में कोई भी स्थान नहीं है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का दार्शनिक दृष्ट्या विद्या और अविद्या दोनों को शिव के अधीन मानना एक प्रधान और अद्‌भुत सिद्धान्त माना जाता है। परन्तु शांकराद्वैत भी ब्रह्म को ही बन्धन और मोक्ष का आश्रय स्वीकार करता है।

प्रत्यभिज्ञा सदाशिव ज्ञान को सर्वथा नवीन ज्ञान न मानकर प्राचीन संस्कार और नवीन अपरोक्ष की लक्षणा से ही अभेदानुभव का प्रतिपादन करती है। प्रत्यभिज्ञा नाम इसी सिद्धान्त के कारण रखा गया है। परन्तु इसका भी मूल शाङ्करभाष्य में ध्वनित है। 'सर्वात्मत्त्वाच्च ब्रह्मास्तित्त्व प्रसिद्धि······तद्विशेष प्रति विप्रतिपत्ते:' (ब्र. सू. भाष्य) [सब में 'मैं' रूप से ब्रह्म-सत्ता सिद्ध है अतः उसके विशेष ज्ञान सम्बन्धी ही मतभेद स्वीकार्य हैं।] के द्वारा जो आधार शिला भगवान शंकर भगवत्पाद रख गये थे उसी पर प्रत्यभिज्ञा का आकाश चुम्बी मन्दिर खड़ा किया गया है।

वस्तुतः दर्शनशास्त्र की दृष्टि से न तो सर्वथा अज्ञात की जिज्ञासा संभव है और न सर्वथा ज्ञात की ही जिज्ञासा की जाती है। सामान्येन ज्ञात की विशेषेण जिज्ञासा संभव है। इस विषय पर प्रकाशात्म श्रीचरण और विवरण प्रस्थानुयायियों ने एवं वाचस्पति मिश्र और भामती-प्रस्थानुयायियों ने गम्भीर विचार कर अनेक प्रमाणविषयक दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाया है जो अद्वैत दार्शनिकों की विश्वदर्शन को अद्‌भुत देन है। इस विषय में मूल ग्रन्थों का अध्ययन विचारकों को कर्तव्य है, यहाँ तो धर्म सम्बन्धी इसके माहात्म्य पर ही विचार उपयुक्त है। शिवाद्वयवाद और शांकराद्वैत दोनों ने प्रत्यभिज्ञा के बल से धर्म को ठोस अनुभव और युक्ति के आश्रय पर खड़ा कर दिया। संसार के सभी मत और मजहब अज्ञात ईश्वर के प्रतिपादन से प्रारंभ करते हैं। यह ईश्वर केवल श्रद्धाबल से सिद्ध किया जाता है। नैयायिक, आदि जो प्रमाण ईश्वरसिद्धि में देते हैं उन्हें मीमांसा दर्शन में आचार्य शबर

स्वामी और भट्ट कुमारिल ने विस्तार से बाधक प्रमाणों द्वारा ग्रस्त सिद्ध कर दिया है। एवं नास्तिक दर्शनकारों द्वारा ईश्वर खण्डन की युक्तियों को आस्तिकों ने तर्क की कसौटी पर कस कर दुष्ट सिद्ध कर दिया है। अतः ईश्वर की सिद्धि और असिद्धि दोनों ही विवाद-ग्रस्त और अनिर्णीत हैं। अतः ईश्वर की सन्दिग्ध सत्ता को लेकर धर्म आधुनिक युग की विचारधारा में प्रमुख स्थान प्राप्त कर सके यह संभव प्रतीत नहीं होता।

अतएव भगवान भाष्यकार वेदों की दृढ़ भूमिका पर आरूढ़ होकर अनुभव प्रमाण के आधार पर चलते हैं एवं सार्वजनीन अनुभूत आत्मा को ही धर्म का आधार बनाते हैं। सूत्रों में यद्यपि ब्रह्म को जगद्योनि बताकर ही विचार प्रवृत्त किया गया था एवं उसीको फिर आत्मा से अभिन्न सिद्ध किया था; तथापि भाष्य में अध्यासभाष्य के द्वारा सर्ववादि-प्रत्यक्ष आत्मा का ही विचार प्रथम प्रवृत्त कर उसे ब्रह्मरूप से सिद्ध करने की नवीन प्रणाली चलाई। उनके परमगुरु भगवान गौडपादाचार्यों ने भी माण्डूक्य उपनिषद् को प्रधानता इसीलिये दी कि उसमें 'अयमात्मा ब्रह्म' के द्वारा आत्मा को उद्देश्य करके ब्रह्म का विधान है।

प्रायः लोग आत्मा को सर्वथा अज्ञेय मानते हैं और अज्ञात तो सभी वादी मान लेते हैं। अतः ध्यान आदि के द्वारा उसका नवीन ज्ञान बताते हैं। परन्तु 'न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्' (अध्यासभाष्य) [मैं प्रतीति का विषय होने की वजह से आत्मा बिलकुल अविषय नहीं है।] से भाष्यकार उसे अज्ञात स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार सहृदय-हृदय को ज्ञात से अज्ञात का बुद्धिगम्य उपदेश देकर आमोद देते हुए आधुनिक युग के अनुरूप वैज्ञानिक धर्म-सरिणी का प्रवर्तन करते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा ज्ञात है तो भी संसार बन्धन है अतः आत्मज्ञान निरर्थक सिद्ध होगा। उत्तर है कि ईश्वरत्वेन अज्ञात है, चेतनत्वेन ज्ञात है। वृक्षत्वेन ज्ञात आम्रवृक्ष भूख की निवृत्ति

आम्रत्वेन ज्ञात होने पर ही कर सकेगा। इसी प्रकार भूमानन्दत्वेन ज्ञात आत्मा ही शोक-मोहनिवर्त्तक है। अतः श्री परमहंस आनन्दगिरि 'अस्मदर्थश्चिदात्मा साक्षितया प्रतियते प्रतिबिम्ब्यतेऽस्मिन्नित्यस्मत्प्रत्ययोऽहङ्कारः। तत्सम्बन्धाल्लब्धपरिच्छेदः सन्नात्मस्वरूपस्फुरणेन स्फुरन्नपि तद्विषयो निरुच्यते।' (न्यायनिर्णयः) [मैं—अनुभूति का विषय चैतन्य अहङ्कार में प्रतिबिम्बित होकर परिच्छिन्न हुआ प्रतीत होते हुए भी स्वरूप से निर्वचन का विषय तो बन ही जाता है।] कह कर स्पष्ट ही जो पूर्व में परिच्छिन्नत्वेन ज्ञात था उसी का पश्चात् अपरिच्छिन्नत्वेन ज्ञात होना बताते हैं। यह ही प्रत्यभिज्ञा है। शाङ्कर अद्वैत भी अतएव आत्मा या ब्रह्म की सर्वथा अज्ञातता न मानकर प्रत्यभिज्ञा ही स्वीकार कर शिवाद्वय से अभिन्न ही सिद्ध होता है। प्रत्यभिज्ञा से ही निरुपाधिक ज्ञान संभव है यह निर्विवाद और भाष्य-सम्मत है।

वेदान्त में एक आधारभूत शङ्का रह जाती है कि आत्मा का सामान्य ज्ञान ही क्यों होता है? प्रायः अज्ञान या माया का कारण रूप से निर्देश किया जाता है। अज्ञान में जो अभावात्मक ध्वनि है उसकी निवृत्ति के लिये ही मिथ्या या माया शब्द का प्रयोग शांकर दर्शन में है। माया भावरूप पदार्थ है। यह भावात्मिका माया यदि ब्रह्म से भिन्न मानो तो द्वैत प्रसक्ति, और अत्यन्त भिन्न स्वीकार करो तो विशेषज्ञान का रोध कैसे करेगी? अतः द्वितीय पक्ष को ही 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' (प्रत्यभिज्ञाहृदय २) से स्वीकारने पर अद्वैत संरक्षण संभव है। अन्यथा भावात्मिका माया और प्रकृति प्रायः समानार्थक हो जायगी और श्रौत व आगम दोनों ही सिद्धान्त द्वैतवाद को भयहेतु ही स्वीकारते हैं। 'स्वभित्तौ न त्वन्यत्रक्वापि। प्राङ्निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिवोन्मीलयति। उन्मीलनञ्चावस्थितस्यैव प्रकटीकरणमित्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येनावस्थानमुक्तम्।' (प्रत्यभिज्ञाहृदय विवृतिः पृ० २६) अन्य अधिष्ठान का अभाव होने से अपने ही आश्रय पर पहले से निश्चित जगत् शीशे

में शहर की तरह अभिन्न भी भिन्न जैसा प्रकट होता है। अतः जगत् ज्ञान-स्वरूप से अभिन्न ही स्थित है।] के द्वारा ही वास्तविक उत्तर मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ दर्पण नगरी के दृष्टान्त से ही आरम्भ किया गया है। शांकराद्वैत का आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद ही प्रधान प्रस्थान हैं। अतः यह धारा शिवाद्वयवाद से अभिन्न ही है।

यहाँ जो सृष्टि को उन्मीलन कह कर बताया है उसी का प्रतिपादन बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में 'आत्मन्यात्मवान् स्याम्। इदङ्कार्यंमावृतमासीत्। यथा पिण्डावस्थया मृदा घटादय आवृताः स्युरिति' के द्वारा किया गया है। अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का प्रतिपादन केवल अद्वैतवाद में ही मिलता है। आचार्य वसुगुप्त 'निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते। जगच्चित्रन्नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने।।' [बिना किसी दीवाल के और बिना किसी सामग्री के ही संसार रूपी चित्र निर्माण करने वाले शिव को नमस्कार है।] कहकर विवर्तवाद को और भी दृढ़रूप से प्रतिपादित करते हैं। अतः प्राङ्निर्णीतं भी श्रुति में कहे हुए 'यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० १०. १९१) के अर्थ में ही समझना चाहिये।

शिव नटराज हैं। अतएव शैव दर्शन नट का खेल ही सृष्टि को स्वीकार करता है। 'खेल था, और खेल ही रहेगा। रोकर खेलो चाहे हँसकर। इस विराट् विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि, सब को एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा भूल जाती है; होने लगता है विषमता का विषमय द्वन्द्व।······ उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी जिस दिन········ एक मधुर मिलन क्रीडा का अभिनय करेगा।' (कामना ९१) के द्वारा जयशङ्करप्रसाद शैव दृष्टि को दिखाते हैं। इसीलिये वैदिक सिद्धान्त पाप-वाद न बन सका। यहूदी, ईसाई और मुसल्मान मजहब आदम के प्रथम पाप की वसीयत के भार से मानव को सदा ही पतित और परवश रखने में ही गौरव अनुभव करते हैं। नव मनोविज्ञान इन धर्मों को हीन भावना (Inferiority Complex) और रुद्धमानस

(Repression) की उपज सिद्ध कर चुका है। हमारे वैदिक धर्म को न जानकर सर्व-धर्म-साम्यवादी धर्म-शब्दमात्र से हमें भी उसी कोटि का मान लेते हैं। हमने तो कभी भी मानव को ईश्वर से कम न समझा। 'पिता ! हम डरेंगे, तुमसे काँपेंगे ? क्यों ? हम अपराधी हैं ? अपराध क्या पदार्थ है ? पिता ! प्रेममय पिता ! हमारे इस खेल में·········दण्ड का अभिशाप !·········नरक और स्वर्ग ! कहाँ हैं ?·········सुख भोग की अनन्त कामना·········पिता के दुलारे पुत्रों !' (कामना पृ० २८) कहने वाले शैव मत को जब समझ लिया जायगा तो नटराज मूर्ति हमारे उपवेशगृह की चीज न रहकर हृदय की अनुभूति बन जायगी। भाष्यकार शंकरभगवत्पाद और प्रत्यभिज्ञाचार्य अभिनवगुप्तपाद दोनों ही 'नटवत्सृष्टि' स्वीकार करके धर्म को बन्धक (Religion) नहीं मोचक स्वीकार करते हैं।

शिव जीव को बाँधता नहीं वरन् स्वयं ही जीवरूप बनकर खेलता है। सारे दर्शन भी उसी ने अपने खेल के लिये बनाये हैं। इसीलिये गौडपादों ने जैसे अद्वैत को 'अविवादोऽविरुद्धः' (मा० का० ४.३) कहा है वैसे ही 'तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः' (प्रत्यभिज्ञाहृदय ८) 'सर्वेषां चार्वाकादिदर्शनानां स्थितयः सिद्धान्ताः तस्यैतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीताः कृत्रिमा भूमिकाः' (तत्रैवटीका) [चार्वाक वगैरह सभी सिद्धान्त नट की तरह स्वेच्छा से आत्मा ने ही अपने लिये बनावटी मत बनाये हैं।] कहनेवाला अद्वयवाद भी किसी का विरोधी नहीं वरन् सर्व-समन्वयवादी है। अद्वैत भेदवादी की कट्टरता का समर्थक नहीं बन सकता। परन्तु न शांकराद्वैत और न शिवाद्वय ही आधुनिक सर्व सम-वाद को या श्मशानसाम्यवाद को समन्वयभूमिका स्वीकार करता है। सारे वाद सोपान हैं और साध्यदृष्ट्या सभी सोपान सोपानरूप से समान हैं परन्तु सोपानों का उच्च निम्न भाव तो अबाधित ही रहता है। अतः 'तावदर्थावलेहेन उत्तिष्ठति पूर्णा च भवति। एषा च भट्टारिका क्रमात् क्रममधिकमनुशील्यमाना स्वात्मसात्करोत्येव भक्तजनम्।' (प्रत्यभिज्ञाहृदयविवृति पृ० ४७) [कितनी ही असावधान प्रतीत होने

पर भी पूर्ण ही सिद्ध होकर शिवमहिषी क्रम से अधिकाधिक आगे बढ़ाते हुए भक्त को अवश्य ही अपने शिवरूप में लीन करती है ।] के द्वारा क्रम समन्वयवाद ही युक्तिसंगत और वैदिक है । तत्त्वमीमांसा में भी सहसमुच्चय तो अस्वीकृत ही है । तत्त्व के अनेक रूप भिन्न दृष्टि-कोणों से प्रतीत होने पर भी उसका अपना स्वरूप तो रहेगा ही । पुत्री, माता, भगिनी, कान्ता आदि रूप प्रतियोगी सापेक्ष होने मात्र से स्त्री स्वरूप-मात्र का निषेध अथवा इन सब का समुच्चय ही उसका स्वरूप तो नहीं माना जा सकता । सारे दार्शनिकों की मान्यताओं से भिन्न ही तत्त्व स्वरूप है । परन्तु क्रमसमुच्चयवादी सभी की अन्त में मोक्ष स्वीकार करके सर्वमुक्तिवाद का चरम आदर्श मानवता के सामने रखता है । 'तस्माद्यावत्सर्वमुक्तिः परमेश्वरभावो मुक्तस्य' (सिद्धान्तलेश संग्रह ४.१८) के द्वारा आचार्य प्रवर अप्पयदीक्षित ने तो सर्वमुक्ति पर्यन्त ब्रह्मभाव प्राप्ति असंभव मानकर सर्वमुक्ति के लिये 'मुक्त श्चान्यान् विमोचयेत्' और 'आचार्यस्याप्ययमेव नियमो यन्न्यायप्राप्त-सच्छिष्यनिस्तारणं अविद्यामहोदधेः' (मुण्डकोपनिषद्भाष्य १.२.१३) [आचार्य के लिये भी योग्य शिष्य को मुक्त करना कर्त्तव्य है ।] आदि उक्तियों का रहस्योद्घाटन ही नहीं मध्ययुग की व्यक्तिनिष्ठ पलायन-वादी धारा को वैदिक शैव धारा की तरफ से करारी चोट दी है जिसका रहस्य सहृदय समझ सकेंगे । क्या किसी भी दर्शन या धर्म में इससे विशाल हृदय मिल सकता है ? यही कारण है कि विचारक वृन्द अद्वैत को निःसन्दिग्धभाव से विश्व का आधारभूत धर्म स्वीकार कर चुके हैं । यदि विश्व को वर्तमान भेददावाग्नि से बचाकर शान्ति स्थापना इष्ट हो तो अद्वैत दर्शन का समाश्रयण ही एकमात्र उपाय है । अतः शुद्ध तत्त्व दृष्टि ही नहीं व्यावहारिक दृष्ट्या भी आज के युग की पुकार है वैदिक संस्कृति का प्रसार । और शिवाद्वय एवं शाङ्कराद्वैत दोनों ही सर्वमुक्ति के समर्थक हैं ।

हमने पूर्व में आत्मा की ज्ञातता विषयक विचार करते हुए उसे सर्वदा सामान्येन ज्ञात बताया था । आत्मा की स्वप्रकाशरूपता ही धर्म

का आधार है। परप्रकाश या परतःसिद्ध अथवा पराधीन आत्मा का सिद्धान्त तत्त्वदृष्ट्या हमें उत्थान की ओर नहीं जाने देता। अद्वैत दर्शन आत्मा को स्वप्रकाश स्वीकार करता है अतः उसकी सिद्धि करना अनावश्यक और असंभव मानता है। 'प्रमाता च प्रमाणञ्च प्रमेयो निश्चितिस्तथा। यत्सान्निध्यात्प्रसिद्ध्यन्ति' (बृहदारण्यक वार्तिक १.४.८७०) [ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञप्ति सभी आत्मा के द्वारा ही सिद्ध होते हैं।] के द्वारा सुरेश्वराचार्य उसकी सिद्धि की असंभवता बताते हैं। तार्किकशिरोमणि श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में इसीलिये सर्व-निषेधावधित्वेन ब्रह्म सिद्धि की है। उसकी सिद्धि अन्यथा करने में विषयत्वेन जडत्वसिद्धि अनिवार्य हो जाती है। तर्कप्रधान अद्वैत की इस विचारसरणि से ही अभावाद्वैतपरक प्रवृत्ति सहज हो जाती है जो अनिष्ट है। प्रत्यभिज्ञादर्शन तो अभावाद्वैत का सर्वथा विरोधी है। परन्तु शांकराद्वैत ने भावाभावसमन्वयात्मक वेदान्त दृष्टि को ही अप-नाया है। औडुलोमि के अभाव और जैमिनि के भावपरक मोक्षसिद्धान्त का समन्वय ही बादरायण ने स्वीकार किया है। प्रत्यभिज्ञा भी इस 'नेति' वाद को स्वीकारती है इस बात का प्रमाण उदयाकर सूनु ने 'कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे। अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः।। ईश्वरस्य सिद्धौ निराकरणे च जडानामेवोद्यमः।' (प्रत्यभिज्ञाकारिका वृत्ति १.२) [पूर्वसिद्ध महेश्वर में स्वप्रकाशरूप से ज्ञान और क्रिया स्वतः सिद्ध होने से अति मूढ़ ही उसकी सिद्धि या निषेध करने में प्रवृत्त होते हैं।] में स्वयं दिया है। आचार्य विद्यारण्य भी 'बोधेप्यनुभवो यस्य न कथञ्चन जायते। तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम्।' (पंचदशी ३.१६) से इसी का प्रतिपादन करते हैं। अतः यह भी भेद दोनों का आधारभूत भेद नहीं माना जा सकता।

स्वतः सिद्ध न मानने पर परतंत्र जीव का बन्ध मोक्ष सभी परतन्त्र हो जाता है। और धर्म केवल उपहास का विषय रह जाता हैं। जीव-स्वातन्त्र्य पर ही पापपुण्य की नींव रखी जा सकती है। आज का वैज्ञा-निक भौतिकवाद वस्तुतः जीव को सर्वथा प्रकृति के परतंत्र मानता है।

एवं अन्य अनेक मजहब भी किस्मत (Pre-destination) के अधीन जीव को स्वीकारते हैं। अद्वैत का स्वतः प्राकाश्य का सिद्धान्त ही वस्तुतः धर्म को एक नवीन दिशा देता है। जीवस्वातन्त्र्य खिल उठता है। प्रत्येक जीव इस स्वतंत्रानुभूति को अपने में देखता है। इच्छा का स्वातंत्र्य निर्विवाद है। इच्छा को ज्ञान और क्रिया दोनों का आधार सिद्ध किया जा चुका है। अतः अद्वैतवाद ही प्रगति का सिद्धान्त है। भारत ने इस सिद्धान्त का परित्याग करके जब से इस्लाम से समन्वय के प्रयत्न में पन्थ चलाये या विकृत बौद्ध धर्म की वैष्णव शाखाओं का सहारा लिया तभी से हमारा पतन प्रारम्भ हुआ। आज नव भारत की समृद्धि और निर्माण इस अद्वैतवाद की अपेक्षा करता है। यदि इसका दृष्टिकोण नव निर्माता समझ सके तो बृहत्तर और महत्तर भारत के संस्थापक बन सकेंगे। उच्छिष्ट या पराजित विचारधाराओं से तो राष्ट्र निर्माण नहीं हुआ करते।

साधना के क्षेत्र में अज्ञान निवृत्ति मात्र मोक्ष ही स्वप्रकाशात्मवाद को इष्ट हो सकता है, किसी नवीन स्थान या पद वा अवस्था की प्राप्ति नहीं। वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान ही अज्ञाननिवर्तक है। पर वेद-वाक्य रूपी प्रमाण महेश्वर रूप आत्मा को सिद्ध नहीं करते वरन् सिद्ध का ज्ञापन या निर्देश मात्र करते हैं। सभी प्रमाण ज्ञापकमात्र हैं यह तो सर्ववादियों को स्वीकारना ही पड़ेगा। अतः महेश्वर प्राप्ति कण्ठस्थमाला की प्राप्ति ही है। नवीन प्राप्ति में अस्थायिता आदि दोष तो अति स्फुट हैं।

यह ज्ञान शिवविषयक ही नहीं शिवाश्रित भी है। सर्वत्र वेदान्तों में केवल ब्रह्म को ही सर्वज्ञ माना है। अतः उसको छोड़कर अन्यत्र ज्ञान असिद्ध है। चैतन्य की अनेकता के अनेक प्रमाण वेदान्तों में दिये गये हैं। वस्तुतः ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं हो सकता। दो ज्ञाता स्वीकार करते ही परस्पर ज्ञेय हो जावेंगे। विरुद्धधर्माक्रान्त पदार्थ की वास्तविक स्थिति असंभव है। अतः एक ही चैतन्य सिद्ध होता है।

चैतन्य की श्रुतियुक्तिसिद्ध एकता और प्रमाताओं की अनुभवसिद्ध अनेकता का समन्वय अद्वैत दर्शन में उपाधिवल से किया गया है। एक ही सर्वज्ञ सदाशिव भिन्न उपाधियों के द्वारा भिन्न ज्ञानों का ज्ञाता वनता है। जैसे सर्वपदार्थों का अवकाश प्रदाता केवल अवकाश ही है फिर भी मठाकाश घटाकाश का भेदानुभव होता ही है। इस प्रकार सभी विरोध परिहृत हो जाते हैं।

सारे ही ईश्वरवादी दर्शन ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं। पर अद्वैत में ही चैतन्य हेतु से निरपेक्ष सर्वज्ञता सिद्ध होती है। वैष्णव, नैय्यायिक, अन्य द्वैतवादी आदि सर्वज्ञ का अर्थ यदि सर्व-विषयक ज्ञान स्वीकारें तो जीव-स्वातन्त्र्य सर्वथा भंग हो जाता है। भविष्य की सारी घटनाओं का विस्तार से विशेष ज्ञान निश्चित घटना क्रम-वाद में (Theory of Pre-destination or Divine Dispensation) परिणत हो कर जीव के कर्म-स्वातन्त्र्य को नष्ट करके धर्माधर्म का ही भंग कर देगा। निष्कारण नरकस्वर्ग या दुःखसुख देनेवाला ईश्वर भी वैषम्यनैर्घृण्यदोषवाला ही सिद्ध होगा। (ब्र० सू० २.१.३३) अगर इस दोष से बचने के लिये वैष्णव आदि सर्वज्ञ में सर्व पद को भूत और वर्तमान में ही संकुचित करना चाहें तो ईश्वर सापेक्षसर्वज्ञ ही रहेगा। अतः जैसे द्वैतवाद में ईश्वर की कृपालुता और शक्तिमत्ता को निरपेक्ष स्वीकारने में विरोध आता है, वैसे ही सर्वज्ञता और जीवस्वातंत्र्यमूलक धर्माधर्म मानने से विरोध आता है। अद्वैतदर्शन में ही अविरोध संभव है। सर्व ज्ञानों का एकमात्र प्रकाशक होने से ही ईश्वर की सर्वज्ञता निरपेक्ष है। 'या चैषा प्रतिभानन्तपदार्थं क्रमरूषिता। अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥' (ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा १.७) में उत्पलदेवाचार्य क्रम से समग्र जीवों में होने वाले ज्ञानों को जैसे महेश्वर ही प्रमाता रूप से जानता है वैसे ही अक्रमरूप से वही निरुपाधिक ज्ञानरूप से जानता है इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी निरपेक्ष सर्वज्ञता प्रतिपादन करते हैं। सोमानन्दपाद 'सदा शिवात्मना वेत्ति सदा वेत्ति मदात्मना।' (शिवदृष्टि ५.१०६) 'तदैक्येन विना नास्ति संविदां

लोकपद्धतिः । प्रकाशैक्यात्तदेकत्वं मातैकः स इति स्थितिः ॥' (ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा १.८.१०) और अभिनवगुप्तपाद भी 'प्रकाशचिद्रूपमहिम्ना सर्वस्य भावजातस्य भासकत्वमभ्युपेयते । ततश्च विषयप्रकाशस्य नीलप्रकाशः पीतप्रकाश इति विषयोपरागभेदाद्भेदः ।' ['मैं' रूप से प्रमाता बनकर और शिवरूप से सर्वज्ञ बनकर वह एक ही जानता है। उस एक ज्ञान रूप के बिना लोक व्यवहार भी संभव नहीं। क्योंकि सारे पदार्थ ज्ञानस्वरूप हैं। उस सर्वप्रकाशक के भासित होने से ही सब की भासरूपता है। जैसे विषय सम्बन्ध से ही प्रकाश में पीत नीलादि प्रतीत होते हैं।] शिवाद्वय और शांकराद्वैत के सर्वथा ऐकमत्य का ही प्रदर्शन करते हैं। प्रत्यभिज्ञा के इन आचार्यों के और 'एतदेवाक्षरं दर्शनक्रियाकर्तृ सर्वत्र ।···विज्ञानक्रियाकर्तृ तदेवाक्षरं सर्वबुद्धिद्वारेण ।' (बृह० भा० ३.८) [वह अक्षर ब्रह्म ही सर्वत्र देखना······जानना आदि क्रियाओं को सब अन्तः करणों के द्वारा करता है।] के शब्दसाम्य और अर्थसाम्य से किस सहृदय अद्वैतवादी का हृदय न खिल उठेगा। भाष्यकार शंकरभगवत् प्रत्यभिज्ञादर्शन के सूत्रकार प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त व्यवस्था से ईश्वर की निरपेक्ष सर्वज्ञता सिद्ध होने पर भी बन्धन और मोक्ष अव्यवस्थित ही रह जाता है। नित्य मुक्त शिव म तो वे संभव नहीं और जड़ से वे नित्य ही सम्बन्ध हीन हैं। आद्यपक्ष ही अद्वैत को इष्ट है। नित्य मुक्त शिव में ही काल्पनिक बन्धन व तन्निवृत्ति संभव है। नित्य प्रकाशमान् सूर्य में ग्रस्त और शुद्ध की कल्पना ग्रहण काल में सर्वजन प्रसिद्ध है। 'तस्माद् ब्रह्माविद्यया जीवभावं प्राप्यासित्वा तावके तु स्वरूपे । त्वच्चित्तेन स्पन्दितं जीव जातमाकाशादिक्ष्मावसानञ्च पश्येत् ॥' (सं० शा० २.१६२) एवं 'किञ्चिज्ज्ञतास्य तमसावृत नित्यदृष्टेः सर्वज्ञता पुनरमुष्य परस्य पुंसः। अज्ञानतज्जकरणादिविवर्जितत्वादित्येतदेवमुपपन्नतरं हि भाष्यम् ॥' (सं० शा० २.१७७) [पूर्वोक्त सभी पक्ष अयुक्त होने से ब्रह्म ही अविद्या के द्वारा जीवभाव को प्राप्त करता है, उस भाव में रहता

है। उस अविद्या के द्वारा ही जीववृन्दात्मक चेतनवर्ग और आकाश से पृथ्वी तक जडवर्ग अनुभव किये जाते हैं।···नित्यदृष्टि ब्रह्म की ही अविद्या से अल्पज्ञता और अविद्या एवं तदुत्पन्न करणादि से रहित होकर सर्वज्ञता युक्ति और भाष्य से सिद्ध है।] कहकर आचार्यवर श्रीपरमहंसमुकुटमणि सर्वज्ञात्ममहामुनि स्पष्ट ही ब्रह्म में बन्ध और मोक्ष बताते हैं।

वस्तुतः तो बन्ध और मोक्ष दोनों कल्पनाएँ उस निर्विकार में होने से दोनों कल्पनाओं से रहित ही शुद्ध सदाशिव है। 'अविद्या-काम-कर्म विशिष्ट-कार्य-करणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते। नित्य-निरतिशय-ज्ञान शक्त्युपाधिरात्माऽन्तर्यामीश्वर उच्यते। स एव निरुपाधिः केवलः शुद्धः स्वेन स्वभावेनाक्षरं पर उच्यते।···तस्मादुपाधिभेदेनैवैषां भेदो नान्यथा।' (बृ० भा० ३.८) के द्वारा भाष्यकार ने स्पष्टतः शुद्ध ब्रह्म को ही कार्यकरण की उपाधिवाला अविद्या काम कर्म विशिष्ट बताया जो जन्ममरण के चक्र में पड़ा जीव नाम से कहा जाता है। नित्य और निरतिशय ज्ञानशक्ति की उपाधि वाला, अविद्या से उपलक्षित, सबका अन्दर से शासन करने वाला होकर वही ईश्वर कहा जाता है। सर्वोपाधिकल्पनानिर्मुक्त स्वरूप से अद्वैत शुद्ध परमात्मा अक्षर है।···अतः उपाधि से अतिरिक्त कोई भी भेद नहीं है। वार्तिक में तो 'स्वामी सन्न हि भृत्येन स्वामिनेव नियुज्यते। संबोधनीय एवासौ सुप्तो राजेव बन्दिभिः॥' (बृहदारण्यक संम्बन्ध वार्तिक २४०) [जिज्ञासु भी शास्त्र का स्वामी होने से शास्त्र द्वारा नियोग का विषय नहीं रहता वरन् समय आने पर बन्दी का राजा को जगाने की तरह ही जीव का प्रबोध करने का कार्य शास्त्र करता है।] कहकर जिज्ञासु का भी स्पष्टतः ईश्वरवत् निर्देश किया है।

उपर्युक्त श्लोक में सर्वज्ञात्मगिरि ने प्रत्यभिज्ञा के पारिभाषिक 'स्पन्दित' शब्द प्रयोग के द्वारा तो शिवाद्वय और शाङ्कराद्वैत का घनिष्ट सम्बन्ध स्फुट ही कर दिया। प्रस्तुत ग्रन्थ में तो स्तोत्रकार और उल्लासकार दोनों ने ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है जिनका

दार्शनिक आकर ग्रन्थों में प्रयोग प्राय: अद्वैतवादी नहीं करते । परन्तु यह भेद शिवाद्वय से सैद्धान्तिक भेद के बजाय वैदिक और आगमिक अथवा तत्वमीमांसा और साधनमीमांसा की धाराओं का भेद प्रदर्शन करता है । अत: सिद्धान्तत: तो 'तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम् । तत्परिज्ञाने चित्तमेवान्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहाच्चिति: ।' (प्रत्यभिज्ञाहृदय १२.१३) [संसारिता अर्थात् महेश्वरज्ञान के अज्ञान से अपनी ही शक्तियों से मुग्ध हो जाना । महेश्वर के अपरोक्ष ज्ञान से चित्त (जीव) ही अन्तर्मुखता के कारण चेतन की तरफ वृत्ति के कारण चिति (चिन्मात्र) भाव को प्राप्त कर लेता है ।] आदि से प्रत्यभिज्ञा भी ब्रह्म का ही जीवभाव से बन्ध और जीवभाव निवृत्ति से मोक्ष स्वीकारता है । 'एष प्रमाता मायान्ध: संसारी कर्मबन्धन: । विद्याभिज्ञापितैश्वर्य: चिद्घनो मुक्त उच्यते ।।' (प्रत्यभिज्ञा कारिका, आगमाधिकार, २.२) [यह पुर्यष्टक से संकोच भाव को प्राप्त प्रमाता कर्म में अभिमान करके उससे बँधकर जन्ममरण के चक्र में पड़ता है । स्वरूप का प्रकाशन करने वाली विद्या से अपने ईश्वर भाव को जानकर अचित् के सम्बन्ध से रहित मुक्त भाव को प्राप्त होता है ।] कहकर तो आचार्य उत्पलदेव स्पष्ट ही शांकराद्वैत का समर्थन करते हैं ।

इस प्रकार दोनों ही दर्शनों में जीवभाव की निवृत्ति से पूर्णाहन्ता का उदय ही मोक्ष है । परिच्छिन्नता की प्रतीति ही बन्धन है और परिच्छिन्नता की निवृत्ति से जो सहजावस्था होती है उसे ही पूर्ण, अनन्त, भूमा, अपरिच्छिन्न आदि अवस्था से कहा जाता है । 'द्रष्टुर्दृष्टेरविलोपात्पश्यन्नेव भवति । द्रष्टुरन्यत्वेन कामानामभावान्न पश्यति चेति ।' (छा० भा० ८.१२) के द्वारा भगवान् शङ्करभगवत्पाद मुक्त का सभी जगत् से अभिन्नत्वेन अनुभव बताते हैं । आचार्य उत्पलदेव भी 'मेयं साधारणं मुक्त: स्वात्माभेदेन मन्यते ।' (तत्वार्थसंग्रहाधिकार ४.३.१३) में ठीक यही बात कह रहे हैं कि मुक्त समग्र प्रमेयों को सार्वजनीन स्वीकारता है अर्थात् ममभाव का उसमें

अत्यन्ताभाव है। एवं प्रमेयमात्र को अपने से अभिन्न ही अनुभव करता है।

वस्तुतः पूर्णता निरपेक्ष है अतः शब्द प्रयोग भी उचित नहीं, 'स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते' या 'स्वे महिम्नि' ही कहना यथार्थ है। मुक्त में ऐश्वर्याविर्भाव भी दोनों को इष्ट है। 'तस्मात् अविद्या-प्रत्युपस्थापितं अपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादिदोष-कलुषितमनेकार्थयोगि तद्विलयनेनं तद्विपरीतमपहतपाप्मत्त्वादिगुणकं पारमेश्वरं रूपं विद्यया प्रतिपद्यते।' (सूत्र भाष्य पृ० २३१) [अतः अविद्या के कारण अपारमार्थिक कर्त्ता-भोक्ता-पना एवं रागद्वेषादि दोषों से दुष्ट अनेक अनर्थों से युक्त जीवस्वरूप के विलय के द्वारा पूर्वापेक्षया निरपेक्ष पापरहितत्त्वादि परमेश्वर के रूप को विद्या से प्राप्त किया जाता है।] ही प्रत्यभिज्ञा का भी मत है। यहाँ भाष्यकार ने स्वयं ही शिवाद्वयवाद का स्वयूथी रूप से ही निर्देश किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व रखता है।

बन्ध-मोक्ष की अपारमार्थिकता जिस प्रकार 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥' (माण्डूक्य कारिका २.३२) से भगवान् गौडपादाचार्य ने बताई है ठीक उसी प्रकार महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'न कस्यचित् कश्चन बन्धो नाम वस्तुतः। चित्स्वभावः स्वतंत्रः एव एकः शिव इति। किन्तु तस्यैव अनुत्तरात्स्वातन्त्र्यात् यदा संकुचिता संविदवभाति तदा स्वस्य पूर्णस्य रूपस्य यदपरिज्ञानं सर्वस्यैव पूर्णानन्दौत्सुक्येन हेयाभासस्तत्स्वभावस्तन्निबन्धनस्तेनैव ओतप्रोतोऽख्याति परमार्थः।······स च भोक्ता बद्धः।' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी ४.१.३) [किसी का भी कोई भी बन्धन तात्त्विक नहीं है। सर्वथा स्वतंत्र चैतन्यस्वभाववाला अखण्ड अद्वैत देश-काल-वस्तुभेद से रहित ही शिव है। तथापि उसी के परम स्वातन्त्र्य से जब परिच्छिन्नता की प्रतीति होती है तब अपने पूर्ण रूप का अज्ञान ही उस नित्यपूर्ण की पूर्णानन्दता के प्रति उत्सुकता से हेय का आभास भी संभव हो जाता है।······वही बद्ध

भोक्ता प्रतीत होता है ।] कहकर शिवाद्वय से ऐकमत्य प्रतिपादित किया है ।

जितना ही विचार किया जाता है उतनी ही दोनों सिद्धान्तों की एकता सिद्ध होती है । प्रत्यभिज्ञा और शाङ्कर दोनों ही दर्शन शिवाद्वय की धारा ही हैं, अतः दोनों की तात्त्विक एकता स्वाभाविक है ।

तात्त्विक मीमांसा के बाद संक्षेप में आचारमीमांसा या साधन प्रक्रिया पर विचार भी कर्तव्य है । प्रधानतः प्रस्तुत ग्रन्थ में जितना स्पष्ट व वैज्ञानिक साधनाध्याय है उतना वेदान्त के अति न्यून ग्रन्थों में ही उपलब्ध है । अतः इस दृष्टि का विचार हमें ग्रन्थ माहात्म्य के समझने में लाभप्रद सिद्ध होगा ।

शांकर अद्वैत के आकर ग्रन्थों में शंकरभगवत्पाद ने वेदोक्त कर्मानुष्ठान के द्वारा अन्तःकरण का शोधन करके जब तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हो तो सर्वकर्मसंन्यास के अनन्तर विवेकादि साधन पूर्वक मनन निदिध्यासन सहित श्रवण को ज्ञान का साक्षात् साधन बताया है । सुरेश्वराचार्य 'निरस्तसर्वकर्माणः प्रत्यक्प्रवणबुद्धयः । निष्कामा यतयःशान्ता जानन्तीदं यथोदितम् ।।' (नै० सि० ४.७३) [सर्व कर्मों का परित्याग करके प्रत्यगात्मा में एकाग्रता से बुद्धि लगाने वाले कामादि दोष रहित एवं मन के विक्षेप से रहित प्रयत्नशील ही यथोक्त तत्त्व ज्ञान प्राप्त करते हैं ।] में अतिसंक्षेप से समग्रसाधनों का निर्देश करते हैं ।

ये साधन यद्यपि उत्तम साधक के लिये पर्याप्त हैं परन्तु मध्यम या हीन इस साधना में समर्थ नहीं हो पाता । अतः उसके लिये मार्ग दर्शन आवश्यक है । भगवान शंकरभगवत्पादाचार्य ने योगसूत्रविवृति एवं शिवानन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी और प्रपंचसार आदि प्रकरण ग्रन्थों से इस कमी को दूर किया । जो विद्वान् इन प्रकरण ग्रन्थों से अपरिचित हैं वे संभवतः इस ग्रन्थ के साधनाध्याय से आश्चर्यान्वित भी होंगे और प्रत्यभिज्ञा से तो शांकर अद्वैत का भेद इस आधार पर अवश्य

प्रतिपादित करेंगे। योगशास्त्र की सिद्धियों के बारे में तो आकर ग्रन्थों में भी पर्याप्त संकेत हैं। भक्तिमाहात्म्य का भी निर्देश है। पर वहाँ तत्त्वमीमांसा प्रधान विषय होने से आचारमीमांसा की सहज गौणता से हमें किसी सिद्धान्त का निर्णय न करना चाहिये।

प्रत्यभिज्ञा के ग्रन्थों में भक्ति पर अत्यधिक बल है। परन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन में भक्ति भेदमूलक न होकर अभेदात्मिका है। अतः वर्तमान वैष्णवसम्प्रदायों में प्रसिद्ध भक्ति शब्द से यदि हम इस शब्द का तात्पर्य समझेंगे तो अवश्य विरोध प्रतीत होगा। वस्तुतः भक्ति को ज्ञान निष्ठात्मक ही भाष्यकार शंकरभगवत्पाद ने स्वीकार किया है। 'ज्ञानस्य स्वात्मोत्पत्ति परिपाकहेतु युक्तस्य प्रतिपक्षविहीनस्य यदात्मानुभवनिश्चयावसानत्वं...... सा परा ज्ञान निष्ठा......चतुर्थी भक्तिरित्युक्ता।......अतो ज्ञाननिष्ठा लक्षणया भक्त्या मामभिजानाति।' (गीताभाष्य पृ० ५१४) [अपनी उत्पत्ति और परिपाक का कारण विपरीत ज्ञान रहित जो आत्मा का साक्षात्कार निश्चय (दार्ढ्य) पर्यन्त है वही ज्ञान की परम निष्ठा चौथी (ज्ञानी) भक्ति कही गई। इस ज्ञान निष्ठात्मक भक्ति से ही ईश्वर को जानता है।] में जो भक्ति है वही प्रत्यभिज्ञा को इष्ट होने से शांकराद्वैत में सूत्र रूप से कथित भक्ति का ही वहाँ विस्तार है, यह निर्विवाद है।

क्रिया का भी सहसमुच्चय प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रतिपादित है एवं शांकर प्रस्थान में तो ज्ञान कर्म सहसमुच्चय का मूलोच्छेद ही इष्ट है। पर यहाँ भी क्रिया का अर्थ वैदिक या लौकिक क्रिया नहीं है जिसका सहसमुच्चय ज्ञान से असंभव हो। आचार्य अभिनवगुप्तपाद 'यदा तु क्रिया नाम परं तत्त्वमपि शरीरपर्यन्तीभावेन दृढीभूतो विमर्शः सकलमिदं हृद्यकुसुमविलेपनादि परमेश्वरेऽर्पयंस्तदभेदितया विमृशामीति पूजनं तदा युक्तमुच्यते अर्चनादिक्रिया रहितं ज्ञानं न दृढीभवति।' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी ३.१.१) तो जब शरीर में दृढ़ शिव भावना से मनोहर पुष्प चन्दन आदि चढ़ाते समय शिवार्पण भाव से अभेदानुसन्धान है तब ऐसी अर्चनारूपी क्रिया को ज्ञानदार्ढ्य के लिये

आवश्यक बताया है और 'स्वचित्ते वासनाः कर्ममलमायाप्रसूतयः। तासां शान्तिनिमित्तं या मतिः संवित्स्वभाविका। क्रिया सैव च योगोपि।' (तंत्रालोक १.१५५) [कर्म, मल व माया से अपनी चित्तगत वासनाओं की शान्ति के लिये जो ज्ञानाकारा वृत्ति वही क्रिया और योग है।] से सर्व ब्रह्म भावना को ही स्पष्ट क्रिया और योग माना है। अतः क्रिया, योग और भक्ति का प्रत्यभिज्ञाचार्यों ने विशिष्ट अर्थ किया है जिससे शांकराद्वैत से उनका विरोध आपाततः ही रह जाता है।

विचार करने से प्रतीत होता है कि वैदिक कर्मों से अतिशुद्धान्तः-करण ही भाष्यसम्मत अधिकारी है। अतः वहाँ श्रवण के अनन्तर भावना आदि अनावश्यक हैं क्योंकि चित्तैकाग्र्य तो पूर्व में ही सिद्ध है।

अन्तः-करण की पूर्ण शुद्धि न होने पर भी जो श्रद्धाधनी मुमुक्षु है वह प्रत्यभिज्ञा में अधिकारी माना गया है। अतः वहाँ भावना की भी प्रधानता स्वाभाविक है। अतः भावना दृढ़ होते-होते 'विकल्पहाने नैकाग्र्यात् क्रमेणेश्वरतापदम्' (प्रत्यभिज्ञा कारिका ४.११) एवं 'यदा विकल्पहानक्रमेणाविकल्पकपरिगृहीतस्पष्टवस्तुविषयैकाग्रतावलम्बनेनाह-मिदमिति ऐश्वर्यपरामर्शपरात्त्वमेति तदा अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिनिमेषोन्मेष परिहारदृशा क्रमादभ्यासतारतम्यपर्यन्ते पशोः पशुत्वं हन्ति, ईश्वरतां च दर्शयति' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी ४.३.११) जब धीरे-धीरे विकल्प नष्ट होते जाते हैं तो निर्विकल्प में ही ग्रहण के योग्य स्पष्ट वस्तु विषयक एकाग्रता के सहारे से 'मैं ही वह हूँ' ऐसा स्वकीय ईश्वरता का परामर्श प्राप्त होता है। उस समय अन्दर तो लक्ष्य रहता है और दृष्टि बाहर रहती है एवं पलक भी गिरते नहीं अर्थात् शांभवीमुद्रा लग जाती है। इसके बढ़ने पर पशु की पशुता नष्ट होकर ईश्वरता प्राप्त होती है।

यद्यपि गुरुकृपा से तो पूर्ण शक्तिपात होकर 'कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः' उसी क्षण नेत्रदीक्षा के द्वारा कैवल्य प्राप्ति प्रत्यभिज्ञा भी स्वीकार करता है एवं भाष्यकारों ने भी प्रकरण ग्रन्थों में

'दीक्षां मे दिश चाक्षुषीम्' आदि से इसका निर्देश किया है तथापि यह अपवाद है, नियम नहीं।

अभ्यास से ज्ञान निष्ठा में तारतम्य तो शांकर प्रस्थान भी स्वीकारता ही है। 'यस्य तु नैषोनुभवो द्रागिव जायते तं प्रत्यनुभवार्थं एवावृत्त्युपगमः ।' (ब्रह्मसूत्रभाष्य पृ० ८३१) से जिसको श्रवणमात्र से ज्ञान न हो उसके प्रति पुनः पुनः अभ्यास का विधान है। अतः इस प्रकार की भावना का माहात्म्य माना गया है। आधुनिक युग में अतिशुद्धान्तःकरण तो अति दुर्लभ हैं; अतः प्रत्यभिज्ञा की उपयुक्तता स्पष्ट है।

प्रश्न हो सकता है कि साकारादि ध्यान से चित्तैकाग्रच होकर फिर ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो जायगी, अतः प्रत्यभिज्ञा का ही क्या वैशिष्ट्य है? भाष्यकार शंकरभगवत् 'नहि वरविघाताय कन्यामुद्वाहयन्ति। नियुक्तस्य चास्मन्नधिकृतोहं कर्ता, मयेदं कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्ययाद्विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते।' (ब्रह्मसूत्रभाष्य पृ० ८३१) में कहते हैं कि वर को मारने के लिये कन्या को नहीं व्याहा जाता है। 'मैं कर्ता हूँ' और 'यह मेरा कर्तव्य है' की भावना तो ब्रह्मज्ञान से विपरीत ज्ञान उत्पन्न करेगी। अतः ब्रह्मभावना की ही पुनरावृत्ति करे।

अन्तःकरण की शुद्धि को बढ़ाने के लिये वैदिक कर्म तो वर्णाश्रमियों के लिये सर्वोत्तम मार्ग है। परन्तु आधुनिक युग में वैदिक कर्म और वर्णाश्रम के मूल संस्कार ही उच्छिन्न होते जा रहे हैं अतः शिवाद्वयवाद में प्रतिपादित सर्व प्राणिमात्र विषयक क्रिया ही अधिक युगानुरूप सिद्ध होती है। इस क्रिया का हृदय भक्ति है। इसमें भी वर्ण, वय, लिंग, आश्रम का भेद नहीं है। अतः जिज्ञासा के पूर्व में सार्वलौकिक आगम का साधन क्रम भी विशेष उपयुक्त है। इस का निर्देश भी ब्रह्मसूत्रभाष्य में 'तेषां ··पुरुषमात्रसम्बन्धिभिः जपो-पवास-देवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः संभवति' (पृ० ८१०) [उन वर्णाश्रमादिरहितों पर भी मानवमात्र के उपयुक्त मंत्रजप, व्रत, देवपूजा

श्रादि विशेष धर्मों से ब्रह्मविद्या की कृपा हो सकती है।] कहकर शंकरभगवत्पाद कर गये हैं। अतः शिवाद्वय का साधनक्रम जिज्ञासापूर्व में और ज्ञानदार्ढ्य के लिये भी आधुनिक युग के अधिक उपयुक्त और वेदान्त का परिपोषक ही सिद्ध होता है।

यहाँ पुनः एक शंका हो सकती है कि भावना द्वारा जो प्राप्ति होती है वह कृत होने से अनित्य भी होगी और प्रमाण जन्य न होने से प्रमा भी न होगी और अप्रमा से भ्रम निवृत्ति भी संभव न हो सकेगी। अतः प्रत्यभिज्ञादर्शन और शांकर प्रस्थान का यह भेद तो रहेगा ही। वस्तुतः संवादी और विसंवादी भ्रम के अज्ञान से यह प्रश्न उठता है एवं ध्यानदीप प्रकरण में इसका विस्तृत उत्तर है।

वस्तुतस्तु शिवाद्वयवाद भी ज्ञान के प्रति साक्षात् कारण श्रवण को ही स्वीकारता है, अतः शंका ही निर्मूल है। यदि भावना को ज्ञान या मोक्ष के प्रति कारण शिवाद्वय ने माना होता तो सभी दोष प्राप्त अवश्य होते। शिवाद्वय और शांकराद्वैत दोनों के सम्प्रदायवेत्ताओं ने मोक्ष का साक्षात्कारण ज्ञान और ज्ञान का साक्षात्कारण श्रवण ही स्वीकारा है। श्रवण से उत्पन्न ज्ञान को निष्ठा में परिणत करने के प्रकार में भी मनन और निदिध्यासन ही दोनों को स्वीकृत हैं। अतः साधन विशेष पर बल की अधिकतामात्र से साधन भेद की सिद्धि नहीं की जा सकती। और उससे सिद्धान्तभेद को ही वास्तविक मानने का प्रलाप तो सर्वथा उपेक्ष्य है।

अद्वैतदर्शन का वैशिष्ट्य है कि यह प्रमाण-जन्य-प्रमा अर्थात् शब्द से जन्य ज्ञान को ही मोक्ष का कारण मानता है। अन्यवादी अप्रमाण जो ध्यान उससे प्रमोत्पत्ति मानने का दुराग्रह करते हैं। वेदान्त के ही अनुयायियों में से कुछ ज्ञान की पुनरावृत्ति रूप परिसंख्यान से मोक्ष स्वीकारते हैं। परवर्ती शांकर प्रस्थान में भामतीवादियों नें निदिध्यासन या परिसंख्यान को ज्ञान के प्रति साक्षात् कारण स्वीकार किया एवं दण्डी संन्यासी आज भी इस मत के अनुयायी हैं; परन्तु शांकरमत की प्रधान धारा को श्रीपरमहंस जागृत् रखते हुए श्रवण को ही अपरोक्ष ज्ञान का साक्षात्

साधन स्वीकारते हैं। परन्तु यदि प्रथम ज्ञान ही अज्ञान को न हटा सका तो 'युक्ति शब्दौ पुराप्यस्य न चेदकुरुतां प्रमाम्। साक्षादावर्त्त-नात्ताभ्यां किमपूर्वं फलिष्यति ॥' (नै० सि० ३.१२४) आवृत्तज्ञान में कौन सी विशेषता मानोगे ? अतः ज्ञान के प्रति मनन, निदिध्यासन सहकृत श्रवण ही विहित है।

अतः ज्ञानोत्पत्ति में ही प्रयत्न होना चाहिये। ज्ञानोत्तर काल में तो सभी कर्तव्यों का निषेध व अनुपयोग ही है। ज्ञान और मोक्ष को समनन्तरता ही शास्त्र युक्ति से सिद्ध है।

'एक वारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः। ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढ़ात्मना। करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा।' से आचार्य सोमानन्द स्पष्टतः 'शास्त्र या गुरु वाक्य रूपी शब्द प्रमाण से सर्वतः स्थित शिवता को दृढ़रूप से जान लिया तो न कर्तव्य और न भावना से ही उसका कोई प्रयोजन रहता है' कहकर शाब्दजप्रमा को ही पर्याप्त मानते हैं। ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व ही भावना और क्रिया स्वीकृत है। यहाँ शास्त्रवाक्य और गुरुवाक्य दो प्रमाण प्रतीत होते हैं परन्तु गुरुमुख से सुना हुआ शास्त्रवाक्य ही यहाँ समझना चाहिये।

शब्द से अपरोक्ष कैसे होगा क्योंकि शब्द से परोक्ष ज्ञान ही देखा जाता है आदि शकाएँ तत्त्वमसि प्रकरण में भाष्यकार ने सम्यग्रूपेण निराकृत की हैं। वस्तुतः अपरोक्ष विषय का ज्ञान शब्द से अपरोक्ष ही होता है। दशमम्त्वमसि में यह दृष्ट है। आत्मा नित्य अपरोक्ष है अतः इसका ज्ञान भी अपरोक्ष ही होगा। अहंरूप से ज्ञात आत्मा का ब्रह्मरूप से ज्ञान शाब्द होने से ही यह प्रत्यभिज्ञा मानी जाती है। राजा को न जानने वाला पुरुष सभा में नरत्वेन राजा को देखते हुए पुनः 'मुकुटवाला राजा है' सुनकर उसका राजारूप से अपरोक्ष बोध करता है उसी तरह यहाँ समझना चाहिये

अतः मोक्ष और ज्ञान के साधन विषयक भेद भी आपाततः ही प्रतीत होते हैं। ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व प्रत्यभिज्ञा के आचार्य भावना पर

और शांकराद्वैत श्रवण मनन की पुनरावृत्ति पर अधिक बल देते हैं। इसका मूल साधक भेद समझना चाहिये। अन्यथा विद्यारण्यस्वामी के ध्यानदीप प्रकरण से प्रस्थान भेद हो जायगा। वहाँ भावना की सिद्धि संभवतः प्रत्यभिज्ञा के समन्वयार्थ ही है। व्यवस्थित विकल्प ही स्वीकर्तव्य है। ज्ञान के प्रति कारण तो श्रवण ही है। विपरीत भावना की अधिकता से पीड़ित भावनाधिक्य करे और अन्यवादियों के प्रभाव से असंभावनाग्रस्त मनन की अधिकता में रुचि रखे। जहाँ उभय समान बलशाली हो वहाँ समभाव से करे। आवरणनिवृत्ति तो सर्वथा श्रवण से ही संभव है।

अतः उपर्युक्त मीमांसा से सिद्ध होता है कि प्रत्यभिज्ञा और वेदान्त की तात्त्विक और साधन सम्बन्धी मान्यताओं में कोई भेद नहीं सिद्ध होता। एक ही सदाशिव से उपदिष्ट वैदिक शांकराद्वैत और आगमिक शिवाद्वय में भेद की संभावना भी कैसे की जा सकती है? प्रस्तुत ग्रन्थ इस ऐक्य का सबसे बड़ा प्रमाण है। उपर्युक्त विवेचन में प्रस्थानत्रयभाष्य एवं साक्षात् शिष्यों द्वारा रचित ग्रन्थों से ही प्रत्यभिज्ञा के मूल ग्रन्थों का सादृश्य दिखाया गया है। प्रकरण ग्रन्थों में तो दोनों का सर्वथा ऐक्य अति स्फुट है। यद्यपि इस विषय में और भी बहुत वक्तव्य है पर भूमिका उसके लिये उपयुक्त स्थल नहीं है। विद्वानों से प्रार्थना है कि इस दृष्टि से विचार कर हमारे नवीन भारत के उत्थान के प्रति जनता में आकर्षण बढ़ावें। अद्वैत की भूमिका पर ही विशाल जम्बू द्वीप की नींव रखी जा सकेगी। जनता सम्यग्रूप से इस भाव की अवगति करे एतदर्थं ही प्रयास अपेक्षित है।

कामायनी में हिन्दी के कवि सम्राट् प्रसाद 'चिर मिलित प्रकृति से पुलकित. वह चेतन पुरुष पुरातन. निज शक्ति तरंगायित था. आनन्द अम्बुनिधि शोभन' (पृ० २८६) के द्वारा मोक्ष के इस स्वरूप का आदर्श हमारे सामने रखते हैं।

साधनरूप से 'सब भेद भाव भुलवा कर. सुख दुख को दृश्य बनाता. मानव! कह रे! 'यह मैं हूँ'. यह विश्वनीड बन जाता.'

(पृ० २८९) कह कर प्रत्यभिज्ञा दर्शन का स्पष्ट निर्देश करते हुए मानव को नवीन जागरण देते हैं।

इस साधन को मानवता यदि अपना ले तो 'वह चन्द्र किरीट रजत नग. स्पन्दित सा पुरुष पुरातन. देखता मानसी गौरी. लहरों का कोमल नर्तन. सब पहचाने से लगते. अपनी ही एक कला-से।' फिर नींव पड़ सकती है जगत् राज्य की जिसमें सङ्घर्ष का अभिशाप न रह जायगा।

इस मार्ग का गन्तव्य है 'समरस थें जड़ या चेतन. सुन्दर साकार बना था. चेतनता एक विलसती. आनन्द अखण्ड घना था।'

कामायनी ने शिवाद्वय की काव्यमय व्याख्या प्रस्तुत कर समग्र उत्तर भारत के लिये नव दिशा प्रदर्शन की है। उत्तर के सभी मध्य-युगीय सन्त कवि या तो वैष्णव द्वैत भक्ति के प्रभाव में रह गये या कबीर-नानक की तरह शुष्क एवं बौद्ध और सांख्य मूलक निरगुनिया धारा में प्रवाहित हो गये। सरस अद्वैत सामरस्यात्मक भक्ति जिसमें 'शक्ति तरंग प्रलय पावक का. उस त्रिकोण में निखर उठा-सा. शृंग और डमरू निनाद बस. सकल विश्व में बिखर उठा-सा. स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो. इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे, दिव्य अनाहत पर निनाद में. श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।' सभी तत्त्व सम हैं और जो वैदिक और आगमिक उभय परंपरा पर आश्रित है भुला दिया गया था। आज नवयुग में प्रसाद ने शिवाद्वय का सन्देश मनु और श्रद्धा के व्याज से देकर साहित्य और दर्शन की अभूतपूर्व सेवा की है। श्रद्धा को छोड़ने के कारण ही आज का मनु भी विनाश के कगारे पर खड़ा है। इस सन्देश का अवलम्ब मिल गया तो विश्व पुनः पूर्वापेक्षया भी महत्तम उन्नति के नव शृंग पर आरोहण कर सकेगा। परन्तु यह सन्देश विश्व को भारतीय नवयुवक ही दे सकते हैं। भविष्य नज़र गड़ाये बैठा है कि अवसर के अनुसार हम बढ़ते हैं या नहीं? जब तक हम परमुखापेक्षी और उच्छिष्टभोजी बनना बन्द न करेंगे तब तक उन्नति असंभव है। भगवान महेश्वर से प्रार्थना है कि यह लघु पुस्तिका मार्ग दर्शन में सहायक बने।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रायः १ वर्ष पूर्व लिखा गया था। प्रकाशन में कई कारणों से विलम्ब होता रहा। प्रचारक का निरन्तर भ्रमणशील और व्यस्तता का जीवन ग्रन्थ लेखन के अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है। तथापि दक्षिणामूर्ति के कृपा कटाक्ष से ग्रन्थ का प्रकाशन समाप्ति पर है यह जानकर प्रसन्नता है। इसके प्रकाशन का सारा भार आगरा युनिवर्सिटी प्रेस के अध्यक्ष श्रीमान् बाबू हरकृष्णजी कपूर ने उठाया है। मुख पृष्ठ के आवरण का निर्माण कुमारी नीता पुरी ने किया है। ग्रन्थ निर्माण के लिये श्रीपरमहंस ईश्वरानन्दगिरिजी प्रेरक रहे हैं। भगवती चिच्छक्ति उन्हें शिवदृष्टि प्रदान करें। अन्य अनेक मित्रों ने अनेक कठिनाइयाँ उठाकर इसे प्रस्तुत करने में सहयोग दिया है। इन सभी को भगवान शंकर भगवत्पादों की कृपा प्राप्त हो यही अभ्यर्थना है।

६४ सूर्य नगर
आगरा
मकर संक्रान्ति २०१९ वि०.

महेशानंद गिरिः

द्वितीय संस्करण का वक्तव्य

'मानसोल्लास-माधुरी' अनेक वर्षों से दुर्लभ हो चुकी थी अतः उसका पुनर्मुद्रण नितान्त अपेक्षित था। वर्तमान द्वितीय संस्करण में यत्र-तत्र संशोधन से अतिरिक्त मूल स्तोत्र पर 'तत्त्वसुधा' व्याख्या तथा वार्तिक-श्लोकों की अकारादिसूची अधिक हैं। 'मैसूर विद्यानिलय' से प्रकाशित 'श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्' (प्राच्यविद्यासंशोधनालयग्रन्थमाला—११८) में मुद्रित 'तत्त्वसुधा' को ही यहाँ संयोजित किया है। वार्तिक की रामतीर्थीय व्याख्या 'माधुरी' से गतार्थ होने के कारण छोड़ दी है। 'तत्त्वसुधा' के सुबोधिनी व लघुतत्त्वसुधा नाम भी प्राप्त होते हैं। इसके लेखक के रूप में दो व्यक्तियों के नाम मातृकाओं में मिलते हैं: स्वयंप्रकाश यति, और पुरुषोत्तमानन्द। मूल श्लोकों का भाव हृदयंगत कराने के लिये पर्याप्त होने से इस टीका की उपयोगिता है।

श्री सुरेश्वरसंन्यासजयन्ती
चैत्रशुक्ला नवमी, २०४४

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ
वाराणसी।

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

उल्लास

पृष्ठ संख्या

अथ प्रथमोल्लाससंग्रहः

आत्मा प्रत्यक्स्वरूपम्

॥ श्रीमते मेधादक्षिणामूर्तये नमः ॥

सर्वं-वेदान्त-गम्यन्तं दक्षिणास्यं सदाशिवम् ।
निर्मलज्ञानदातारं वन्दे देशिकविग्रहम् ॥ १ ॥

निर्गुणान्निर्गुणे नीत्वा ह्याप्तकामा वयं कृताः ।
येन स्वदृष्टिपातेन तं वन्दे स्वगुरु प्रियम् ॥ २ ॥

ललितां निर्मलां विद्यां महेशप्राणवल्लभाम् ।
शुद्धान्तःकरणे भातां वन्दे ह्रीङ्काररूपिणीम् ॥ ३ ॥

प्रज्ञानं ह्यैतरेयाः शिव इति वचसा तैत्तिरीया वदन्ति ।
रुद्रं माध्यन्दिनीयाः श्रुतिपथनिपुणास्तत्त्वमस्यादिवाक्यैः ॥

यक्षं यं सामवेदः प्रवदति पुरुषं मुण्डकाथर्वशीर्षः ।
वन्दे तं भावगम्यं मुनिजनहृदये दक्षिणामूर्तिदेवम् ॥ ४ ॥

हरी रामेत्युक्त्या प्रवदति हि यं वैष्णवजनः ।
भवानी दुर्गेति प्रवचनशतैरागमरतः ॥

पुराणं साहित्यं मुनिसमयसर्वः शिव इति ।
नमामस्तन्देवंनरतनुधरं देशिकवरम् ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा ह्रासो मस्करीणां नयेभ्यः
श्रुत्वा पातो ब्राह्मणानां श्रुतिभ्यः ।

मत्त्वा देवं सृष्टिसंस्थैर्यहेतुः
ब्रह्मस्थित्या ग्रागतो भाष्यकारः ॥ ६ ॥

धृत्वा सञ्ज्ञां शङ्करं मस्करीन्द्रः
कृत्वा भाष्यं वेदराद्धान्तसूत्रे ।

शिष्यान्सर्वान्स्थापयित्वा प्रचारे
वन्दे लीनन्दक्षिणामूर्तिमूर्तौ ॥ ७ ॥

सुरेश्वरमहं वन्दे विश्वरूपाभिधायिनम् ।
येन वेदान्तसूत्राणां सङ्ग्रहोत्र प्रकाशितम् ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा ग्रन्थं सारभूतं नयानाम् ।
अध्येतव्यं मुक्तिकामैश्च सर्वैः ॥

हिन्दिज्ञानामर्थविज्ञापनाय ।
कुर्मो व्याख्यां 'माधुरीं' सम्प्रदिष्टाम् ॥ ९ ॥

प्रेरकस्त्वीश्वरानन्दः कपूरो भोज्यदस्तथा ।
ज्ञानदो दक्षिणामूर्तिः वयं तु यशभागिनः ॥ १० ॥

वयन्न तु यशस्कामाः वन्दनस्येषणा न हि ।
पुपूषा प्राप्तबोधस्य व्याख्यायां संप्रयोजिका ॥११ ॥

भगवान भाष्यकार श्रीशंकरपरावतार भगवत्पादाचार्यों ने लोक में ब्रह्मविद्या के प्रचारार्थ भाष्य प्रकरणादि ग्रन्थों का निर्माण करके भी मन्दबुद्धि पर, श्रद्धाधनियों के लिये मार्ग दर्शन की कमी देख कर असन्तोष का अनुभव किया। ठीक ही है क्योंकि उनका अवतार ही लोकानुग्रहार्थमात्र था। अतः सकल वेदान्त क्षीर सागर में से विचार दण्ड और युक्ति मथानी मे निकले हुये अद्वैतामृत को इस दशश्लोक के स्तोत्र में संगृहीत कर दिया जिससे इसका पाठ और मनन कर सभी साधक मोक्षप्रद भगवान दक्षिणामूर्ति के अनुग्रह से निर्मल ब्रह्मविद्या प्राप्त करें। उसके अर्थ गाम्भीर्य को देख कर उनके प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्यों ने मानसोल्लास प्रबन्ध नामक वार्तिक का निर्माण कर स्तोत्र को सुलभ कर दिया। स्वयं विघ्ननाशक ब्रह्मा के अवतार होने पर भी शिष्टाचार रक्षा के लिये मंगलाचरण करते हैं—

मङ्गलं दिशतु मे विनायको
मङ्गलं दिशतु मे सरस्वती।
मङ्गलं दिशतु मे महेश्वरी
मङ्गलं दिशतु मे सदाशिवः ॥ १ ॥

(पदच्छेदः)

मङ्गलं दिशतु मे विनायकः
मङ्गलं दिशतु मे सरस्वती।
मङ्गलं दिशतु मे महेश्वरी
मङ्गलं दिशतु मे सदाशिवः ॥१॥

(सान्वयार्थः)

भगवान गणपति[१] एवं भगवती सरस्वती[२], भगवान शंकर[३] और पार्वती[४] हमारा मंगल करें।

व्याख्या

१. गणेश सर्वप्रथम पूज्य हैं अतः उन्हें नायक से रहित कहा गया है। वे विघ्नध्वंसक हैं। अतः मंगल का प्रयोजन विघ्नध्वंस स्वीकार्य है।

२. ज्ञानप्रदा होने से सरस्वती ही ग्रन्थपरिसमाप्ति कराने में समर्थ हैं।

३. सदाशिव ही मोक्षस्वरूप हैं। अतः साधक उस स्वरूप को प्राप्त करें। इसमें सदाशिवानुग्रह ही हेतु है।

४. महेश्वरी ही ब्रह्मविद्या है यह सामवेद की तलवकार शाखा में प्रतिपादित है। अतः ब्रह्मविद्या प्रतिपादक ग्रन्थ स्वकार्य करने में समर्थ हो।

—२—

अनुबन्ध चतुष्टय के ज्ञान के विना सज्जन पुरुष अध्ययन में प्रवृत्त नहीं होते। अतः अब ग्रन्थ के विषय और प्रयोजन का निरूपण करते हैं:—

आत्मलाभात्परो लाभो नास्तीति मुनयो विदुः।
तल्लाभार्थं कविस्स्तौति स्वात्मानं परमेश्वरम् ॥ २ ॥

(पदच्छेदः)

आत्मलाभात परः लाभः न अस्ति इति मुनयः विदुः।
तल्लाभार्थम् कविः स्तौति स्वात्मानम् परमेश्वरम् ॥२॥

(सान्वयार्थः)

आत्मलाभात्	=अपनी आत्मा[1] की प्राप्ति[2] से	अस्ति	=है,
परः	=भिन्न[3] या बढ़कर[4]	इति	=इस बात को
लाभः	=कोई प्राप्ति	मुनयः	=मुनि लोग[5]
न	=नहीं	विदुः	=जानते थे

[अतः = इसलिये]
तल्लाभार्थम् = उस आत्म प्राप्ति के लिये
कविः[1] = सर्वज्ञ भगवान भाष्यकार
स्वात्मानम् = अन्तरात्मारूप
परमेश्वरम् = परमेश्वर की
स्तौति = स्तुति करते हैं।

व्याख्या

१. आत्मा अर्थात सब का साक्षी। 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते।' अर्थात् जागृत् काल में विषयानुभव, स्वप्नकाल में वासनाओं से निर्माण करने वाला और सुषुप्ति में अपने में लीन करने वाला जो इन सभी अवस्थाओं का द्रष्टा रूपी नित्यतत्त्व है वही आत्मा शब्द से कहा जाता है।

२. आत्मा अपना स्वरूप होने से नित्य प्राप्त है। अतः उसकी प्राप्ति का अर्थ उसका ज्ञान समझना चाहिये। उसको ब्रह्म से अलग करने वाले अज्ञान को नष्ट करना ही उसकी प्राप्ति है।

३. प्राप्ति वही कही जाती है जो प्राप्त रहे। जो पदार्थ कुछ समय के लिये पास आता है वह तो उधार कहा जाता है। संसार के सभी पदार्थ वस्तुतः उधार ही आये हुये हैं क्योंकि कालान्तर में चले जाते हैं। अतः आत्मा की प्राप्ति ही प्राप्ति है।

४. आत्म प्राप्ति से ही सारी कमियाँ दूर हो सकती हैं। 'आप्त-कामस्त्वात्मकामः' अर्थात् आत्मकामी ही सारी कामनाओं से अतीत हो जाता है तो आत्मज्ञ का तो कहना ही क्या। अतः वही सबसे बड़ी प्राप्ति है।

५. आपस्तम्बादि धर्मसूत्रकारों ने इसीलिये 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' (आप० ध० सू० १–२२–२) इत्यादि सूत्रों को बनाया। अथवा मुनि अर्थात् मननशील परमहंस क्योंकि वे आत्म प्राप्ति को ही सर्वश्रेष्ठ समझने के कारण तत्प्राप्त्यर्थं सर्वपरित्याग करते हैं।

६. क्रान्तदर्शी ही कवि होता है। यहाँ भाष्यकार को ही कवि कहा गया है।

[अन्तरात्मा और परमेश्वर की एकता इस ग्रन्थ का विषय एवं आत्मप्राप्ति इस ग्रन्थ का प्रयोजन सिद्ध हुआ।]

—३—

वेदान्तशास्त्र के अनेक ग्रन्थ होने पर भी इस ग्रन्थ की आवश्यकता है, क्योंकि यहाँ स्तुति व्याज से प्रतिपादन किया गया है जिससे भक्ति और ज्ञान दोनों साधन साथ ही सिद्ध हो जाते हैं। प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव संबन्ध का निर्देश करते हुये इस ग्रन्थ की प्रकरणरूपता प्रकट करते हैं:—

स्वेच्छया सृष्टमाविश्य विश्वं यो मनसि स्थितः।
स्तोत्रेण स्तूयतेऽनेन स एव परमेश्वरः॥ ३॥

(पदच्छेदः)

स्वेच्छया सृष्टम् आविश्य विश्वम् यः मनसि स्थितः।
स्तोत्रेण स्तूयते अनेन सः एव परमेश्वरः॥३॥

(सान्वयार्थः)

यः	=जो[1]	सः	=उस[6]
स्वेच्छया	=अपनी इच्छा[2] से	एव	=ही
सृष्टम्	=बनाये हुये	परमेश्वरः	=परमेश्वर की
विश्वम्	=संसार[3] में	अनेन	=इस
आविश्य	=प्रवेश[4] करके	स्तोत्रेण	=स्तोत्र के द्वारा
मनसि	=अन्तःकरण मे	स्तूयते	=स्तुति[7] की जा रही है।
स्थितः	=मौजूद[5] है		

व्याख्या

१. अन्तःकरण में चैतन्यरूप से वह परमेश्वर आबाल वनिताओं में प्रसिद्ध है, अतः उसे ही प्रथम बताया है क्योंकि ज्ञात को निर्दिष्ट करके उसमें अज्ञात का विधान किया जाता है। यही इस ग्रंथ की

विशेषता है, क्योंकि ब्रह्मसूत्रादि में प्रथम ब्रह्म का निर्देश जगत्कारण रूप से करके फिर उसे आत्मरूप बताया है ।

२. परमेश्वर की मायाशक्ति का ही इच्छा, ज्ञान और क्रिया यह त्रिविध भेद है। सृष्टि का मूल कारण उसकी इच्छा ही है । 'तदैक्षत' (छा० ६.२.३) 'स द्वितीयमैच्छत्' (बृ० १.४.३) इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं ।

३. समष्टि और व्यष्टि दोनों संसारों में ।

४. सत्ता सामान्य रूप से संसार में विद्यमान होना ही उसका प्रवेश कहा गया है । संसार उससे अलग नहीं कि पिंजरे में शेर की तरह वह प्रविष्ट हुआ हो ।

५. यद्यपि सारे संसार में वह मौजूद है, पर मन में चैतन्य रूप से उसका स्पष्ट भान है, अतः वहाँ विशेष अभिव्यक्ति है ।

६. जीव और ईश्वर का अभेद बताने के लिये ईश्वर में जीव की प्रत्यभिज्ञा कराते हैं । जैसे आबू में देखे हुये मोटे साधु को आगरे में दुर्बलावस्था में देखने पर जानकार कहना है यह वही साधु है ।

७. स्तुति अर्थात् प्रशंसा । प्रशंसा माने छोटे को बड़े की उपमा देना । परमेश्वर से जब कोई बड़ा ही नहीं तो उसकी स्तुति कैसे ? अतः यहाँ परमेश्वर की दूरी रूपी दोष को हटाकर अत्यन्त सन्निधि रूपता को बताना ही स्तुति है । अथवा प्रपंचस्थित परमेश्वर का प्रपंच रहित रूप से प्रतिपादन ही स्तुति है । अथवा परमेश्वर जीवरूप से स्थित है अतः उसके इस अज्ञान की निवृत्ति ही स्तुति है । वस्तुतस्तु परमेश्वर सभी कालों में स्वरूप से स्थित है पर जिस दृष्टि से आवरण है उसी दृष्टि से स्तुति भी है ।

—४-७—

प्रकरणग्रंथ का लक्षण है 'शास्त्रैक देश संबद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।' इसमें शास्त्र के जीव, जगत और परमेश्वर की एकता के विषय से संबंध पूर्व श्लोक में बताया । अब शास्त्र से भिन्नता बताते हुये अधिकारी का निरूपण करते हैं । अनेक जन्मों के पुण्यों के उदय होने

पर वैराग्य शम दम श्रद्धा तितिक्षा विचार आदि गुणों से सम्पन्न कोई साधक सब पदार्थों में अनित्यता का अनुभव करने पर भी उनमें सत्ता आदि दिखने के कारण विवेक प्राप्ति की इच्छा से गुरुशरण होकर प्रश्न पूछता है। प्रायः वेदान्तग्रंथों में संसार ताप से तप्त को अधिकारी बताया है पर इस ग्रंथ का वैशिष्ट्य है कि संसार से निराश और दुःखी इसका अधिकारी नहीं। वेदान्तियों को निराशावादी मानने वालों को इससे शिक्षा लेनी चाहिये कि जीवन की असफलता ही संन्यास और आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये कारण नहीं है वरन् उत्तम अधिकारी तो सारे भोगों की उपलब्धि में भी विचार से ही प्रवृत्ति करता है।

अस्ति प्रकाशत इति व्यवहारः प्रवर्त्तते।
तच्चास्तित्वं प्रकाशत्वं कस्मिन्नर्थे प्रतिष्ठितम् ॥४॥
किं तेषु तेषु वाऽर्थेषु किं वा सर्वात्मनीश्वरे।
ईश्वरत्वञ्च जीवत्वं सर्वात्मत्वञ्च कीदृशम् ॥५॥
जानीयात्तत्कथं जीवः किं तज्ज्ञानस्य साधनम्।
ज्ञानात्तस्य फलङ्किं स्यादेकत्वञ्च कथं भवेत् ॥६॥
सर्वज्ञस्सर्वकर्त्ता च कथमात्मा भविष्यति।
शिष्यं प्रतीत्थं पृच्छन्तं वक्तुमारभते गुरुः ॥७॥

(पदच्छेदः)

अस्ति प्रकाशते इति व्यवहारः प्रवर्त्तते।
तत् च अस्तित्वम् प्रकाशत्वम् कस्मिन् अर्थे प्रतिष्ठितम् ॥४॥
किम् तेषु तेषु वा अर्थेषु किम् वा सर्वात्मनि ईश्वरे।
ईश्वरत्वम् च जीवत्वम् सर्वात्मत्वम् च कीदृशम् ॥५॥
जानीयात् तत् कथम् जीवः किम् तज्ज्ञानस्य साधनम्।
ज्ञानात् तस्य फलम् किम् स्यात् एकत्वम् च कथम् भवेत् ॥६॥
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च कथम् आत्मा भविष्यति।
शिष्यम् प्रति इत्थम् पृच्छन्तम् वक्तुम् आरभते गुरुः ॥७॥

(सान्वयार्थः)

अस्ति	= विद्यमानता (और)
प्रकाशते	= प्रतीति
इति	= इससे
व्यवहारः	= सारा व्यवहार[1]
प्रवर्त्तते	= प्रवृत्त होता है।
तत्	= वह
अस्तित्त्वम्	= विद्यमानता
च	= और
प्रकाशत्त्वम्	= प्रतीति
कस्मिन्	= किस
अर्थे	= चीज में[2]
प्रतिष्ठितम्	= रहती हैं ?
किम्	= क्या
तेषु	= उन
तेषु	= उन (अनुभव में आने वाले प्रसिद्ध)
अर्थेषु	= पदार्थों में (रहती हैं)[3]
वा	= अथवा
किम्	= क्या
सर्वात्मनि	= मर्वरूप[4]
ईश्वरे	= ईश्वर में (रहती हैं) ?
वा	= एवं
ईश्वरत्त्वम्	= ईश्वर[5] भाव
जीवत्त्वम्	= जीवभाव[6]
च	= और
सर्वात्मत्वम्	= सब का अपनापना[7]
कीदृशम्	= किस प्रकार का है ?
तत्	= इन बातों को
जीवः	= जीव
कथम्[7]	= कैसे
जानीयात्	= समझे ?[8]
तज्ज्ञानस्य	= उस ज्ञान का[9]
किम्	= क्या
साधनम्	= उपाय है।
तस्य	= उसके
ज्ञानात्	= ज्ञान से
किम्	= क्या या किस प्रकार का
फलम्	= फायदा[10]
स्यात्	= होता है ?
च	= और
एकत्वम्	= जीवेश्वरजगत की एकता
कथम्	= किस प्रकार[11]
भवेत्	= होगी।
च	= और
आत्मा	= जीवात्मा
कथम्	= किस प्रकार
सर्वज्ञः	= सब जानने वाला
सर्वकर्त्ता	= (और) सब करने वाला
भविष्यति	= हो सकेगा ?[12]
इत्थम्	= इस प्रकार के प्रश्नों को

पृच्छन्तम्	=पूछने वाले	गुरुः[१४]	=गुरु
शिष्यम्	=शिष्य[११].	वक्तुम्[१५]	=उपदेश देना
प्रति	=के प्रति	आरभते	=शुरू करते हैं।

व्याख्या

१. सारे आन्तरिक और बाह्य व्यवहारों में पदार्थों की और भावनाओं की सत्ता और उनका ज्ञान निर्विवाद रूप से अपेक्षित है। बिना सत्ता के और ज्ञान के व्यवहार असंभव है। किसी चीज के बिना हुये हम उससे व्यवहार कैसे कर सकते हैं। और होने पर भी यदि हम जानते नहीं तो भी व्यवहार नहीं कर सकते।

२. अन्य निरपेक्ष किस चीज में इनका पर्यवसान होता है। अर्थात् इनका अन्तिम अधिष्ठान कौन है।

३. घड़े कपड़े आदि व्यावहारिक पदार्थों में ही सत्ता और प्रतीति होती है अतः क्या वे ही पदार्थ इसके आधार हैं यह शंका स्वाभाविक है। प्रायः नास्तिक दार्शनिक और सामान्य जनता ऐसा ही मानती है। पर ऐसा मानने से प्रत्येक पदार्थ में लम्बाई आदि की तरह सत्ता और प्रतीति को भिन्न भिन्न मानना पड़ेगा। एवं पदार्थ की उत्पत्ति और नाश के साथ साथ सत्ता और ज्ञान की भी उत्पत्ति और नाश स्वीकार करना होगा। सत्ता और ज्ञान के उत्पत्ति नाश का अनुभव होता नहीं अतः इस अनुभव के बल से यदि वे नित्य स्वीकार किये जावें तो उनका अधिष्ठान भी ईश्वर को मानना पड़ेगा। यही दो संदेह बीज हैं।

४. विशेषण निर्देश के विना सर्वत्र व्यापक सत्ता और ज्ञान में भेद का अनुभव न होने से अर्थात् पदार्थ स्वरूप से अतिरिक्त सत्ता और ज्ञान में कोई भेद अनुभव नहीं करता वरन् सर्वत्र केवल सत्ता और ज्ञान की एक रूपता का अनुभव करता है। यह प्रत्यक्ष उनकी एकाश्रयता बताता है। एक ही सत्ता और ज्ञान मान कर उपाधि भेद से भेद का अनुभव मानने पर लाघव रूपी अनुमान भी प्रत्यक्ष का पोषक है। अतः प्रत्यक्ष

और अनुमान से सत्ता और ज्ञान किसी एक में ही मानना पड़ता है जो सर्वरूप है। वह सर्वरूप कौन है इसकी विशेष जिज्ञासा होने पर 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' 'तस्य लोक स उ लोक एवं' (बृ. ६. ४. १३) आदि श्रुति प्रमाणों से वह परमेश्वर सिद्ध होता है।

५. क्या ईश्वर कपड़े से जुलाहे की तरह जगत से भिन्न होकर रहता है और जगत निर्माण करता है अथवा स्वयं जगद्रूप से बनता है। अर्थात् वह निमित्त कारण है या उपादान कारण है अथवा अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। साथ ही क्या ईश्वर जगत् का तन्तु से कपड़े की तरह आरम्भोपादान कारण है, अथवा दूध से दही की तरह परिणामी उपादान है अथवा सीप से चाँदी की तरह अधिष्ठान रूप से सत्तादि देकर विवर्त कारण हैं या वह ईंट, सीमेंट, चूना आदि से मकान की तरह संघातोपादान हैं। इसमें प्रथम नैयायिकों की, द्वितीय सांख्यों की, तृतीय वेदान्तियों की और चतुर्थ बौद्धों की मान्यता है।

६. आत्मा का जीवभाव क्या स्वतः है या अविद्या, अन्तःकरण आदि किसी उपाधि के कारण है।

७. वस्तुतः ईश्वर सर्वरूप और सबका आत्मा है या केवल प्रशंसा के लिये उसे ऐसा कहा जाता है।

८. किस प्रकार के ज्ञान से इन प्रश्नों का तात्त्विक ज्ञान संभव है। अर्थात् यह ज्ञान प्रत्यक्ष है, अनुमित है, शाब्द है अथवा और किसी प्रकार का साक्षात् अपरोक्षानुभव है।

९. वास्तविक ज्ञान की उत्पत्तिका साधन क्या है।

१०. आत्म ज्ञान का फल पुण्य विशेष है, या ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत लोकादि की प्राप्ति है अथवा इह लोक में फायदा है। या शोक मोह से उपलक्षित सारे संसार की निवृत्ति रूप पुनरागमन से रहित जीवितावस्था में ही कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति है।

किंच इसका फल नित्य हैं या अनित्य एवं स्वर्गादि की तरह अप्राप्त की प्राप्ति है या कण्ठ स्थित माला की तरह प्राप्तकी प्राप्ति है।

११. क्या इनकी एकता वास्तविक है और भिन्नता प्रतीतिमात्र है या भिन्नता सत्य है और किसी उपासना के लिए अथवा गुण विशेष की एकता के प्रतिपादन के लिए एकता कही गई है। जैसे मूर्ति को विष्णु उपासना के लिए कहा जाता है या शेक्सपीयर को कालिदास कवित्व गुण की साम्यता के लिए कहा जाता है ।

१२. जीव जो अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान है वह किसी साधन से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान बन सकेगा या सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान रूप ढ़क जाने से वह अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान हो गया है अतः स्वरूप की स्मृति से ही उसके स्वाभाविक गुण प्रकट हो जावेंगे अथवा वह स्वरूप से अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान ही रहेगा केवल प्रशंसार्थ उसे सर्वज्ञ कहा गया है। अथवा यदि परमेश्वर जीव बना है तो सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान किस कारण से और किस प्रकार बन गया ।

१३. 'नापुत्रायाशिष्याय वा दद्यात्' इस श्रुति के अनुरोध से जब तक कोई भी पुत्र या शिष्य न हो आत्म ज्ञान के उपदेश पानेका अधिकारी नहीं हो सकता। बिना शिष्य हुये उपदेश लेने पर भी वह व्यर्थ जाता है अर्थात् ज्ञानोत्पन्न नहीं होता। गुरु के लिए भी यह नियम है कि परीक्षा करके शिष्य ग्रहण करे और तभी उपदेश दे ।

शिष्य भी जबतक जिज्ञासु बनकर प्रश्न न करे तब तक उपदेश का अधिकारी नहीं क्योंकि तभी उसका चित्त समाहित होता है। अनिच्छुक को सुनाने पर उसका ध्यान अन्यत्र ही जायगा ।

१४. गुरु को भी योग्य शिष्य को अवश्य उपदेश देना चाहिए, यह शास्त्रीय मर्यादा है। अयोग्य शिष्य को उपदेश देने में जितना दोष है उससे भी अधिक दोष योग्यशिष्य को न देने में है क्योंकि इससे सम्प्रदाय परम्परा ही भंग हो जाती हैं ।

१५. ज्ञान का प्रयोजक श्रवण है, पुस्तक का पाठ नहीं इसे बताने को ही 'वक्तु' पदका प्रयोग है। गुरुमुख से सुनने पर ही वह अपूर्व उत्पन्न होता है जो ज्ञानका प्रयोजक है ।

ॐ विश्व न्दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्य न्निजान्तर्गतम्
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भू त यथा निद्रया ।
यःसाक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयन्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ।। १ ।।

(पदिच्छेदः)

विश्वम् दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यम् निजान्तर्गतम्
पश्यन् आत्मनि मायया बहिः इव उद्भू तम् यथा निद्रया ।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानम् एव अद्वयम्
तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नमः इदम् श्रीदक्षिणामूर्त्तये ।। १ ।।

(सान्वयार्थः)

यः = {जो (परमात्मा)

निद्रया इव = {निद्रा दोष की तरह

मायया = {माया की अघटित घटना शक्ति के द्वारा

आत्मनि = {आत्मा में

निजान्तर्गतम् = {अपने अन्दर ही होने वाले

विश्वम् = {संसार को

बहिः = {अपने से बाहर

उद्भूतम् = {उत्पन्न हुए

यथा = {की तरह

दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यम् = {शीशे में दिखने वाले शहर के समान

पश्यन् = {देखता हुआ

प्रबोधसमये = {जागने पर (ज्ञान हो जाने पर)

अद्वयम् = {अखण्ड और भेद रहित

एव = {ही

स्वात्मानम् = {अपने आपका

साक्षात्कुरुते = {प्रत्यक्षानुभव करता है

तस्मै = {उन वेदान्त और संन्यासियों के प्रथम आचार्य

श्रीगुरुमूर्तये = {गुरु रूपधारी

श्रीदक्षिणा-मूर्तये = { श्री दक्षिणामूर्ति भगवान को	इदम् = {यह नमः = { हमारा किया हुआ नमस्कार स्वीकृत हो ।

[सृष्टि के आदि में सनत्कुमारों ने निवृत्तिमार्ग का आश्रय लिया। वे जब भगवान सदाशिव को गुरु बनाने के लिये गये तो भगवान् ने दक्षिणामूर्ति रूप लेकर उन्हें चिन्मुद्रा से उपदेश दिया। अतः वे ही निवृत्ति मार्ग के प्रवर्तक परमहंस परिव्राजकाचार्य है।

अस्यार्थः

उपर्युक्त मूल श्लोक के तात्पर्य को प्रकट करने वाले वार्तिक श्लोकों से भगवान सुरेश्वराचार्य इन प्रश्नों के उत्तरों का प्रतिपादन करते हैं :—

अन्तरस्मिन्निमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत् ।
बहिर्वन्माययाऽऽभाति दर्पणे स्वशरीरवत् ॥ ८ ॥

(पदच्छेदः)

अन्तः अस्मिन् इमे लोकाः अन्तः विश्वम् इदम् जगत् ।
बहिर्वत् मायया आभाति दर्पणे प्रतिबिम्बितम्* ॥ ८ ॥

(सान्वयार्थः)

इमे = ये प्रत्यक्षादिप्रमाण सिद्ध अनुभव में आने वाले	दर्पणे = शीशे में
लोकाः = सारे लोक	प्रतिबिम्बितम् = पड़े हुये प्रतिबिम्ब की तरह
अस्मिन् = इस अपरोक्ष आत्म तत्त्व	अन्तः = अन्दर होते हुये भी[2]
अन्तः = के अन्दर[1] हैं।	मायया = माया से
इदम् = यह	बहिर्वत् = बाहिर की तरह
विश्वम् = विचित्र सारा	आभाति = प्रतीत होता है।
जगत् = संसार	

व्याख्या

१. सारे ब्रह्माण्ड परमात्मा से बाहिर अर्थात् भिन्न रहकर स्वतंत्र रूप से सत्ता वाले नहीं हैं अतः उन्हें अन्दर अर्थात् परमात्मसत्ता के अधीन सत्ता वाले ही मानना पड़ता है। 'ब्रह्मन् ह विश्वा भूतानि' (तै-ब्रा-२-८-८) इसमें प्रमाण है।

२. जैसे दर्पण में स्थित नगरी का प्रतिबिम्ब दर्पण से बाहिर प्रतीत होता है वैसे ही आत्मा में स्थित जगत् बाहिर प्रतीत होता है।

[इस श्लोक में स्तोत्र के प्रथम पाद का अर्थ किया गया है।]

*स्वशरीरवत् इति वा पाठः।

— ६ —

अब स्तोत्र में दिये निद्रा के दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं:—

स्वप्ने स्वान्तर्गतं विश्वं यथा पृथगिवेक्ष्यते*।
तथैव जाग्रत्कालेऽपि प्रपञ्चोऽयं विविच्यताम् ॥ ६ ॥

(पदच्छेदः)

स्वप्ने स्वान्तर्गतम् विश्वम् यथा पृथक् इव ईक्ष्यते।
तथा एव जाग्रत्काले अपि प्रपञ्चः अयम् विविच्यताम् ॥ ६ ॥

(सान्वयार्थः)

यथा = जैसे
स्वप्ने = स्वप्नावस्था में[1]
स्वान्तर्गतम् = अपने अन्दर होने वाला
विश्वम् = संसार
पृथक् = अपने से भिन्न बाहिर की
इव = तरह
ईक्ष्यते = प्रतीत होता है
तथा = वैसे
एव = ही
जाग्रत्काले = जागृत अवस्था में
अपि = भी
अयम् = यह
प्रपञ्चः = सारा संसार
(इति) = (अन्दर होते हुये बाहिर प्रतीत होता है ऐसा)
विविच्यताम् = विवेक दृष्टि से समझना चाहिये।

व्याख्या

१. स्वप्नावस्था में अनुभूत पदार्थ जीव के अन्तःकरण से न भिन्न है और न बाहिर है यह सर्ववादी सम्मत है। फिर भी उस काल में तो बाहिर ही प्रतीत होते हैं। वैसे ही जागृतकाल में भी पदार्थ बाहिर प्रतीत होने पर भी वस्तुतः आत्मा के अन्दर ही है।

*पृथगवेक्षते इति पाठभेदः।

—१०—

स्वप्नदृष्टान्त से ही सत्ता और ज्ञान का आत्मा ही आश्रय सिद्ध होता है इसका प्रतिपादन करते हैं:—

स्वप्ने स्वसत्तैवार्थानां सत्तानान्येति निश्चिता।
को जाग्रति विशेषोऽस्ति जडानामाशुनाशिनाम् ॥ १० ॥

(पदच्छेदः)

स्वप्ने स्वसत्ता एव अर्थानाम् सत्ता न अन्या इति निश्चिता।
कः जाग्रति विशेषः अस्ति जडानाम् आशुनाशिनाम् ॥१०॥

(सान्वयार्थः)

स्वप्ने = स्वप्न में
अर्थानाम् = अनुभूतपदार्थों की (सत्ता)
स्वसत्ता = आत्मसत्ता[1]
एव = ही (है)
अन्या = और कोई
सत्ता = सत्ता
न = नहीं (है)
इति = ऐसा
निश्चित = निश्चित है

जाग्रति = (फिर) जागृत्कालीन
जडानाम् = जड (और)
आशुनाशिनाम् = क्षणभंगुर[2] (पदार्थों में)
कः = क्या
विशेषः = विशेषता[3]
अस्ति = है ? (जो उन्हें भिन्न सत्ता वाला माना जाय।)

व्याख्या

१. स्वप्न में बाह्यपदार्थों को तो इन्द्रियों की उपरामता के कारण अनुभव किया नहीं जा सकता। यह प्रत्यक्ष सिद्ध भी है एवं स्वप्न में

अनुभूत देश काल वस्तुओं का जागृत् काल के अनुभव से विरोध होना रूप अनुमान से भी सिद्ध है। रात्रि के समय दिन का सूर्य देखना, मृतात्मा को जीवित देखना आदि विरोध स्पष्ट ही है। 'न तत्र रथा न रथयोगा' (बृ० ४·३·१०) 'स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय' (बृ० ६ ३·९) इत्यादि श्रुतियाँ भी इसमें प्रमाण हैं।

अन्दर तो योग्यदेशकाल का अभाव स्पष्ट ही है अतः वहाँ वास्तविक दृश्य पदार्थ नहीं है यह सिद्ध हो है। जब पदार्थ को वास्तविकता ही नहीं तब जाति रूप सत्ता या कार्य रूप मत्ता तो मानी ही कैसे जा सकती है। इसीलिये वेद वहाँ वासना की निमित्त कारणता से दर्शनमात्र विषय उसे बताता है। 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ० ६·३·१०)। स्वप्न में इसीलिये पदार्थों की सत्ता आत्म रूप ही स्वीकार करनी पड़ती है।

२. जिस प्रकार स्वप्नानुभूत पदार्थ नश्यमानस्वभाववाले होने से द्रष्टा से भिन्न नहीं है उसी प्रकार जागृत् के पदार्थ भी हैं फिर उन्हें भिन्न कैसे माना जावे। जैसे स्वप्न में निद्रादोष है वैसे ही यहाँ अविद्या दोष से पदार्थ अन्दर होते हुये भी बाहिर दीखते हैं। अतः पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है।

३. आरोपित की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से अलग नहीं होती जैसे सर्प की सत्ता रस्सी की सत्ता से भिन्न नहीं हैं वैसे ही पदार्थों की सत्ता आत्मा से भिन्न नहीं है। यहाँ निम्नांकित अनुमान करना चाहिये :-

(क) जाग्रद्दृष्टार्थाः, आत्मसत्तयैव सत्तावन्तः, तस्मिन्नेवाव्यभिचारेणोपलभ्यमानत्वात्, स्वाप्नार्थवत्।

(ख) जाग्रद्दृष्टार्थाः, स्वसत्तारहिताः, जडत्वात्, स्वाप्नार्थवत्।

(ग) जाग्रद्दृष्टार्थाः, अन्यसत्तयैव सत्तावन्तःजडाश्च, अव्यभिचरितेऽर्थे उपलभ्यमानत्वे सति व्यभिचारित्वात्, आशुतरविनाशित्वाद्वा, रज्ज्वां सर्पधारादण्डमालादिवत्, स्वाप्नार्थवच्च।

—११—

दृश्य सत्ता को अधिष्ठान रूप बताकर ज्ञान को भी तद्रूप बताते हैं :—

स्वप्ने प्रकाशो भावानां स्वप्रकाशान्न हीतरः ।
जाग्रत्यपि तथैवेति निश्चिन्वन्ति विपश्चितः ॥११॥

(पदच्छेदः)

स्वप्ने प्रकाशः भावानाम् स्वप्रकाशात् न हि इतरः ।
जाग्रति अपि तथा एव इति निश्चिन्वन्ति विपश्चितः ॥११॥

(सान्वयार्थः)

स्वप्ने = स्वप्नावस्था में
स्वप्रकाशात् = आत्मप्रकाश से[1]
भावानाम् = पदार्थों का
प्रकाशः = प्रकाश है अर्थात् ज्ञान होता है ।
इतरः = (क्योंकि) दूसरा कोई प्रकाश
हि = निश्चित रूप से (वहाँ)
न = नहीं (है)
तथा = ठीक इस प्रकार
एव = ही
जाग्रति = जाग्रत् में[2]
अपि = भी (है)
इति = ऐसा
विपश्चितः = विद्वान्[3]
निश्चिन्वन्ति = निश्चिय करते हैं ।

१. स्वप्न में सूर्यादि का कोई प्रकाश स्वतन्त्ररूप से नहीं है परन्तु आत्मप्रकाश ही वहाँ है । 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ६· ३· ६) 'अत्रायं पुरुषस्स्वयं ज्योति' (बृ० ६· ३· ६) इत्यादि श्रुतियाँ भी इसमें प्रमाण हैं । वस्तुतस्तु जिसकी सत्ता ही स्वतंत्र नहीं उसको प्रतीति स्वतंत्र कैसे हो सकती है । जैसे रस्सी की सत्ता के अधीन सर्प की सत्ता है तो रस्सी के सामान्य ज्ञान के अधीन ही सर्प का ज्ञान भी संभव है । अन्यथा घोरांधकार में सर्पभ्रान्ति संभव होती । अतः स्वाप्नपदार्थों का ज्ञान आत्मा के ज्ञान से ही है ।

२. जाग्रत्काल में भी आत्मा के प्रकाश के बिना पदार्थों का ज्ञान नहीं; अतः उनका ज्ञान आत्मज्ञान से भिन्न सत्ता वाला नहीं हो सकता यह निश्चित होता है। यहाँ निम्नानुमान समझना चाहिये :—

जाग्रद्दृश्याः, अन्याधीनप्रकाशाः, अन्यस्मिन् भासमान एव सति भासमानत्वात्, स्वप्नदृश्यवत् ।

दृश्य पदार्थों को अनन्याधीन प्रकाश अर्थात् स्वतः प्रकाश तो कोई भी नहीं मान सकता क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर तो इन्द्रिय मन आदि की भी अपेक्षा उनके ज्ञान के लिये नहीं होनी चाहिये। और इन्द्रियादि की व्यर्थता तो सिवाय बौद्धों के कोई भी नहीं मानता एवं प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है। अतः अनुमान में अप्रयोजकता की शंका निर्मूल है।

३. विद्वान् ज्ञानी अनुमान से निश्चित करते हैं; अथवा आत्म-साक्षात्कार वाले स्वानुभव से निश्चित करते हैं।

—१२—

अब मायावस्था में ही विश्वदर्शन का प्रतिपादन करके पूर्वार्ध की व्याख्या के पश्चात् उत्तरार्ध की व्याख्या करते हुये आत्मसत्ता और आत्म ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं :—

निद्रया दर्शितानर्थान्न पश्यति यथोत्थितः ।
सम्यग्ज्ञानोदयादूर्ध्वन्तथा विश्वन्न पश्यति ॥ १२ ॥

(पदच्छेदः)

निद्रया दर्शितान् अर्थान् न पश्यति यथा उत्थितः ।
सम्यग्ज्ञानोदयात् ऊर्ध्वम् तथा विश्वम् न पश्यति ॥ १२ ॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जिस प्रकार	दर्शितान्	=दिखाये गये
उत्थितः	=(सोकर) उठा हुआ (पुरुष)	अर्थान्	=(स्वप्न के) पदार्थों को
निद्रया	=निद्रा रूपी दोष के द्वारा[1]	न	=नहीं
		पश्यति	=देखता है
		तथा	=वैसे ही

सम्यग्ज्ञानोदयात् = ठीक ज्ञान[२] के उत्पन्न होनें के	विश्वम् = संसार वैचित्र्य[३] को
ऊर्ध्वम् = बाद (ज्ञानी)	न = नहीं
	पश्यति = देखता है।

व्याख्या

१. दोषनिवृत्त होने पर दोष मे. उत्पन्न की निवृत्ति स्वाभाविक है। 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' यह न्याय प्रसिद्ध है। इसी प्रकार निद्रा और अज्ञानरूपी दोष के हटने पर उनमे क्रमशः उत्पन्न स्वप्न और जागृत की भी निवृत्ति अवश्यंभावी है।

२. सर्वाधिष्ठानरूप से प्रत्यगात्मा का ब्रह्मरूप से साक्षात्कार ही ज्ञान है। इसकी दृढ़ता को ही 'सम्यक्' पद से कहा गया है। सहजावस्था में ही यह संभव है। समाधिकाल में इसका अनुभव तो होता है पर उसके बाद व्युत्थान भी होता है अतः फिर संसार दृष्टि हो जाती है।

३. विश्वम् पद से जगद्वैचित्र्य को ध्वनित करके बताया कि वह सर्वत्र एकरस ब्रह्म का ही अनुभव करता है। ज्ञानी कोई अन्धा या बहिरा नहीं हो जाता। पर वह उस सुनार की तरह हो जाता है जिसकी दृष्टि में सोना ही है गहना नहीं।

विश्वम् पद जागृदभिमानी जीव का भी वाचक है। अतः इसका अर्थ यह भी है कि वह जीवभाव में अपने को नहीं देखता वरन् ब्रह्मभाव में ही देखता है। उसका जीवाभिमान गलित हो जाता है।

—१३—

अद्वैतानुभव के प्रकार को भगवान् गौडपादाचार्यों के शब्दों में बताते हैं :—

अनादिमायया सुप्तो, यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अज*न्मनिद्रमस्वप्नमद्वैतम्बुध्यते तदा ॥ १३ ॥

(पदच्छेदः)

अनादिमायया सुप्तः यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजन्मनिद्रम् अस्वप्नम् अद्वैतम् बुध्यते तदा ॥१३॥

(सान्वयार्थः)

यदा	=जब[1]	अजन्मनिद्रम्	=जाग्रत और सुषुप्ति से रहित (और)
अनादिमायया	=अनादि माया[2] से	अस्वप्नम्	=स्वप्न से रहित (और)
सुप्तः	=सुलाया हुआ	अद्वैतम्	=द्वैत से रहित का
जीवः	=जीव	बुध्यते	=साक्षात्कार करता है ।
प्रबुध्यते	=जगाया[3] जाता है		
तदा	=तब		

व्याख्या

१. यदा पद से ब्रह्मज्ञान की दुर्लभता बताई है । अनेक जन्मों के पुण्यों का फलरूप ही ज्ञान में प्रवृत्ति है । श्रीकृष्ण ने भी 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' (गी०७·१९) 'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी०६·४९) 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्तितत्त्वतः' (गी०७·३) इत्यादि वाक्यों में दुर्लभता बताई है । श्रुति ने भी 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्नविद्युः' (काठ० २-७) इत्यादि वाक्यों से यही कहा है ।

२. माया की अनादिता से जीवभाव की अनादिता भी सिद्ध होती है । अतः जीव के विषय में कैसे जीवभाव की प्राप्ति हुई यह प्रश्न व्यर्थ है । स्वप्न काल में स्वाप्नसंसार अनादि ही है क्योंकि निद्रा स्वप्न में प्रारम्भ नहीं होती ।

३. जगाया जाता है अतः स्वयं जागने में असमर्थ है । गुरु के मुख से निकले वेदान्तवाक्य ही जगा सकते हैं । स्वप्न से भी जीव नाम

बुलाकर जगाया जाता है। इससे ज्ञानोत्पत्ति में श्रुति और गुरु का पारतन्त्र्य ही मानना पड़ता है। भगवान् शंकरभगवत्पादाचार्य इसीलिये सर्वशास्त्रवेत्ता को भी स्वातन्त्र्य से ब्रह्मान्वेषण का निषेध करते हैं। श्रुति भी 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (मु०१·२·१२) 'आचार्याद्धि एवं विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' (छा०४·९·३) एवं स्मृति भी 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' (गी०४·३४) इसी का प्रतिपादन करती है।

*अजमनिद्रं इति वापाठः।

—१४—१५—

गौडपादकारिका के यदा व तदा शब्द का अर्थ स्वयं भगवान् वार्तिककार करते हैं :—

श्रुत्याचार्यप्रसादेन योगाभ्यासवशेन च।
ईश्वरानुग्रहेणापि स्वात्मबोधो यदाभवेत् ॥१४॥
भुक्त यथाऽन्नङ्कुक्षिस्थं स्वात्मत्वेनैव पश्यति।
पूर्णाहन्ताकवलितम्विश्वंयोगीश्वरस्तथा ॥१५॥

(पदच्छेदः)

श्रुत्याचार्यप्रसादेन योगाभ्यासवशेन च।
ईश्वरानुग्रहेण अपि स्वात्मबोधः यदा भवेत् ॥१४॥
भुक्तम् यथा अन्नम् कुक्षिस्थम् स्वात्मत्वेन एव पश्यति।
पूर्णाहन्ताकवलितम् विश्वम् योगीश्वरः* तथा ॥१५॥

(सान्वयार्थः)

श्रुत्याचार्यप्रसादेन	=वेद[1] और गुरु[2] की प्रसन्नता से	अपि	=एवं
च	=और	ईश्वरानुग्रहेण	=ईश्वर[4] की कृपा से
योगाभ्यासवशेन	= योग[3] के अभ्यास बल से	यदा	=जब
		स्वात्मबोधः	=अपने स्वरूप का साक्षात्कार
		भवेत्	=होता है

(तदा) =(तब[१])
यथा =जैसे
कुक्षिस्थम् =पेट में रहने वाले
भुक्तम् =खाये हुये
अन्नम् =अन्न को (मनुष्य)
स्वात्मत्वेन =अपने आत्मरूप से
एव =ही
पश्यति =देखता है

तथा =वैसे ही
योगीश्वरः =योगियों का अधीश्वर[१]
पूर्णाहन्ता-कवलितम् } पूर्णाहन्ता से =निगले हुये
विश्वम् =विश्व को
(पश्यति) =देखता है ।

व्याख्या

१. वेद ही ज्ञान कराने में समर्थ है क्योंकि वैदिक वाक्य में ही अपूर्व शक्ति निहित है । वेद में श्रद्धा का होना ही वेद की प्रसन्नता है । जिस प्रकार मनुष्य अपने नाम से ही जगता है, नाम के पर्याप्य से नहीं, कमल को पद्म कहने से नहीं, उसी प्रकार वैदिक महावाक्य ही जीव को अनादि माया से जगाने में समर्थ है । इसलिए वेद में अश्रद्धालु पर वेद प्रसन्न नहीं है और वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है ।

२. गुरु आत्मतत्त्वोपदेश प्रसन्न होने पर ही करेगा । क्योंकि आत्मविद्या का उपदेशक किसी भी साँसारिक कारणों से प्रभावित नहीं हो सकता । 'इमां अद्भिः'[१] (छा० ३·११·६) स्वयं सर्वेषणाविनिर्मुक्त होने पर ही आत्मज्ञान की संभावना बताती है । अतः केवल प्रसन्नता ही उसे उपदेश करा सकती है । इसीलिए शास्त्रों ने तन मन धन से सर्वथा उसकी प्रसन्नता के प्रयत्न को शिष्य का कर्त्तव्य बताया । प्रसन्नता का कारण कोई एक नहीं । रैक्व ने जानश्रुति के प्रबल धन को ठुकरा दिया तो याज्ञवल्क्य ने जनक के धन को ग्रहण कर लिया । शिष्य दूसरों को देख प्रायः मन में यह भाव लाता है कि दूसरे के जैसा कार्य करने पर गुरु प्रसन्न हो जावेंगे पर यह भ्रान्तधारणा है । प्रत्येक शिष्य के पूर्व संचित वासनाओं को देखने वाला गुरु उन वासनाओं की प्रबलता शान्त होने पर या ईश्वराभिमुखी होने पर ही प्रसन्न होता है । अतः किसी की

नकल करने की आवश्यकता नहीं, सहज भाव से सर्वथा अपने को मिटाकर सब प्रकार से उनका बनने की आवश्यकता है । आचार्य शब्द का अर्थ भी स्मर्तव्य है 'आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यः परिगीयते ॥' जो शास्त्रों का चयन करे, शिष्य को आचार में स्थापित करे एवं स्वयं सदाचारपरायण हो वही आचार्य हो सकता है । जो स्वयं उपासना भक्ति नहीं करता वह भक्ति का उपदेष्टा भी नहीं हो सकता । इसीलिए शास्त्रों में गुरु को सिद्ध होने पर भी साधक की तरह आचरण करने का विधान किया है । जो सिद्ध होने पर भी जिस किसी कारण से सदाचारी न हो वह आचार्यता के योग्य नहीं है । अतः उन्मत्त पिशाचादि की तरह रहने वाले ज्ञानी गुरु नहीं बन सकते और उनका अपमान आदि भी पाप का जनक नहीं हो सकता ।

३. चित्त की एकाग्रता का अभ्यास किये बिना वेदान्त ज्ञान स्थिर नहीं हो सकता । अतः योग का अभ्यास आवश्यक है । आधुनिक वाचिक वेदान्ती योग की उपेक्षा करने के कारण ही साक्षात्कार में असमर्थ रहते हैं । योग के अनन्त भेद हैं अतः स्वगुरूपदिष्ट योग का अभ्यास ही करे ।

४. परमेश्वर की कृपा यद्यपि सभी कार्यों में सामान्यरूप से अपेक्षित होती है पर आत्मविद्या तो उसकी कृपा पर ही अवलम्बित है । निष्काम कर्मानुष्ठान से ही उसकी कृपा होती है । उसकी कृपा से ही गुरु आदि की प्राप्ति है । 'तमेतं वेदानुवचनेन' (बृ०४·४·२२) श्रुति भी यही कहती है । 'यमेवैषवृणुते' (मु०३·२·३) तो स्पष्ट ही ईश्वर की कृपा को ही एकमात्र कारण बताती है । यह बात स्मृतियों में अनेकं प्रकार से प्रतिपादित की गई है । 'नाशयाम्यात्मभावस्थो' 'तमेव शरणं गच्छ' 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' आदि गीता वाक्य भी इसमें प्रमाण हैं । उपासक के चित्त में स्वतत्त्वाविष्करण ही उस कृपा का लक्षण है; धन पुत्रादि की प्राप्ति नहीं ।

इन तीन साधनों से ज्ञानसाधनविषयक प्रश्न का उत्तर दे दिया गया।

५. कारिकास्थ तदा पद का अर्थ करते हैं। खाया हुआ भोजन अपने से भिन्न नहीं प्रतीत होता वैसे ही शिवशक्ति सामरस्यानुभव काल में पूर्णाहन्ता का उदय होने पर सारा विश्व अपने से अभिन्नरूप से ही अनुभव होता है। शिव को चैतन्य और शक्ति को जड़ मानकर ही भेद दर्शन है। परिच्छिन्नाहंकार से ही अपूर्णता है। इन दोनों के हटने पर वास्तविक एकता का अनुभव होता है।

जानीयात्तत्कथं जीवः ? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ दे दिया गया।

६. योगियों का अर्थात् निदिध्यासु परमहंसों का अग्रणी हो जाता है। ऐसा व्यक्ति ही परमहंसों को ज्ञानमार्ग का दर्शन करा सकता है। इस पूर्णाहंता की प्राप्ति के बिना 'गुरुत्व' नहीं केवल गुरुपना (भारी भरकम शरीर या पद) ही रहता है। इसीलिये शास्त्रों में गुरु को दुर्लभ बताया है।

*योगेश्वरः पाठभेद।

—१६—१८—

यहाँ तक स्तोत्र की पदव्याख्या करके वार्तिक के अनुक्तचिन्तन रूपी लक्षण को प्रकट करते हुये भगवान वार्तिककार स्तोत्र के भावार्थ को बताने के व्याज से भूमिका में उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हैं :—

यथा स्वप्ने नृपो भूत्वा भुक्त्वा भोगान्यथेप्सितान्।
चतुरंगबलोपेतश्शत्रुञ्जित्वा रणाङ्गणे॥ १६॥
परात्पराजितो भूत्वा वनम्प्राप्य तपश्चरन्।
मुहूर्तमात्रमात्मानं मन्यते कल्पजीविनम्॥ १७॥
तथैव जाग्रत्कालेऽपि मनोराज्यङ्करोत्यसौ।
कालनद्योघयोगेन क्षीणमायुर्न पश्यति॥ १८॥

(पदच्छेदः)

यथा स्वप्ने नृपः भूत्वा भुक्त्वा भोगान् यथा ईप्सितान्।
चतुरंगबलोपेतः शत्रुम् जित्वा रणाङ्गणे॥ १६॥

*परात् पराजितः भूत्वा वनम् प्राप्य तपः चरन् ।
मुहूर्तमात्रम् आत्मानम् मन्यते कल्पजीविनम् ॥ १७ ॥
तथैव जाग्रत्काले अपि मनोराज्यम् करोति असौ ।
कालनद्योघ[+]योगेन क्षीणम् आयुः न पश्यति ॥ १८ ॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे
स्वप्ने	=स्वप्न[1] में
चतुरंग बलोपेतः	=चारों अंगों वाली फौज से युक्त
नृपः	=राजा
भूत्वा	=होकर
रणांगणे	=युद्ध के मैदान में
शत्रुम्	=दुश्मन को
जित्वा	=जीतकर
यथा	=जैसा
ईप्सितान्	=मर्जी में आवे
भोगान्	=वैसे भोगों को
भुक्त्वा	=भोगकर
परात्	=पश्चात् दूसरे से
पराजितः	=हारा हुआ
भूत्वा	=होकर के
वनम्	=वन को
प्राप्य	=जाकर
तपश्चरन्	=(या तपस्या करते हुये) कष्ट भोगते हुये
मुहूर्तमात्रम्[2]	=अल्पसमय में ही
आत्मानम्	=अपने आपको
कल्पजीविनम्	=कल्पस्थायी[3]
मन्यते	=मान लेता है
तथा	=वैसे
एव	=ही
असौ	=यह (चिदात्मा)
जाग्रत्काले	=जाग्रत काल में
अपि	=भी
मनोराज्यं	=मन के राज्य को
करोति	=बनाता है
कालनद्योघयोगेन	=(पर) काल नदी के वेग से
क्षीणं	=बीत रही है
आयुः	=उमर को
न	=नहीं
पश्यति	=अनुभव करता है ।

व्याख्या

१. स्वप्न दृष्टान्त से एक अखण्ड चिदात्मा में ईश्वरभाव और जीवभाव दोनों माया के कारण हैं यह सिद्ध करके 'ईश्वरत्वं च जीवत्वं सर्वात्मत्वं च कीदृशम्' का जवाब देते हैं।

जिस प्रकार राजा की स्वप्नावस्था में स्वातन्त्र्यानुभूति है उसी प्रकार ईश्वरभाव में भी स्वातंत्र्य और आप्तकामता है। जिस प्रकार हृतराज्य में पारतंत्र्यानुभूति है उसी प्रकार जीवभाव में भी पारतन्त्र्य और अभिलापाओं की अप्राप्ति है।

वस्तुतस्तु अखण्डचिदात्मा ही जब पदार्थों को अपने अधीन और अभिलाषाओं को पूर्ण हुआ अनुभव करता है तो ईश्वर पद का वाच्य है और जब अपने को अधीन और अप्राप्तकी अभिलाषा करता है तो जीव पद का वाच्य है।

२. मुहूर्त=४८ मिनट। थोड़े समय में दीखने वाले स्वप्न में दीर्घकालका अनुभव प्रत्यक्ष सिद्ध है।

३. प्रायः जागृत्कालीन अनुभव की निरन्तरता को उसके सत्यत्व में प्रमाण रूप से उद्धृत किया जाता है। वस्तुतः स्वप्न में भी नैरन्तर्य और अनादिकाल का अनुभव ही होता है। जैसे वहाँ भ्रम है वैसे ही यहाँ भी माया दोष से भ्रम हो रहा है।

४. जैसे स्वप्न कब टूटेगा पता नहीं वैसे ही यह शरीर कब समाप्त होगा पता नहीं। फिर भी भविष्य का कार्यक्रम बनाता ही रहता है मानो हमेशा बना रहेगा। आयु की क्षीणता का अज्ञान जीव को ईश्वर से विपरीतता है।

*पश्चात् पाठभेदः। +वेगेन पाठभेदः।

—१९—

ईश्वर ही माया के वश होकर जीव भाव को प्राप्त होता है। जीव नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है इसका प्रतिपादन करते हैं :—

मेघच्छन्नोंऽशुमालीव मायया मोहितोऽधिकम् ।
किञ्चित्कर्ता च किञ्चिज्ज्ञो लक्ष्यते परमेश्वरः ॥ १९ ॥

(पदच्छेदः)

मेघच्छन्नः अंशुमाली इव मायया मोहितः अधिकम् ।
किञ्चित्कर्ता च किञ्चिज्ज्ञः लक्ष्यते परमेश्वरः ॥१९॥

(सान्वयार्थः)

मेघच्छन्नः =बादल से ढंके हुये[1]
अंशुमाली[2] =सूर्य
इव =की तरह
परमेश्वरः =परमेश्वर
मायया =माया[3] से
अधिकम् =पूर्णरूप[4] से
मोहित =मोहित[5] होकर
किञ्चित्कर्ता =अल्प क्रियावान्
च =और
किञ्चिज्ज्ञः =अल्पज्ञः
लक्ष्यते =प्रतीत[6] होता है।

व्याख्या

१. सूर्य को बादल ढंक भी देता है और सूर्य बिम्ब दिखाई नहीं भी देता फिर भी सामान्य प्रकाश तो रह ही जाता है। इसी प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता ढंक जाने पर भी अल्पज्ञता और अल्पशक्तिमत्ता तो रह ही जाती है।

२. अंशुमाली = किरणों की माला वाला। सूर्य की किरणें ही प्रकाश है; सूर्य और किरणें भिन्न नहीं। समस्त किरणों का समूह ही सूर्य है। इन बातों को ध्वनित करके ईश्वर का विकास ही ज्ञान क्रिया है, ज्ञान क्रिया ईश्वर से भिन्न नहीं और समस्त ज्ञान क्रिया का समूह ही ईश्वर है यह बताया जा रहा है। जिस प्रकार सामान्यप्रकाश रूप से भी सूर्य ही किरण रूप से भासित हो रहा है उसी प्रकार जीव की सामान्य क्रिया और ज्ञान भी परमेश्वर ही कर रहा है। केवल ईश्वर का भान नहीं है।

३. बादल विचार दृष्टि से सूर्य से अभिन्न है। बादल याने जलराशि और सूर्य की गर्मी का संयोग। जल तो तेज से उत्पन्न होने के

कारण तेजस्वरूप है ही। अतः तेजस्वरूप ही बादल है और इसलिये तेजस्वरूप सूर्य से अभिन्न है। स्वयं सूर्य ही अपने आप को ढंक रहा है। इसी प्रकार शक्ति शिवस्वरूप होने पर भी शिव को ढंकती है। पुनः सूर्य की गर्मी से वायुचापों में भेद उत्पन्न होता है जो बादल को दूर कर देता है; उसी प्रकार परमेश्वर ही स्वयं माया को दूर कर देता है। वेदान्त में माया की सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं, माया ब्रह्मरूप ही है। नहीं तो अद्वैतवाद ही न रह पायगा।

४. उस ज्ञान क्रिया में सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता भी तो स्वयं में राजा की भाँति कल्पित ही हैं अतः वहाँ भी मायाच्छादन तो है ही पर वह अल्पाच्छादन है। इसीलिये शुद्धसत्त्वप्रधाना माया ईश्वर की उपाधि मानी गई है। उसकी अपेक्षा मलिनसत्त्वप्रधाना माया अधिक आच्छादन करती है, अतः वह जीव की उपाधि मानी गई है। इस मलिनता के तारतम्य से ही जीवों का वैचित्र्य है। इसीसे जीवों में ज्ञान और क्रिया का तारतम्य देखने में आता है।

५. ईश्वर में माया उपाधि है पर उसे अज्ञान नहीं है। वह उसे वास्तविक रूप से अर्थात् स्वशक्तिरूप से ही जानता है। अतः वहाँ मोह नहीं है। 'मोहो नाम विवेकाभावः' के अनुसार विवेक न होना ही मोह है। जीव को इसीसे मोहित कहा गया है।

६. वस्तुतः जीवकाल में भी वह परमेश्वर ही है। केवल प्रतीत नहीं हो रहा है। वास्तविक परिणाम का अभाव बताने के लिये ही ऐसा कहा गया है।

—२०—

स्वप्नस्थ दृष्टान्त में जीवभाव का स्वरूप बताकर परमेश्वर का स्वरूप बताते हैं :—

यद्यत्करोति जानाति तस्मिन्तस्मिन्परेश्वरः।
राजा विद्वान् स्वसामर्थ्यादीश्वरोऽयमितीर्यते ॥ २० ॥

(पदच्छेदः)

यत् यत् करोति जानाति तस्मिन् तस्मिन् परेश्वरः ।
राजा विद्वान् स्वसामर्थ्यात् ईश्वरः अयम् इति ईर्यते ॥ १४ ॥

(सान्वयार्थः)

परेश्वरः	=परमेश्वर[1]	(परेश्वरः)	=(इसी प्रकार परमेश्वर)
स्वसामर्थ्यात्	=स्वातंत्र्यशक्ति से	(स्वसामर्थ्यात्)	=(स्वातंत्र्यशक्ति से)
यत्	=जो कुछ	यत्	=जो कुछ
करोति	=करता है	जानाति	=जानता है
तस्मिन्	=उसमें	तस्मिन्	=उसमें
अयम्	=यह	(अयम्)	=(यह)
राजा	=राजा	विद्वान्	=विद्वान्
ईश्वरः	=ईश्वर है (समर्थ है)	(ईश्वरः)	=(ईश्वर है)
इति	=ऐसा	(इति)	=(ऐसा)
ईर्यते	=कहा जाता है;	(ईर्यते)	=(कहा जाता है।)

व्याख्या

१. सर्वज्ञ और सर्वकर्ता परमेश्वर ही है अतः जहाँ भी क्रिया या ज्ञान है वहाँ परमेश्वर ही है। लोक में भी अपनी ही शक्ति से क्रिया करने वाला राजा ईश्वर कहा जाता है। अथवा सर्वतंत्रस्वतंत्र विद्वान् ईश्वर कहा जाता है। इस प्रकार लोग भी स्वतंत्र कर्ता या ज्ञाता को ईश्वर मान लेते हैं। परतंत्रता से कार्य करने वाला लोक में ईश्वर नहीं कहा जाता।

—२१—

सर्वात्मता को सुस्पष्ट करते हैं:—

ज्ञानक्रिये शिवेनैक्यात्संक्रान्ते सर्वजन्तुषु ।
ईश्वरत्वञ्च जीवानां सिद्धं तच्छक्तिसङ्गमात् ॥ २१ ॥

(पदच्छेदः)

ज्ञानक्रिये शिवेन ऐक्यात् संक्रान्ते सर्वजन्तुषु ।
ईश्वरत्वम् च जीवानाम् सिद्धम् तच्छक्तिसंगमात् ॥ २१ ॥

(सान्वयार्थः)

सर्वजन्तुषु	=सब प्राणियों में	तच्छक्तिसंग-	=ईश्वर की शक्ति से
ज्ञानक्रिये	=ज्ञान और क्रिया	मात्	संयुक्त होने के
शिवेन	=शिवसे		कारण
ऐक्यात्	=एकता के कारण[1]	जीवानाम्	=जीवों का
संक्रान्ते	=आई हैं	ईश्वरत्वम्	=ईश्वरभाव[2]
च	=और इसीलिये	सिद्धम्	=सिद्ध होता है।

व्याख्या

१. शिव से एकता के कारण ही जीवों में स्वतंत्र ज्ञान क्रिया आई हैं क्योंकि ज्ञानक्रिया शिवसे अभिन्न है। जैसे लोहे में गरमी है तो अग्नि अवश्य ही उसमें आई है इसी प्रकार जीवों में ज्ञानक्रिया है तो अवश्य ही ईश्वर है। लोहा जलाता है माने लोहे में स्थित अग्नि जलाती है। दोनों की एकता स्वीकार करके ही लोहा जलाता है ऐसा प्रयोग है। इसी प्रकार जीव स्वतन्त्रता से जानता है या करता है माने जीव में स्थितशिव जानता या करता है। दोनों में अभेद स्वीकार करके ही ऐसा प्रयोग संभव हैं।

२. शक्ति शक्तिमान् में ही रहती है। ईश्वर शक्ति जीव में तभी रह सकती है जब वह ईश्वर हो। अतः जीव का ईश्वरत्व मानना पड़ता है।

[इस प्रकार शिव की सर्वात्मता विषयक प्रश्न का उत्तर दे दिया गया]

—२२—

अब ज्ञान की स्वप्रकाशता और एकता सिद्ध करते हैं:—

अयङ्घटोऽयम्पट इत्येवन्नानाप्रतीतिषु।
अर्कप्रभेव स्वज्ञानं स्वयमेव प्रकाशते॥ २२॥

(पदच्छेदः)

अयम् घटः अयम् पटः इति एवम् नानाप्रतीतिषु।
अर्कप्रभा इव स्वज्ञानम्* स्वयम् एव प्रकाशते॥ २२॥

(सान्वयार्थः)

अर्कप्रभा	=सूर्य के प्रकाश[१]
इव	=की तरह
स्वज्ञानम्[२]	=द्रष्टा का स्वरूपभूत ज्ञान
स्वयम्	=खुद[३]
एव	=ही
अयम्	=यह
घटः	=घड़ा
अयम्	=यह
पटः	=कपड़ा
इति	=इस
एवम्	=प्रकार से
नानाप्रतीतिषु	=भिन्न[४] अनुभवों में
प्रकाशते	=प्रकाशित होरहा है।

व्याख्या

१. सभी पदार्थों में वस्तुतः सूर्य का प्रकाश ही दृष्टिगोचर होता है। जैसे खोली चढ़े हुये तकिये की खोली ही तकियाकार बनी हुई दिखती है, तकिये की वास्तविकता का पता नहीं; ठीक उसी प्रकार प्रकाश चढ़े हुये पदार्थों में प्रकाश ही पदार्थाकार से भान होता है। अतः कह सकते हैं कि सूर्य प्रभा ही सारे पदार्थ रूप से बनादिख रहा है। प्रकाश की खोली इसलिये मानी कि प्रकाश के विना किसी पदार्थ का दर्शन नहीं। ठीक इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान के विना किसो का ज्ञान नहीं इसलिये सारे अनुभव ज्ञान की खोली चढ़े हुये हैं। अतः ज्ञान ही सारे आकार धारण किये अनुभूत हो रहा है यह निःसन्दिग्ध है। जैसे सूर्यप्रभा स्वप्रकाश और एक है वैसे ही ज्ञान को भी स्वीकार करना पड़ता है।

२. स्वस्य द्रष्टुः स्वरूपभूतं ज्ञानं स्वज्ञानम्। ज्ञान द्रष्टा का स्वरूप है यह कहकर आत्मा में ज्ञान रूपी शंका की निवृत्ति की गई है। ज्ञान को गुण स्वीकार करने पर आत्मा में जड़ता आदि अनेक दोष आ जाते हैं।

३. ज्ञान का न तो परिणाम है और न ज्ञान का किसी के साथ संयोग है। स्वयं ज्ञान ही एक रूप से रहते हुये अनेक रूप से प्रतीत होता

है जैसे सूर्य की रोशनी झरोखे में से दण्डादि रूप से प्रतीत होती है। ज्ञान को सहायक कारण की अपेक्षा नहीं।

४. प्रतीतियों में नानात्व है। नानात्व का प्रकाशक तो एक ही है।

*व ज्ञानं तत् इति पाठ भेदः

—२३ क—

ज्ञानं न चेत्स्वयं सिद्धञ्जगदन्धन्तमो भवेत्।

(पदच्छेदः)

ज्ञानम् न चेत् स्वयम् सिद्धम् जगत् अन्धम् तमः भवेत्।

(सान्वयार्थः)

ज्ञानम्	=ज्ञान	चेत्	=यदि (तो)
स्वयम्	=स्वयं[1]	जगत्	=संसार
सिद्धम्	=सिद्ध (प्रकाश)	अन्धम्	=अन्धा
न	=न हो	तमः	=अन्धकारमय
		भवेत्	=हो जायगा[2]।

व्याख्या

१. ज्ञान को दूसरे से प्रकाशित मानने पर वह दूसरा अज्ञान रूप होगा और अज्ञान कैसे ज्ञान को उत्पन्न कर सकता है। ज्ञान रूप मानने पर वह ज्ञान इस ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न। अभिन्न तो माना नहीं जायगा। भिन्न मानने पर वह ज्ञान स्वयं प्रकाश है या नहीं। यदि है तो पूर्व ज्ञान को ही स्वयं प्रकाश क्यों न माना जाय। यदि नहीं तो अनवस्था, चक्रिका, अन्योन्याश्रय आदि दोष अवश्य आवेंगे। अतः ज्ञान को स्वप्रकाश मानना ही पड़ता है।

२. ज्ञान के कारण ही पदार्थ सिद्ध होता है। घट का ज्ञान होने पर ही घट सिद्ध होता है। यदि ज्ञान भी प्रकाश रूप न होगा तो कोई भी पदार्थ सिद्ध न हो सकेगा।

घट में घटज्ञान प्रमाण है पर घटज्ञान स्वतः प्रमाण है। घटज्ञान में क्या प्रमाण है ऐसा पूछने पर स्वयंसिद्धता ही हेतु हो सकता है। घटज्ञान को असिद्ध मानने पर घटस्वतः ही असिद्ध हो जायगा। अतः ज्ञान को स्वयं सिद्ध माना गया है। ज्ञान चाहे प्रमा हो या भ्रम हो स्वतः प्रमाण है।

—२३ ख—

ईश्वर में ज्ञानरूपता सिद्ध होने पर भी निराकार में क्रिया कैसे बनेगी ऐसी शंका होने पर—

न चेदस्य क्रिया काचिद् व्यवहारः कथं भवेत् ॥२३॥

(पदच्छेदः)

न चेत् अस्य क्रिया काचित् व्यवहारः कथम् भवेत् ॥२३॥

(सान्वयार्थः)

अस्य	=इस (परमेश्वर) की	चेत्	=यदि (तो)
काचित्	=कोई भी	कथम्	=किस प्रकार
क्रिया	=क्रिया	व्यवहारः	=व्यवहार[1]
न	=न हो	भवेत्	=होगा।

व्याख्या

१. परमेश्वर के विषय में सृष्टिस्थितिलय आदि क्रियाएँ शास्त्र में एवं लोक में प्रसिद्ध हैं। इस व्यवहार सिद्धि के लिये क्रिया मानना आवश्यक है।

वस्तुतस्तु यदि परमेश्वर में क्रिया न मानी जायगी तो संसार के व्यवहार का ही लोप हो जायगा। क्योंकि संसार में कर्मफलप्रदाता सर्वान्तर्यामी होने से ईश्वर ही हो सकता है। संसार में क्रिया का प्रारंभक भी ईश्वर के सिवाय कौन हो सकेगा। पाश्चात्य दार्शनिक उसे ही Unmoved mover अचल चालक कहते हैं। संसार के नियामक रूप से भी उसमें क्रिया है। विचारदृष्टि से तो ज्ञान और क्रिया एकाश्रया होती हैं। अतः ज्ञानस्वरूपसिद्ध होने पर क्रियास्वरूप तो स्वतः सिद्ध होता है।

अमूर्त में क्रिया नहीं हो सकती यह तो अमूर्त वायु की क्रिया के अनुभव में ही परिहर्तव्य है। निरवयव में क्रिया की असंभवता कहने पर मायिक सावयवत्व से निराकरण समझना चाहिये। सर्वथा परमेश्वर में क्रिया स्वीकार करना ही पड़ता है। सामान्यतः वेदान्ती ज्ञान पर जितना विचार करता है क्रिया पर नहीं। पर अद्वैतदर्शन में सिद्धान्ततः दोनों का समन्वय है। प्रत्यभिज्ञा, त्रिपुरा, त्रिक, वासिष्ठ आदि ग्रन्थों में इसका विस्तार है। ब्रह्मसूत्रों में भी बादरायण ने इसे पुष्ट किया है। अतः भगवत्पादाचार्य और सुरेश्वराचार्य के ग्रन्थों में यह कोई नवीन विचार-धारा नहीं हैं पर प्राचीन निगमागम पर आधारित है। श्रीदक्षिणामूर्ति का त्रिपुरा से घनिष्ठ संबन्ध है यह विपश्चितों से छिपा नहीं हैं।

—२४—

परमेश्वर में क्रिया का प्रकार बताते हैं :—

क्रिया नाम परिस्पन्दपरिणामस्वरूपिणी ।
स्पन्दमाने बहिर्ज्ञाने तदङ्कुरवदुद्भवेत् ॥ २४ ॥

(पदच्छेदः)

क्रिया नाम परिस्पन्दपरिणामस्वरूपिणी ।
स्पन्दमाने बहिः ज्ञाने तदङ्कुरवत् उद्भवेत् ॥ २४ ॥

(सान्वयार्थः)

क्रिया = किया का
नाम = लक्षण है
परिस्पन्दपरिणाम-स्वरूपिणी = चलना[1] अथवा परिणाम करना
ज्ञाने = ज्ञान के
बहिः = बाहिर की[2] ओर
स्पन्दमाने = चलने पर
तदङ्कुरवत = ज्ञान के अंकुर[3] की तरह
उद्भवेत = (क्रिया) उत्पन्न[4] होती है।

व्याख्या

१. परिस्पन्द अर्थात् गति या चलना। स्पन्दन ही ज्ञान का स्वरूप है अतः ज्ञान और स्पन्दन साथ ही रहते हैं। इसमें देश काल का परिवर्तन है पदार्थ का परिवर्तन नहीं। परिणाम में पदार्थ का परिवर्तन है। इस दृष्टि से भेद है पर परिवर्तन ही क्रिया का रूप हैं। एक देश में भी स्पन्दन होता है तो काल में परिवर्तन होने पर ही होता हैं।

२. ज्ञान में उपाधि से गति होती है मन रूपी उपाधि से सम्बन्धित होकर इन्द्रियों के द्वार से मन की वृत्ति के साथ ही ज्ञान बाहिर जाता है। वहाँ विषय से सम्बन्धित होने पर ही वैषयिक ज्ञान होता है। अतः अमूर्त निरवयव ज्ञान में किया स्पष्ट है।

३. ज्ञान का अंकुर हो क्रिया है अर्थात् क्रिया ज्ञान से ही उत्पन्न होती है। मन और प्राण का नित्यसम्बन्ध है। अतः मन में गति होने पर प्राण में स्पन्दन अवश्यंभावी है। विषयप्रदेश में ज्ञान के पहुँचने पर ही प्राण की क्रिया होती है अर्थात् पदार्थज्ञानाधीन ही स्थूल क्रिया है। ज्ञात पदार्थ अर्थात् जो पदार्थ ज्ञान से व्याप्त है उस में कुछ विशेषता लाने के लिये ही क्रिया की जाती है। अतः ज्ञान के आश्रय मन में स्थित प्राण से ही सारी क्रियाएँ होती है। अतः ज्ञान से क्रिया की उत्पत्ति माननी पड़ती है।

ज्ञान का अंकुर प्राणक्रिया का तात्पर्य आधुनिक शारीरविज्ञान की दृष्टि से यह भी हो सकता है कि प्रत्येक मानस व्यापार का एक प्रभाव शारीर-संस्थान पर पड़ता है। (Each mental wave has a corresponding physiological wave in the brain matter.) कुछ (Behaviourist) आधुनिक मनोवैज्ञानिक मानसिक परिर्वतनों को शारीरिक परिवर्तनों का कार्य मानते हैं। दोनों में समानान्तरता है यह तो निर्विवाद है पर वेदान्त में ज्ञान का अंकुर क्रिया स्वीकृत है, क्रिया का अंकुर ज्ञान नहीं। अनुभव में ज्ञान के बाद ही क्रिया आती है। शारिरिक परिवर्तन से मानसानुभव

कराना रूपी कारण तो अति तुच्छ है क्योंकि वहाँ वासनाजन्यता होने से स्मृतिरूपता है। इसीलिये भगवान सुरेश्वराचार्य बहिर्विषयक ज्ञान को ही बीज स्वीकार करते हैं।

४. अन्तर्यामी परमेश्वर की सन्निधि के अधीन ही प्राण क्रिया सिद्ध होने पर कहीं भी किसी भी जीव में दृष्ट क्रिया उसकी ही स्वीकार करनी पड़ती है। (दृ० चतुर्थोल्लास ७–८)

—२५—

परिस्पन्द का स्वरूप बताकर क्रिया के कार्य का निरूपण करते हुये परिणामरूपा व्यक्त क्रिया को उदाहरणों के द्वारा बताते हैं :—

उत्पाद्यप्राप्यसंस्कार्यविकार्योपाश्रया क्रिया ।
करोतिगच्छत्युन्मार्ष्टि छिनत्तीति प्रतीयते ॥२५॥

(पदच्छेदः)

उत्पाद्य-प्राप्य-संस्कार्य-विकार्योपाश्रया क्रिया ।
करोति गच्छति उन्मार्ष्टि छिनत्ति इति प्रतीयते ॥ २५॥

(सान्वयार्थः)

उत्पाद्य-प्राप्य-संस्कार्य-विकार्योपाश्रया	=बनाना (बनने वाले पदार्थ), पहुँचना (पहुँचने वाले स्थान), शुद्ध करना (संस्कृत पदार्थ), बदलना (विकृत पदार्थ) रूप[1] से ही[2] (के आश्रय से ही)	करोति =करता है,
		गच्छति =जाता है,
		उन्मार्ष्टि =माँजता है,
		छिनत्ति =काटता है,
		इति =इस प्रकार से
क्रिया	=क्रिया	प्रतीयते =अनुभव में आती है।

व्याख्या

१. उत्पन्नादि होने वाले पदार्थ अर्थात् कर्मकारक के आश्रय से

हो परिणामरूपा क्रिया की प्रतीति है। यहाँ चारों दृष्टान्त यथाक्रम समझना चाहिये।

२. इन चार से अतिरिक्त क्रिया का और कोई फल नहीं है। सारी क्रियायें इन चार के अन्तर्गत ही है।

—२६—

इस प्रकार ज्ञान क्रिया को ईश्वराश्रित सिद्ध करके वही अल्पज्ञ और सर्वज्ञ उपाधिभेद से है यह बताकर उसके सजातीयादित्रिविध भेद का निराकरण करके एकता सिद्ध करते हैं :—

शिवो ब्रह्मादिदेहेषु सर्वज्ञ इति भासते।
देवतिर्यङ्मनुष्येषु किञ्चिज्ज्ञस्तारतम्यतः ॥ २६ ॥

(पदच्छेदः)

शिवः ब्रह्मादिदेहेषु सर्वज्ञः इति भासते।
देवतिर्यङ्मनुष्येषु किंचिज्ज्ञः तारतम्यतः ॥ २६ ॥

(सान्वयार्थः)

शिवः =शिव ही
ब्रह्मादिदेहेषु=ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र आदि शरीरों में
सर्वज्ञः =सर्वज्ञ[1] हैं
इति =इस प्रकार से
भासते =प्रतीत होता है;
देव-तिर्यङ्-मनुष्येषु=(एवं) देवता, पशु, मानव आदियों में
तारतम्यतः =कम या अधिक रूप से
किंचिज्ज्ञः =अल्पज्ञ
(भासते =प्रतीत होता है।)

व्याख्या

१. जिस देह में सर्वज्ञता की प्रतीति है उस देही को हम सर्वज्ञ कहते हैं पर वस्तुतः उस देह की उपाधि से शिव ही सर्वज्ञ है। ठीक इसी प्रकार अन्यदेह की उपाधि से शिव ही अल्पज्ञ है। जैसे घटरूपी उपाधि से आकाश ही कम जगह वाला है और दुर्गरूपी उपाधि से वही अधिक जगह

वाला है। उपाधि वाले आकाश की ही न्यूनता अधिकता है, उपाधि की नहीं।

—२७—

भूलोक में ज्ञान की तारतम्यता का निर्देश करते हैं—

जरायुजोऽण्डजश्चैवंस्वेदजः पुनरुद्भिदः ।
एते चतुर्विधाः पूर्वक्रमशोन्यूनवृत्तयः ॥ २७ ॥

(पदच्छेदः)

जरायुजः अण्डजः च एवं* स्वेदजः पुनःउद्भिदः ।
एते चतुर्विधाः+पूर्वक्रमशः न्यूनवृत्तयः ॥ २७ ॥

(सान्वयार्थः)

जरायुजः=गर्भ से उत्पन्न होने वाले (पशु)	उद्भिदः =जमीन फोड़ कर निकलनेवाले (वृक्ष)
एवं =और	एते =ये
अण्डजः =अण्डे से उत्पन्न होने वाले (पक्षी)	चतुर्विधाः=चार[1] प्रकार के (प्राणी)
च =और	पूर्वक्रमशः=पहले पहले को अपेक्षा क्रम से
स्वेदजः =पसीने से उत्पन्न होने वाले (जुँए)	न्यूनवृत्तयः=कम ज्ञान वाले हैं।
पुनः =और	

व्याख्या

१—यह भेद प्राचीनों की धारणानुसार किया गया है। वेदान्त का आग्रह इस प्रकार के वर्गीकरण में नहीं है। जो भी वर्गीकरण होगा उसमें ज्ञान का तारतम्य तो रहेगा ही।

—२८—

अब उपाधिकृत भेद की वास्तविकता का निराकरण करते हैं—

---

*एव इति वा पाठः।+धाः देहाः क्रमशः पाठभेद ।

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता स्वप्नकल्पैव कल्पना।
साक्षात्कृतेऽनवच्छिन्नप्रकाशे परमात्मनि ॥ २८ ॥

(पदच्छेदः)

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता स्वप्नकल्पा एव कल्पना।
साक्षात्कृते अनवच्छिन्न* प्रकाशे परमात्मनि ॥ २८ ॥

(सान्वयार्थः)

अनवच्छिन्न-प्रकाशे	= त्रिविध परिच्छेद[1] रहित ज्ञानस्वरूप	ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्ता	= ब्रह्मा से लेकर तिनके तक
परमात्मनि	= परमात्मा का	स्वप्नकल्पा	= स्वप्न की तरह[3]
साक्षात्कृते	= अपरोक्षानुभव[2] हो जाने पर	एव	= ही
		कल्पना	= सारी कल्पनाएँ[4] (हैं)[5]

व्याख्या

१. संसार के पदार्थ देशकाल वस्तु से परिच्छिन्न होते हैं। परमेश्वर इन तीनों से अपरिच्छिन्न है। अर्थात् सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सर्वव्यापक है।

२. निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से वेदान्तवाक्य जन्य ज्ञान के परिपक्व हो जाने पर जो सहजस्थिति हो जाती है उस काल में ही अपरोक्षानुभव होता है।

३. स्वप्न व्यष्टि दोष और तूलाज्ञान का परिणाम है। जाग्रत् शिव की शक्ति और मूलाज्ञान का परिणाम है। यह बौद्धों के क्षणिक विज्ञान से भेद है। पर मिथ्यात्व दोनों में समान है। अतः वैदिक राद्धान्त में जागृत् स्वप्न के समान है, स्वप्न नहीं। जैसे जगने पर सहसा स्वप्न विलीन हो जाता है, वैसे ही ज्ञान होने पर जागृत भी लय हो जाता है।

---

*कृतेनवच्छिन्ने इति वा पाठः।

४. जिस प्रकार कल्पना ज्ञानस्वरूप है वैसे ही जगत् भी ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान से भिन्न कुछ सिद्ध होता नहीं अतः सभी को कल्पना मानना उचित ही है। पर यह जीवकल्पना नही, शिवज्ञानात्मक कल्पना है।

५. सत्ता से और संसार का वास्तविक सम्बन्ध नहीं है यह दिखाने के लिये यहाँ 'है' को मूल श्लोक में नही कहा।

—२९—

अणोरणीयान्महतो महीयानितिवेदवाक्।
रुद्रोपनिषदप्येवं स्तौतिसर्वात्मकं शिवम् ॥ २९ ॥

(पदच्छेदः)

अणोः अणीयान् महतः महीयान् इति वेदवाक्।
रुद्रोपनिषद् अपि एवम्* स्तौति सर्वात्मकम् शिवम् ॥ २९ ॥

(सान्वयार्थः)

अणोः	= परमाणु से	एवम्	= और
अणीयान्	= अति लघु (और)	रुद्रोपनिषद्	= रुद्र उपनिषद्[3]
महतः	= व्यापक महत्तत्व से	अपि	= भी इसी प्रकार[4] से
महीयान्	= अति बृहत्	सर्वात्मकम्	= सर्वात्मरूप
इति	= इस प्रकार से[1]	शिवम्	= शिव की
वेदवाक्	= वेद वाणी[2]	स्तौति	= स्तुति करती है।

व्याख्या

१. सर्वरूप बताने के लिए ही सूक्ष्म और बृहत् रूप बताया है।

२. कृष्णयजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा की मंत्रोपनिषद् ३-२० में यह मंत्र है। अब तक जो प्रत्याक्षानुमान से सिद्ध किया था उसी को यहाँ श्रुति प्रमाण से पुष्ट किया है।

---

*एतम् इति वा पाठः

३. कृष्णयजुर्वेद की रुद्रोपनिषद् में मंत्र १७—२४ तक देखना चाहिये।

४. जिस प्रकार यहाँ मुखरदक्षिणामूर्ति भगवान् भाष्यकार का सर्वात्मभाव से शिवस्तवन है उसी प्रकार वहाँ भी परमगुरु शंकर का स्तव है।

—३०—

अवशिष्ट पदद्वय का अर्थ करते हैं:—

ईश्वरो गुरुरात्मेतिमूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तयेनमः ॥ ३० ॥

(पदच्छेद:)

ईश्वरः गुरुः आत्मा इति मूर्तिभेदविभागिने* ।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥ ३० ॥

(सान्वयार्थ:)

ईश्वरः	= परमेश्वर,
गुरुः	= गुरु
आत्मा	= और आत्मा
इति	= इन
मूर्तिभेद-विभागिने	= (तीनों) आकारों के भेद का नाश करने वाले,
व्योम-वद्व्याप्त देहाय	= आकाश के समान व्यापक देह वाले
दक्षिणामूर्तये	= श्री दक्षिणामूर्ति को
नमः	= नमस्कार[1] है।

व्याख्या

१. नमस्कार का अर्थ आत्मसमर्पण है क्योंकि ऐसे व्यापक तत्त्व को शरीर से नमस्कार असम्भव है।

अथवा

ईश्वर, गुरु और आत्मा इन तीनों मूर्तियों में अपने को बांटने वाले

पर वास्तव में आकाश की तरह निर्विभाग भगवान दक्षिणामूर्ति को नमस्कार है।

*अयविभागिने वा भेदाद्विभागिने वा त्रयविभेदिने इति वा पाठभेदाः।

—३१—

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।
प्रबन्धे मानसोल्लासे प्रथमोल्लाससंग्रहः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लास नामक प्रबन्ध का प्रथमोल्लास संक्षेप से समाप्त हुआ।

अथ द्वितीयोल्लाससंग्रहः

आत्मा मूलकारणम्

प्रथमोल्लास में आत्मा को ही विश्व का एकमात्र अभिन्ननिमित्तोपादान कारण प्रतिपादित किया। अब इस वैदिक सिद्धान्त का निरादर करके आत्मा से भिन्न तत्वों को सत्य और जगत्कारण रूप से प्रतिपादित करने वाले जगत्सत्यवादी द्वैतियों का खण्डन करते हैं।

सर्व प्रथम महर्षि कणाद के वैशेषिक पक्ष को बताते हैं:—

उपादानंप्रपञ्चस्य संयुक्ताः परमाणवः।
मृदन्वितो घटस्तस्माद्भासते नेश्वरान्वितः ॥ १ ॥

(पदच्छेदः)

उपादानम् प्रपञ्चस्य संयुक्ताः परमाणवः।
मृदन्वितः घटः तस्मात् भासते न ईश्वरान्वितः ॥ १ ॥

(सान्वयार्थः)

संयुक्ताः	= मिले हुए	तस्मात्	= इसीलिये
परमाणवः	= परमाणु[1]	घटः	= घड़ा
प्रपंचस्य	= संसार के	मृदन्वितः	= मिट्टी[3] से युक्त
उपादानम्	= उपादान[2] कारण है	भासते	= दिखाई देता है,
		ईश्वरान्वितः	= ईश्वर से युक्त
		न	= नहीं (दिखाई देता)

व्याख्या

१. परमसूक्ष्मनिरवयव द्रव्य विशेष ही आपस में मिलकर सारे सावयव कार्य रूपी जगत् के पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों की भी इसी प्रकार की मान्यता है वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण,

कर्म, समवाय, सामान्य, विशेष केवल छ पदार्थ स्वीकृत हैं। इनमें नित्य द्रव्य (परमाणु, आकाश आदि), नित्य गुण, सामान्य, विशेष और समवाय तो कारण से उत्पन्न ही नहीं हैं। अनित्य द्रव्य परमाणुओं से उत्पन्न है। अनित्य गुण भी अनित्य द्रव्य में रहने वाला होने से द्रव्य के कारण केअधीन है। क्रिया भी द्रव्य में होने से तदधीन है। अतः परमाणु ही मिलकर संसार के कारण बनते हैं।

२. उपादान कारण उसे कहते हैं जो स्वयं कार्यरूप से परिणत होता है। जैसे मिट्टी ही घटाकार से बनती है। अतः घट का उपादान कारण मिट्टी हुआ। न्याय-वैशेषिक मत में परमाणु ही जगदाकार से बनते हैं।

३. कार्य में उपादान कारण हमेशा रहता है और उसकी स्पष्ट प्रतीति होती है। जैसे घड़े में मिट्टी या कपड़े में धागा। संसार के पदार्थ अचेतनता से युक्त ही सर्वदा प्रतीत होते हैं अतः उनका उपादान कारण कोई अचेतन तत्त्व ही होना चाहिये, चेतन ईश्वर नहीं। कोई भी पदार्थ ईश्वर, अर्थात् आत्मा से समन्वित नहीं पाया जाता। यहाँ निम्न अनुमान समझना चाहिये—

जगत्पदार्थाः, अचेतनोपादानकाः अचेतनान्विततया भासमानत्वात्, यः स्वसत्तायां यदन्वितो नियमेन भासते स तदुपमृदानको दृष्टः, यथा मृदन्विततयावभासमानो घटो मृदुपादानकः, तथा चेमे, तस्मात्तथेति ॥

—२—

द्रव्य का कारण अचेतन परमाणु स्वीकार करने पर भी गुण का कारण परमेश्वर हो इसका निराकरण कियाजाता हैः—

परमाणुगता एव गुणा रूपरसादयः।
कार्ये समानजातीयमारभन्तेगुणान्तरम् ॥ २ ॥

(पदच्छेदः)

परमाणुगताः एव गुणाः रूपरसादयः ।
कार्ये समानजातीयम् आरभन्ते गुणान्तरम् ॥ २ ॥

(सान्वयार्थः)

परमाणुगताः = परमाणु में रहने वाले[1]	कार्ये = उत्पन्न होने वाले पदार्थ में
रूपरसायदयः = रूप रस आदि	समानजातीयम् = अपने ही प्रकार[2] के
गुणाः = गुण	गुणान्तरम् = भिन्न[3] गुणों का
एव = ही	आरभन्ते = प्रारम्भ[4] करते

व्याख्या

१. जो गुण कारण परमाणु में हैं वे ही गुण कार्य में वैसे ही गुण को उत्पन्न करते हैं। जैसे तंतुगत रंग ही पटगत रंग का कारण है। यदि परमाणु निर्गुण होते तो कार्य में गुणोत्पत्ति के लिये कारणान्तर मानना पड़ता पर परमाणुओं में सगुणता है। वह सगुणता अव्यक्त है यह बात दूसरी है। परमाणुओं के संयोग से वह व्यक्त हो जाती है।

२. समान जातीय गुण ही उत्पन्न करते हैं यह विशेष गुणों के अभिप्राय से कहा गया है। क्योंकि इनके मत में भी परमाण्वादि में रहने वाले संख्या के कारण द्व्यणुकादि का परिणाम है, एवं परत्व अपरत्व का दिशा और काल का पदार्थ से संयोग कारण रूप से स्वीकृत किया गया है।

३. कणाद के सिद्धान्त में पटगत रंग और तंतुगत रंग भिन्न गुण हैं। दोनों का जन्यजनकभावसंबन्ध है। इस दृष्टि से यहाँ भिन्न गुण कहा है। अत्यन्त भिन्न रूप रस का कारण नहीं बन सकता इसको बताने के लिये समानजातीय कह दिया।

४. परमाणु और उनके गुण सारे जागतिक पदार्थ एवं उनके गुणों को उत्पन्न करते हैं, अतः ईश्वर की उपादान कारणता भंग हो जाती है।

—३—

लोक प्रसिद्ध एवं वेदोक्त ईश्वर कारणता का फिर क्या होगा ऐसी शंका होने पर कणादानुयायी वैदिक होने के नाते परमेश्वर को निमित्त कारण स्वीकार करता है। वैशेषिक मत में कारण तीन प्रकार के हैं अतः प्रथम कारण का निरूपण किया जाता है :—

कार्यं यत्र समन्वेति कारणं समवायितत्।
चक्राद्यं साधनं यत्तु घटस्यासमवायितत् ॥ ३ ॥

(पदच्छेदः)

कार्यम् यत्र समन्वेति कारणम् समवायि तत्।
चक्राद्यम् साधनम् यत् तु घटस्य असमवायि तत् ॥ ३ ॥

(सान्वयार्थः)

यत्र	=जहाँ[1]	यत्	=जो
कार्यम्	=कार्य	तु	=तो
समन्वेति	=सर्वदा रहता है	चक्राद्यम्	=चक्का आदि
तत्	=वह	साधनम्	=साधन हैं
समवायि	=समवायी	तत्	=वह
कारणम्	=कारण है।	घटस्य	=घड़े का
		असमवायि	=निमित्त[2] कारण है।

व्याख्या

१. यस्मिन् समवायसम्बन्धसम्बद्धं कार्यं जायते तत्समवायि कारणम्। यही वेदान्तियों में उपादान कारण कहा जाता है। जैसे मिट्टी

में ही सर्वदा घड़ा रहता है। मिट्टी से घड़े को कभी अलग नहीं किया जा सकता।

२. यत्समवायेतरसम्बन्धसम्बद्धङ्कार्योत्पत्तिकारणन्तन्निमित्तम्। यहाँ जो समवायी न हो वह असमवायी ऐसा अर्थ करके निमित्त कारण यह अर्थ सिद्ध होता है। निमित्त कारण चक्रदण्ड आदि और कार्य घट अलग ही रहते हैं। निमित्त कारण कार्योत्पत्ति के लिये आवश्यक होने पर भी स्थिति के लिये आवश्यक नहीं।

—४—

समवायिनि तिष्ठेद्यत् समवाय्याश्रये तथा।
कार्येऽवधृतसामर्थ्यङ् कल्प्यतेऽसमवायितत् ॥ ४ ॥

(पदच्छेदः)

समवायिनि तिष्ठेत् यत् समवाय्याऽश्रये तथा।
कार्ये अवधृतसामर्थ्यम् कल्प्यते असमवायि तत् ॥ ४ ॥

(सान्वयार्थः)

यत्	=जो	कार्ये	=कार्य उत्पन्न करने में
समवायिनि	=समवायी कारण में[1]	अवधृतसामर्थ्यम्	=अत्यन्त आवश्यक[3] हो
(वा)	=(या)	तत्	=वह
समवाय्याश्रये	=समवायी कारण के आश्रय[2] में	असमवायि	=असमवायी कारण
तिष्ठेत्	=रहे		
तथा	=तथा	कल्प्यते	=माना जाता है।

व्याख्या

१. स्वकार्यस्य समवायो यस्मिन् तत्समवायि, तस्मिन् यत्तिष्ठेत् तदसमवायि। अनेन कार्यैकार्थसमवायलक्षणा प्रत्यासत्तिरुक्ता।

कपड़े के समवायी कारण धागों में धागों का संयोग रहता है अतः तन्तुसंयोग असमवायी कारण है।

२. स्वकार्यसमवायिकारणस्याश्रये यत्तिष्ठेत्तच्चासमवायि। अनेन कारणैकार्थसमवायरूपा प्रत्यासत्तिरुक्ता।

कपड़े के समवायि कारण तंतुओं में रहने वाला रूप।

धागे का रंग कपड़े के रंग का असमवायीकारण है क्योंकि धागे का रंग कपड़े के रंग को उत्पन्न करता है एवं उस धागे में रहता है जो कपड़े का समवायीकारण है।

कपड़ा कपड़े के रंग का समवायी कारण है क्योंकि कपड़े का रंग कपड़े में सर्वदा रहता है।

३. तंतुत्व वगैरः अन्यथासिद्ध कारण भी असमवायी कारण न मान लिये जावें अतः कार्य के लिये आवश्यक कह दिया गया। अतः अनन्यथासिद्ध ही असमवायी कारण हो सकता है।

—५ क—

इस प्रकार त्रिविध कारण को बताकर ईश्वर की कारणता बताते हैं :—

निमित्तङ्कारणन्तेषामीश्वरश्च कुलालवत्।

(पदच्छेदः)

निमित्तम् कारणम् तेषाम् ईश्वरः च कुलालवत् ॥ ५ क ॥

(सान्वयार्थः)

च	=और	ईश्वरः	=ईश्वर
तेषाम्	=उन वैशेषिक और नैयायिकों के या उन सभी कार्यों में	कुलालवत्	=कुम्हार की तरह
		निमित्तम्	=निमित्त
		कारणम्	=कारण है।

व्याख्या

१. अन्यनिमित्त कारणों के होने पर भी कार्यमात्र में ईश्वर की निमित्त कारणता है क्योंकि चेतन के बिना अचेतन में प्रवृत्ति असंभव है। यहाँ निम्न अनुमान समझना चाहिये—

विमतं चेतनाधिष्ठिताचेतनकारणकं, कार्यत्वाद् घटवत्।

[ईश्वर को निमित्त कारण स्वीकार करके लोक और वेदप्रसिद्धि भी संगत हो जाती है। वेदान्तियों का केवल ईश्वर कारणवाद सर्वानुभवविरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य है। वस्तुतः वैदिकसिद्धान्त को छोड़ सभी संसार के मत मजहब इसी निमित्त कारणवाद को स्वीकार करते हैं। ईश्वरसिद्धि भी इसी प्रकार हो सकती है।]

—५-६—

कणाद और गौतम के मत का उपसंहार करते हैं :—

यत्कार्यञ्जायते यस्मात्तस्मिन् तत्प्रतितिष्ठति ॥ ५ ॥
मृत्तिकायाङ्घटस्तन्तौ पटस्स्वर्णेऽङ्गुलीयकम्।
इति वैशेषिकाः प्राहुस्तथा नैयायिका अपि ॥ ६ ॥

(पदच्छेदः)

यत् कार्यम् जायते यस्मात् तस्मिन् तत् प्रतितिष्ठति ॥ ५ ॥
मृत्तिकायाम् घटः तन्तौ पटः स्वर्णे अङ्गुलीयकम्।
इति वैशेषिकाः प्राहुः तथा नैयायिकाः अपि ॥ ६ ॥

(सान्वयार्थः)

यत्	=जो	तत्	=वह (कार्य)
कार्यम्	=कार्य	तस्मिन्	=उसमें (उपादान कारण में)
यस्मात्	=जिससे (उपादान कारण से)	प्रतितिष्ठति	=सर्वदा रहता है,
जायते	=उत्पन्न होता है;	(यथा)	=जैसे

मृत्तिकायाम्	=मिट्टी में	वैशेषिकाः	=वैशेषिकों में
घटः	=घड़ा,	तथा	=तथा
तन्तौ	=धागे में	नैयायिकाः	=नैयायिकों ने
पटः	=कपड़ा	अपि	=भी[1]
स्वर्णे	=(और) सोने में	प्राहुः	=सिद्धान्त स्थापित किया है।
अंगुलीयकम्	=अंगूठी		
इति	=इस प्रकार		

व्याख्या

१. यद्यपि यह मत वैशेषिकों का है पर नैयायिक भी इसको स्वीकार करते हैं, यद्यपि प्रतिपादन नहीं करते। परवर्ती काल में तो वैशेषिक मत इतना निराधार हो गया कि प्रायः नैयायिकों ने ही उसकी रक्षा की है।

—७—८—

अब निरीश्वर सांख्य के मत का प्रतिपादन करते हैं जिसमें चेतन की निमित्तकारणता भी स्वीकार नहीं की गई हैं :—

रजस्सत्त्वं तमश्चेति प्रधानस्य गुणास्त्रयः।
रजो रक्तञ्चलन्तेषु सत्त्वं शुक्लं प्रकाशकम् ॥ ७ ॥
तमः कृष्णञ्चावरकं सृष्टिस्थित्यन्तहेतवः।
इतिसांख्याश्च भाषन्ते तेषां दूषणमुच्यते ॥ ८ ॥

(पदच्छेदः)

रजः सत्त्वम् तमः च इति प्रधानस्य गुणाः त्रयः।
रजः रक्तम् चलम् तेषु सत्त्वम् शुक्लम् प्रकाशकम् ॥ ७ ॥
तमः कृष्णम् च आवरकम् सृष्टिस्थित्यन्तहेतवः।
इति साङ्ख्याः च भाषन्ते तेषाम् दूषणम् उच्यते ॥ ८ ॥

(सान्वयार्थः)

प्रधानस्य =प्रधान[१] के
रजः =रज,
सत्त्वम् =सत्त्व
च =और
तमः =तम
इति =इस प्रकार
त्रयः =तीन
गुणाः =गुण
सृष्टिस्थि-त्यन्तहेतवः =उत्पत्ति, स्थिति और नाश[२] के कारण हैं।
तेषु =उन गुणों[३] में
रजः =रज[४]
रक्तम् =लाल[५] (और)
चलम् =गतिमान् है

सत्त्वम् =सत्त्व[६]
शुक्लम् =सफेद (और)
प्रकाशकम् =ज्ञान कराने वाला
च =और
तमः =तम[७]
कृष्णम् =काला (और)
आवरकम् =ढंकने वाला है
इति =ऐसा
सांख्याः =सांख्य मतानुयायी[८]
भाषन्ते =बतलाते हैं।
च =और (इस स्तोत्र में)
तेषाम् =उन सांख्यवादियों[९] की
दूषणम् =भूल
उच्यते =बताई जाती है।

व्याख्या

१. प्रधान सांख्यवादियों का प्रकृति के लिये पारिभाषिक शब्द है। बन्ध, मोक्ष, भोग आदि सभी में प्रधान होने के कारण ही ऐसा कहा गया है। अथवा इसमें सब कुछ छिपा रहता है अतः इसे प्रधान कहा गया है। द० २·३१।

२. रजोगुण से उत्पत्ति, सत्त्वगुण से स्थिति और तमोगुण से नाश स्वीकार करने पर ईश्वर की अपेक्षा नहीं रहती।

३. यह तीन गुण साम्यावस्था में प्रधान हैं, वृद्धिक्षय से गुणों

का प्राकट्य है; फिर भी तीनों गुण सर्वदा साथ रहते हैं। तीनों भिन्न कार्य करते हैं। इन गुणों के कार्यों के साथ तादात्म्यानुभूति ही भोग और बन्ध है।

४. रज अर्थात् रंजक (रंगने वाला) आसक्ति कराता है, चलन स्वभाव वाला है और दूसरे दोनों गुणों का उपष्टम्भक है अर्थात् उन दोनों को अपने स्थान पर रखता है।

५. श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णाम्' के आधार पर तीनों गुणों के तीन वर्णों का निरूपण सांख्यशास्त्र ने माना है।

६. सत्त्व सूक्ष्मतम और लघु है। यही बाह्यजगत के ज्ञान को उत्पन्न करता है।

७. तम अर्थात् अन्धकार स्थूल और भारी एवं अशुद्ध है। यह सत्य का आच्छादक एवं अविवेक का कारण है।

८. संख्या को मानने वाले सांख्य कहे गये क्योंकि यह तत्त्व गणना पर ही जोर देते हैं। यह निरीश्वरसांख्य, कपिलमुनि के सेश्वरसांख्य से भिन्न है। दोनों सांख्यवादो युक्ति और श्रुति में प्रबल होने के कारण वेदान्त विरोधियों में प्रधानमल्ल माने गये हैं। सांख्यशास्त्र का सेश्वरविभाग पुराणों और स्मृतियों को मान्य है, और इसका प्रभाव भगवद्गीता पर भी है। वेदान्त के प्रमेय एवं सृष्टिविचार पर भी सांख्य का प्रभाव काफो है। अतः सांख्यशास्त्र को समझना आवश्यक है।

९. इस स्तोत्र में सांख्य और उनके सहयोगी वैशेषिक, नैयायिक, स्वभाववादी, शून्यवादी, शैव, योगो, पुराणवादी सभी का खण्डन करके केवलाद्वैत की प्रतिष्ठा की गई है।

बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ् निर्विकल्पं पुनर्
मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्।

मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥२॥

(पदच्छेदः)

बीजस्य अन्तः इव अङ्कुरः जगत् इदम् प्राक् निर्विकल्पम् पुनः
माया-कल्पित-देश-काल-कलना-वैचित्र्य-चित्रीकृतम्
मायावी इव विजृम्भयति अपि महायोगी इव यः स्वेच्छया तस्मै०

(सान्वयार्थः)

बीजस्य	= बीज के	मायाकल्पित-देश-काल-कलना-वैचित्र्य-चित्रीकृतम्	= माया द्वारा देश काल के निर्माण से विचित्रताओं से चित्रित (उसी जगत् को व्यक्त रूप से)
अन्तः	= भीतर		
अंकुरः	= (छिपे हुए पत्ते, फल, शाखा आदि सहित वृक्ष के) अंकुर	यः	= जो (परमेश्वर)
इव	= की तरह	मायावी इव	= ऐन्द्रजालिक की तरह
इदम्	= यह (समस्त)	महायोगी इव	= (या) महायोगी की तरह
जगत्	= संसार		
प्राक्	= (उत्पत्ति से) पहले	स्वेच्छया	= अपनी इच्छा मात्र से
निर्विकल्पम्	= (भोक्ता भोग्यादि) भेदों से रहित (था)	विजृंभयति	= उत्पन्न करता है
पुनः	= फिर	तस्मै०	= उस गुरुरूपधारी भगवान श्रीदक्षिणा मूर्ति को यह नमस्कार है।
अपि	= भी		

[सभी कार्य कारण में अव्यक्त भाव से स्थित रहता है, अन्यथा उनकी अभिव्यक्तिरूपी उत्पत्ति असंभव है। सारा जगत् इसी प्रकार से महेश्वर में अव्यक्ति भाव से वर्तमान है। कार्य व कारण का भेद, अभेद, भेदाभेद आदि संबन्ध असंभव हैं। इसका विस्तृत एवं औपपत्तिक वर्णन माण्डूक्योपनिषद्कारिका एवं खण्डनखण्डखाद्य में द्रष्टव्य है।

जैसे योगी या ऐन्द्रजालिक किसी अन्य कारण के विना ही सृष्टि करने में समर्थ है इसी प्रकार महेश्वर भी अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।]

अस्यायमभिप्रायः

इस श्लोक का तात्पर्य बताते हैं:—

वैशेषिकों का निराकरण करते हैं:—

अङ्कुरादिफलान्तेषुकार्येष्वस्तित्वमिष्यते ।
कुत आगत्य सम्बद्धा वटबीजेषु ते कणाः ॥ ६ ॥

(पदच्छेदः)

अङ्कुरादिफलान्तेषु कार्येषु अस्तित्वम् इष्यते ।
कुतः आगत्य सम्बद्धाः वटबीजेषु ते कणाः ॥ ६ ॥

(सान्वयार्थः)

अंकुरादिफलान्तेषु = अंकुर से फल तक	ते = वे
कार्येषु = सभी कार्यों में	कणाः = परमाणु
अस्तित्वम् = सत्ता	कुतः = कहाँ से
इष्यते = स्वीकार की जाती है।	आगत्य = आकर
वटबीजेषु = बरगद के बीज में	सम्बद्धाः = सम्बन्धित होगये ?

व्याख्या

[कार्य में अन्वितरूप से जो मिले वह उपादान कारण होता है ऐसा सर्ववादि सम्मत है। एवं सभी कार्यों में सत्ता अन्वित है अतः सद्ब्रह्म ही

उपादान कारण स्वीकार्य है। परमाणु कहीं समन्वित मिलते नहीं अतः उन्हें कारण कैसे माना जाय। द्व्यणुक के प्रति वे कारण हो सकते हैं कार्यमात्र के प्रति नहीं। परमाणु अतीन्द्रिय माने गये हैं अतः उनके कार्य में भी अतीन्द्रियता होनी चाहिये इन्द्रियगम्यता नहीं। यह भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है। वेदान्त में तो अतीन्द्रिय ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है और उसमे कल्पित जगत्सत्ता व्यावहारिकी है अतः यह दोष नहीं आता।

यदि कार्य की इच्छावाला प्रधानरूप से जिसका ग्रहण करता है वह उपादान कारण माना जाय तो भी फलार्थी बीज का ग्रहण करता है, परमाणुओं का नहीं। यदि कहो कि परम्परा कारण रूप से परमाणुओं का ग्रहण करता है तो उस प्रकार ब्रह्मविवर्त बीज के ग्रहण में ब्रह्म भी ग्रहण करता है। सद्रूप ब्रह्म तो बीज में अन्वित अनुभव सिद्ध है पर परमाणु नहीं। अतः परमाणुकारणवाद प्रबल प्रमाणों पर आधारित नहीं।]

१. जब बीज से फल पर्यन्त सभी विकारों में सत्ता अनुभव में आती है परमाणु नहीं तो उनको अकस्मात् कैसे उपादान कारण मान लिया जाय।

—१०—

कारणान्तर्गतं कार्यमितिसर्वैश्च सम्मतम्।
तस्मात्सत्तास्फुरत्ता च सर्वत्राप्यनुवर्तते ॥ १० ॥

(पदच्छेदः)

*कारणान्तर्गतम् कार्यम् इति सर्वैः च सम्मतम्।
तस्मात् सत्ता स्फुरत्ता च सर्वत्र अपि अनुवर्तते ॥ १० ॥

(सान्वयार्थः)

कारणा-न्तर्गतम्	= उपादान कारण के अन्तर्गत	तस्मात्	= इसीलिये (उपादान कारण होने के नाते)
कार्यम्	= कार्य (है)	सत्ता	= सत्ता
इति	= यह	च	= और
च	= तो	स्फुरत्ता	= स्फुरण
सर्वैः	= सभी को	सर्वत्र	= सभी (कार्यों) में
सम्मतम्	= मान्य है	अपि	= ही
		अनुवर्तते	= रहता है।

व्याख्या

[प्रत्येक सृष्ट पदार्थ चेतन के प्रकाश में सत्तायुक्त अनुभव में आता है अतः नियम से सभी पदार्थों की उपलब्धि प्रकाश और सत्ता के साथ होने से यही दोनों उपादान कारण माने जाने चाहिये।]

*कारणानुगतम् पाठभेद।

—११—

परमाणु को उपादान कारण न मानने पर भी पूर्व कार्य को उत्तर कार्य के प्रति उपादान क्यों न माना जाय ? ब्रह्म को अन्तिम उपादान स्वीकार करने पर भी समग्र कार्यों के प्रति उपादानता नहीं इस प्रकार की शंका को मिटाते हैं :—

पुष्पे फलत्वमापन्ने क्षीरे च दधिताङ्गते।
विजातीयाः प्रवर्तन्ते गुणा रूपरसादयः ॥११॥

(पदच्छेदः)

पुष्पे फलत्वम् आपन्ने क्षीरे च दधिताम् गते।
विजातीयाः प्रवर्तन्ते* गुणाः रूपरसादयः ॥११॥

(सान्वयार्थः)

पुष्पे	=फूल के	गते	=हो जाने पर
फलत्वम्	=फल[1]	विजातीयाः	=भिन्न जाति के
आपन्ने	=बन जाने पर	रूपरसादयः	=रूप रसादि
च	=और	गुणाः	=गुण
क्षीरे	=दूध के	प्रवर्तन्ते	=प्रवृत्त होते हैं।
दधिताम्	=दही		

व्याख्या

१. उपादान कारण के गुण समान जातीय गुण को कार्य में उत्पन्न करते हैं। जैसे लालरंग के ऊन से लालरंग का ही स्वेदर बनता है। फूल का और फल का गुण अत्यन्त भिन्न होता है। दूध तरल व मीठा तो दही खट्टा व घन होता है फिर इनको उपादान कारण कैसे माना जाय। 'आत्मनः आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः' (तै. उ. २.१.१) इत्यादि श्रुतियों में भी केवल क्रमविवक्षा है, उपादानकारण प्रतिपादन नहीं। कार्यों में निश्चित पूर्वापर भाव है पर उपादानकारण तो ब्रह्म ही है।

*प्रतीयन्ते पाठभेद।

—१२—

ब्रह्म को वास्तविक उपादान कारण हम स्वीकार नहीं करते वरन् मायिक उपादान ही मानते हैं अतः अमूर्तत्वादि दोष की प्राप्ति नहीं इसे बताते हैं :—

कारणङ्कार्यमंशोंऽशी जातिव्यक्ती गुणी गुणः।
क्रिया क्रियावानित्याद्याः प्रकाशस्यैव कल्पनाः ॥ १२ ॥

(पदच्छेदः)

कारणम् कार्यम् अंशः अंशी जातिव्यक्ती गुणी गुणः।
क्रिया क्रियावान् इति आद्याः प्रकाशस्य एव कल्पनाः ॥१२॥

(सान्वयार्थः)

कारणम् =कारण (जैसे बीज)	गुणी =गुणवाला(जैसे कमल) और
कार्यम् =(और) कार्य (जैसे अंकुर)	(एवम्)=एवं
(एवम्) =(एवं)	क्रिया =क्रिया (जैसे छूटना) (और)
अंशः =टुकड़ा (जैसे धागा) (और)	क्रियावान्=क्रिया का आश्रय (जैसे बाण)
अंशी =टुकड़े वाला (जैसे कपड़ा)	इति =इस प्रकार के
(एवम्)=(एवं)	आद्याः =सभी (विशेष[1] आदि)
जातिव्यक्ती=जाति (जैसे गोत्व) और व्यक्ति (जैसे गौ)	प्रकाशस्य =ज्ञान की
	एव =ही
(एवम्)=(एवं)	कल्पनाः =कल्पना[2] अर्थात् रूपान्तर या व्यवहार हैं।
गुणः =गुण (जैसे सफेद)	

व्याख्या

१. विशेष विशेषी, समवाय समवायी, सदृश सादृश्य आदि सभी यहाँ समझ लेने चाहिये।

२. एक अखण्ड प्रकाश के ही सब काल्पनिक रूप हैं। जैसे एक बादल में ही घोड़े, हाथी, राक्षस आदि की कल्पना होती है।

[आरंभवाद और परिणामवाद में कारण कार्यभाव की वास्तविकता सिद्ध होती नहीं। इनसे भिन्न कोई प्रधानवादी है नहीं अतः विवर्तवाद स्वतः सिद्ध है। इस शिष्ट न्याय को ही भगवान गौडपादाचार्यों ने अपनाया है (द्र० माण्डूक्यकारिका एवं खण्डनखण्डखाद्य)

—१३—

'स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं'' (छा० ६·७) एवं 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' (ऋ० १०) इत्यादि श्रुतियों में परमाणु और प्रधान को जगत्कारण बताया है अतः अनुमानसिद्ध प्रकाशरूपता उनकी ही मान ली जाय इस प्रकार कोई इन वादों को वेदाश्रित मानने वाला शंका करे तो उसका उत्तर देते हैं :—

चैतन्यम्परमाणूनाम्प्रधानस्यापि नेष्यते ।
ज्ञानक्रिये जगत्क्लृप्तौ दृश्येते चेतनाश्रये ॥ १३ ॥

(पदच्छेद:)

चैतन्यम् परमाणूनाम् प्रधानस्य अपि न इष्यते ।
ज्ञानक्रिये जगत्क्लृप्तौ दृश्येते चेतनाश्रये ॥ १३ ॥

(सान्वयार्थः)

परमाणूनाम्	=परमाणुओं की	इष्यते	=स्वीकार[1] की जाती है ।
अपि	=एवं	जगत्क्लृप्तौ	= विश्व में
प्रधानस्य	=प्रधान की	ज्ञानक्रिये	= ज्ञान और क्रिया
चैतन्यम्	=चेतनरूपता	चेतनाश्रये	=चेतन[2] के आश्रय में
न	=नहीं	दृश्येते	=देखी जाती हैं ।

व्याख्या

१. वैशेषिक और सांख्यवादियों के द्वारा क्रमशःपरमाणु और प्रधान जड़ रूप ही माने गये हैं । वैशेषिक मत में तो आत्मा भी जड़ है और ज्ञान गुण आत्ममनःसंयोग से उत्पन्न होता है। सांख्यों के यहाँ पुरुष चेतन है पर प्रकृति से सर्वथा भिन्न है ।

वेदप्रमाण से इनमें चेतनता तो क्या जगत्कारणता भी सिद्ध नहीं होती यह ब्रह्मसूत्रों में ईक्षत्यधिकरण में सिद्ध किया गया है । सामवेद के

छान्दोग्योपनिषद् में 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (६·२) से स्पष्ट ही आत्मा रूपी जगत्कारण में विचार और बहुभवन साथ ही बताया है। अतः अनात्म पदार्थ कारणरूप से श्रुतिप्रतिपादित नहीं। इससे निमित्तकारणवाद भी अवैदिक सिद्ध हो जाता है।

२. ज्ञान और क्रिया अचेतन द्रव्य में बिना चेतन के सम्बन्ध से नहीं देखी जाती। अतः जगत्कारण को ज्ञान और क्रिया का आश्रय मानना ही पड़ता है।

वेदान्त शास्त्र में ईश्वर को कूटस्थ माना जाता है अतः उसमें ज्ञातृत्व और कर्तृत्व कैसे रहेगा यह शंका तो अतितुच्छ है। यद्यपि स्वरूपतः वह अव्यय, अपरिणामी, अक्रिय, किसी भी चीज से असम्बद्ध है पर अपनी मायाशक्ति के द्वारा वह ईक्षण, सृजन आदि करके सर्वज्ञ और सर्वक्रियावान् माना जा सकता है। उस शक्ति में ही सारा कार्यकारणात्मक जगत् अव्यक्त रूप से विद्यमान है। श्रुति इस सशक्त ईश्वर को ही विश्व का अभिन्न निमित्तोपादान कारण बताती है। जिस प्रकार कार्यकारणरूपी उपाधि के आवेश से ही कुलाल जीव में ज्ञानक्रिया है उसी प्रकार कार्यकारण व उसके संस्कार रूपी माया उपाधि के आवेश से परमेश्वर में भी ज्ञानक्रिया रूपी शक्ति स्वीकार करनी होगी। इस प्रकार ईश्वर की जगदुपादानकारणता वेदसिद्ध ही नहीं अनुभव सिद्ध भी है। इसमें अथर्ववेद (मुण्डक० १·१·७) और कृष्णयजुर्वेद (श्वे० १·३) आदि प्रमाण हैं और ब्र० सू. २.३.४० में भी इसे सिद्ध किया गया है।

—१४—

चेतननिरपेक्ष कार्योत्पत्ति की संभावना का निराकरण करते हैं:—

कालरूपक्रियाशक्त्या क्षीरात्परिणमेद्दधि।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपज्ञानशक्त्या भवेज्जगत् ॥ १४ ॥

(पदच्छेदः)

कालरूपक्रियाशक्त्या क्षीरात् परिणमेत् दधि ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपम् ज्ञानशक्त्या भवेत् जगत् ॥१४॥

(सान्वयार्थः)

क्षीरात्=दूध से
दधि=दही[1]
कालरूप-क्रिया-शक्त्या = कालरूपी[2] क्रियाशक्ति से
परिणमेत्=बनता है ।

ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-रूपम् = जानने वाला, जानना और जो जाना जाय इन तीनों रूपों वाला
जगत्=संसार
ज्ञानशक्त्या=ज्ञानशक्ति से[3]
भवेत् = बनता है ।

व्याख्या

१. सांख्यवादी दूध से दही का दृष्टान्त देकर बिना चेतन के भी कार्योत्पत्ति सिद्ध करना चाहता है । पर वस्तुतः तो वहाँ भी दधिवासना देना चेतन का ही कार्य है । प्राणिविज्ञान तो दध्यणु (Lacto-bacilli) प्राणियों को ही दधि परिणाम का कारण मानता है । यदि इन वातों का विचार न भी किया जाय तो दूध से दही बनने में क्या कारण है ? दूध का स्वभाव मानने से तो सर्वदा दही बनने का प्रसंग उपस्थित होगा । काल को ही अन्ततः स्वीकार करना पड़ेगा । काल तो उस महाकाल की क्रियाशक्ति का ही नामान्तर है अतः वेदान्तों ने 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्' (बृ. ३. ७. १५) आदि श्रुतियों के बल से परमेश्वर को ही सबसे सम्बन्धित होने के कारण कार्य मात्र के प्रति कारण माना है । सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वर की कालरूपी क्रियाशक्ति के होने से ही दूध दही बनता है । सारी क्रियाओं के प्रति काल की कारणता तो अनुभवसिद्ध है । क्रिया अर्थात् परिवर्तन और परिवर्तन ही काल का सूचक है । घड़ी के काँटों का परिवर्तन, सूर्य के प्रकाश का परिवर्तन, नक्षत्रों के स्थान का

परिवर्तन आदि ही काल के सूचक हैं। अतः काल को ईश्वर की सर्वव्यापिनी क्रिया मानना ठीक ही है। परिवर्तन बिना काल के हो ही नहीं सकता। बिना काल के परिवर्तन का अर्थ होगा एक ही साथ एक ही पदार्थ की विभिन्न स्थिति जो असंभव है।

२. कालरूप को शक्ति मानने में 'यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च कालः' (अथर्व शि० ३१) इत्यादि श्रुतियाँ और 'कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः' इत्यादि स्मृतियाँ प्रमाण हैं।

३. ज्ञानस्वरूप परमेश्वर में ईक्षणव्यवहार कराने वाली शक्ति ही ज्ञानशक्ति है। सृष्टि के आदि में समग्र जगत् को विषय करने वाली जो मायावृत्ति परमात्मा के प्रतिबिम्ब से युक्त होती है वह उस परमात्मा में ज्ञातापना लाती है। उसी से जीवों में भी ज्ञातापना आता है। सृज्य जगत् को दिखलाती हुई जगदाकार से परिणत वही शक्ति ज्ञेय बन जाती है। सर्व ज्ञान का अंश ही व्यावहारिक ज्ञान है। अतः ईश्वर समष्टि दृष्ट्या ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय बनता है।

—१५—

ज्ञानन्द्विधा वस्तुमात्रद्योतकन्निर्विकल्पकम्।
सविकल्पन्तु संज्ञादिद्योतकत्वादनेकधा ॥ १५ ॥

(पदच्छेदः)

ज्ञानम् द्विधा वस्तुमात्रद्योतकम् निर्विकल्पकम्।
सविकल्पम् तु संज्ञादिद्योतकत्वात् अनेकधा ॥१५॥

(सान्वयार्थः)

ज्ञानम्	=ज्ञानशक्ति
द्विधा	=दो प्रकार की है
वस्तुमात्रद्योतकम्	=सामान्यरूप से सृज्यसमस्तवस्तुओं को बताने वाली
निर्विकल्पकम्	=निर्विकल्प' (कही जाती है)
तु	=दूसरी तरफ
अनेकधा	=अनेक प्रकार की

संज्ञादिद्योतकत्वात् = नाम आदि विशेषरूप से बताने वाली	सविकल्पकम्	= सविकल्प[2] (कही जाती है)

व्याख्या

१. 'एकोहं बहुस्याम्' इस प्रकार की सृष्टि की आदि वृत्ति जो जगत् के सामग्र्य को विषय करती है।

२. आकाशादि भूत और भौतिक प्रपंच में प्रत्येक को भेदक विशेषण सहित विषय करने वाली वही ज्ञान वृत्ति विशेष द्योतक होने से ही सविकल्पक कह दी जाती हैं।

—१६—

स्वरूप से ज्ञान में भेद न होने पर भी ज्ञेयाकार के भेद से भेद होता है अतः पूर्व श्लोक में उक्त अनेक प्रकार की वृत्तियों का लौकिक दृष्टान्त देते हैं :—

सङ्कल्पसंशयभ्रान्तिस्मृतिसादृश्यनिश्चयाः ।
ऊहोऽनध्यवसायश्च तथाऽन्येऽनुभवा अपि ॥ १६ ॥

(पदच्छेदः)

सङ्कल्पसंशयभ्रान्तिस्मृतिसादृश्यनिश्चयाः ।
ऊहः अनध्यवसायः च तथा अन्ये अनुभवाः अपि ॥ १६ ॥

(सान्वयार्थः)

संकल्प- संशय- भ्रान्ति- मृति- सादृश्य- निश्चयाः	= अब इसको करूँगा, यह है या वह है,[१] जो जैसा नहीं उसको वैसा समझना[२], भूत कालीनानुभव का वर्तमान में भान[3], यह इसके जैसा है[४], यह ऐसा ही है,	ऊहः	= अन्दाज करना[५]
		तथा	= तथा
		अनध्यव- सायः	= दिखने वाली वस्तु का भी अनिश्चय[६]
		अपि	= और भी
		अन्ये	= दूसरे
		अनुभवाः	= अनुभव[७] (ज्ञानशक्ति ही है)
च	= और		

व्याख्या

१. सफेद पतरे को देखकर चांदी है या टीन है।

२. रस्सी को साँप समझना।

३. बागबाजार का रसगुल्ला बड़ा अच्छा था। यहाँ हमेशा भूत काल का प्रयोग होता है।

४. सन्देश पेड़े के जैसा है।

५. बादलों की श्यामता से पानी बरसेगा यह ज्ञान।

६. वृक्ष दिखने पर किस नाम का वृक्ष है इसका निश्चय न होना।

७. प्रत्यक्षादि सभी अनुभवों के भेद उसी ज्ञानशक्ति के भेद हैं।

—१७-१९—

इन ज्ञानों में प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान कौन कौन से हैं इस विषय में वादियों के मतभेदों को दिखाते हैं :—

प्रत्यक्षमेकञ्चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः ।
अनुमानञ्च तच्चापि साङ्ख्याश्शब्दञ्चते अपि ॥ १७ ॥

न्यायैकदेशिनोप्येवमुपमानंच केचन ।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः ॥ १८ ॥

अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा ।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥ १९ ॥

(पदच्छेदः)

प्रत्यक्षम् एकम् चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः ।
अनुमानम् च तत् च अपि साङ्ख्याः शब्दम् च ते अपि ॥ १७ ॥

न्यायैकदेशिनः अपि एवम् उपमानम् च केचन ।
अर्थापत्त्या सह एतानि चत्वारि आह प्रभाकरः ॥१८॥

अभावषष्ठानि एतानि भाट्टाः वेदान्तिनः तथा ।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिकाः जगुः ॥१९॥

(सान्वयार्थः)

चार्वाकाः	=भौतिकवादी[१]
एकम्	=एक
प्रत्यक्षम्	=इन्द्रियों से उत्पन्न[२] (ज्ञान को ही यथार्थ मानते हैं);
पुनः	=और
कणादसुगतौ	=कणाद[3] और बुद्ध[४]
तत्	=उसको (प्रत्यक्ष)
च	=और
अनुमानम्	=अनुमानको[५]
च	=और
अपि	=भी (मानते हैं);
साङ्ख्याः	=सांख्यमतवाले[६]
ते	=उन दोनों को (प्रत्यक्ष और अनुमान)
च	=और
शब्दम्	=शब्द को[७]
अपि	=भी (मानते हैं);
एवम्	=इसी प्रकार (तीन प्रमा वादी)
न्यायैकदेशिनः	=एकदेशी न्यायानुयायी[८]
अपि	=भी (हैं);
च	=एवं
केचन	=कुछेक[९]
उपमानम्	=उपमान[१०] को (भी मानते हैं);
प्रभाकरः	=प्रभाकर[११] मीमांसक
एतानि	=इन
चत्वारि	=चारों को
अर्थापत्त्या	=अर्थापत्ति[१२] के
सह	=साथ
आह	=बताते हैं;
भाट्टाः	=भाट्ट[१३] मीमांसक
तथा	=तथा
वेदान्तिनः	=वेदान्ती[१४]
एतानि	=इन पांच के साथ
अभावषष्ठानि[१५]	=व छठे अभाव[१६]को मानते हैं;
पौराणिकाः	=पुराण[१७] को मानने वाले
तानि	=इन छ को
सम्भवैतिह्ययुक्तानि	=सम्भव[१८] और इतिहास[१९]के साथ
जगुः	=कहते हैं।

व्याख्या

१. सुन्दर वचन बोलने वाले होने से इन्हें चार्वाक कहा गया है लोक प्रसिद्ध बातों का अनुकरण करके लोक को ही सब कुछ समझने के कारण इन्हें लोकायत भी कहा जाता है।

२. इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से होने वाला ज्ञान ही एक मात्र प्रमा है।

३. वैशेषिकदर्शन के आचार्य। यह अत्यन्त घोर तपस्या करते हुये खेतों से कण बीनकर खाते थे। इनके मत में केवल छ पदार्थ हैं। ये दो प्रमाणवादो है।

४. प्रसिद्ध गौतमबुद्ध जो आत्मा को क्षणिकविज्ञान से भिन्न स्वतंत्र सत्तावाला नहीं मानते थे। यह दो प्रमाणवादी हैं।

५. व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टलिङ्गज्ञानलक्षणमनुमानम्। पर्वत में धूम देखकर धूम और वह्नि की व्याप्ति ज्ञान वाले पुरुष को जो पर्वत में वह्नि का ज्ञान होता है वह अनुमान है।

६. कपिल महर्षि द्वारा स्थापित विचारधारा जो प्रायः पुराणों में एवं स्मृतिग्रन्थों में स्वीकृत है। यहाँ सेश्वर सांख्यवादी पातंजलों को भी समझ लेना चाहिये। ये पच्चीस या छब्बीस तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। यह तीन प्रमाणवादी हैं।

७. विश्वासयोग्य पुरुष के तात्पर्य से दूसरे को स्वानुभूत यथार्थ ज्ञान के परिचय देने के लिये कहे गये वाक्य से पद-पदार्थ को जानने वाले में जो ज्ञान उत्पन्न होता है। वस्तुतस्तु आप्तवाक्य ही शब्द है।

८. प्राचीन न्यायशास्त्र के अनुयायी।

९. दूसरे नैयायिक लोग अर्थात् नव्यनैयायिक। यह चार प्रमाणवादी है।

१०. अतिदेशवाक्यार्थज्ञानसहकृतसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानलक्षणमुपमानम्। किसी वनवासी के द्वारा गवय गौके जैसा होता है ऐसा बता

देने पर बाद में गवय को देखने पर जो ज्ञान होता है वह उपमान है। वस्तुतस्तु भाचित्र को देखकर नाम जान लेने पर व्यक्ति को देखकर जो उसके नाम का ज्ञान होता है वह भी उपमान ही है। इसका मूल तुलना ही है।

११. प्रभाकर आचार्यपाद कुमारिलभट्ट के शिष्य होने पर भी मीमांसा में एक नवीन सिद्धान्त के स्थापक बने। इनकी बुद्धिकुशलता से प्रभावित होकर स्वयं कुमारिल इन्हें 'गुरु' कहा करते थे। अतः प्राभाकर सिद्धान्त प्रायः 'गुरुमत' कहा जाता है। इन्होंने शाबरभाष्य पर स्वतन्त्र वार्तिकरचना की है। पर इनका सिद्धान्त विद्वानों तक ही सीमित रहा। यह पांच प्रमाण स्वीकार करते हैं।

१२. जिसकी उपपत्ति न हो सके ऐसे पदार्थ का अनुभव होने पर उसको उपपन्न करने के लिये जो अर्थान्तर कल्पना की जाती है उस ज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं। अर्थात् आपत्तिः अर्थापत्तिः। यहां कुछ मानकर अनुभव की व्यवस्था करनी पड़ती है। दिन में भूखे रहनेवाले संन्यासी को प्रतिदिन मुटाते देखकर उसके रात्रि भोजन का ज्ञान होता है। क्योंकि अन्यथा मोटा होना संभव नहीं।

१३. आचार्य पाद कुमारिल भट्ट के अनुयायी। बौद्धधर्म द्वारा निहतप्राय वैदिक धर्म के प्रवृत्ति लक्षण धर्म के उद्धारक एवं भगवान् शंकरभगवत्पादाचार्य के सहयोगी। सनातन धर्म के सारे याग, पूजा, अनुष्ठान, वैदिक तात्पर्यनिर्णय आदि में इन्हीं का निर्णय मान्य है। वैष्णव आचार्य, सन्तमत के अनुयायी आदि के अनेक प्रयास के बावजूद भी सामान्य सनातनधर्मानुयायी अब भी वैदिक ही बने हुये हैं इसका अधिकतर श्रेय आचार्य शंकर एव कुमारिल को ही है। व्यवहार में वेदान्ती भी भाट्ट होते हैं और परमात्मविचारावसर में भाट्ट भी वेदान्ती होते हैं अतः दोनों का समानप्रमावादी होना स्वाभाविक ही है। इनके मत में छ प्रमाण हैं।

१४. उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रों के आधार पर केवलाद्वयवाद स्वीकार करने वाले ।

१५. अभावाख्यं अनुपलब्धिलक्षणं प्रमाणं षष्ठं येषां तेऽभावषष्ठाः ।

१६. प्रत्यक्ष की सामग्री होने पर पदार्थज्ञानाभाव से पदार्थाभाव का ज्ञान । जैसे प्रकाशयुक्त कमरे में निर्दुष्ट चक्षु वाले को घड़े का न दिखना घड़े के अभाव का ज्ञान करा देता है ।

१७. अष्टादश पुराण और उपपुराणों एवं रामायण और महाभारत के प्रमाण को स्वीकार करने वाले । यद्यपि पुराणों को सभी आस्तिक मानते हैं पर वैदिक वेद को ही स्वतः प्रमाण स्वीकार करते हैं । पौराणिक सभी पुराणों के विरोध परिहार का श्रम करते हुये उन्हें ही परमप्रमाण मानते हैं । पुराणों में वस्तुतः सभी दर्शनों का दिग्दर्शन मिलता है । पर उनका विशेषदर्शन पौराणिक है । ये आठ प्रमाण मानते हैं ।

१८. अंशी के अस्तित्व ज्ञान से अंशों की सत्ता का ज्ञान । शतरुपये हैं कहने से दशरुपये हैं का ज्ञान ।

१९. उपदेशपरम्परामात्रजन्यं ज्ञानम् । परम्परा के मूल का ज्ञान न होने से उसकी आप्तता की सिद्धि नहीं हो सकती अतः यह शब्दप्रमा से भिन्न है । जैसे इस वट वृक्ष पर ब्रह्मपिशाच रहता है ।

[प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव और ऐतिह्य यथार्थ ज्ञान के लिये भी प्रयुक्त पद हैं और यथार्थ ज्ञानसाधन के लिये भी । अतः यहाँ दोनों ही समझ लेना चाहिये । एक प्रकार के प्रमा के लिये एक ही प्रकार का प्रमाण अपेक्षित है, यह तो सर्ववादिसम्मत है ।

चार्वाक तो हठधर्मी से अन्य प्रमाणों का निरादर करता है पर अन्य वादी सभी प्रमाणों को स्वाभिप्रेत प्रमाणों के अन्दर मिला देते हैं ।]

—२०—

प्रमाणतत्व में मतभेद दिखाकर प्रमेयतत्त्व विषयक वादियों में प्रसिद्ध मतभेद का निरूपण करते हैं :—

द्रव्यङ्गुणास्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ।
समवायंञ्च काणादाः पदार्थान्षट् प्रचक्षते ॥२०॥

(पदच्छेदः)

द्रव्यम् गुणः तथा कर्म सामान्यम् सविशेषकम् ।
समवायम् च काणादाः पदार्थान् षट् प्रचक्षते ॥२०॥

(सान्वयार्थः)

द्रव्यम्	=द्रव्य (गुण वाला),	च	=और
गुणः	=गुण (जातिमात्र में रहते हुये क्रिया रहित)	समवायम्	=समवाय (जाति व्यक्ति आदि का नित्य सम्बन्ध)
तथा	=और		
कर्म	=क्रिया (चलनरूप),	षट्	=ये छ
सामान्यम्	=जाति (अनेकों में अनुगत नित्य),	पदार्थान्	=पदार्थ
		काणादाः	=कणादानुयायी
सविशेषकम्	=विशेष (नित्यद्रव्यमात्राश्रिताः)	प्रचक्षते	=बताते हैं ।

—२१—

द्रव्यों का विभाग बताते हैं :—

नव द्रव्याणि भूतानि दिक्कालात्ममनांसि च ।

(पदच्छेदः)

नव द्रव्याणि भूतानि दिक्कालात्ममनांसि च ।

(सान्वयार्थः)

भूतानि	=महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश)	नव	=ये नव
च	=और	द्रव्याणि	=द्रव्य (के भेद काणाद मानते हैं)
दिक्-काला-ऽऽत्म-मनांसि	= दिशा,समय, आत्मा,मन		

—२१ ख—२३—

गुणों का विभाग करते हैं :—

चतुर्विंशतिरेव स्युर्गुणाश्शब्दादि पञ्चकम् ॥२१॥
परिमाणञ्च सङ्ख्या च द्वौ संयोगविभागकौ ।
स्वभावतः पृथक्त्वञ्च गुरुत्वन्द्रवता पुनः ॥२२॥
परत्वञ्चापरत्वञ्च स्नेहस्संस्कार इत्यपि ।
धीर्द्वेषसुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नकाः ॥२३॥

(पदच्छेदः)

चतुर्विंशतिः एव स्युः गुणाः शब्दादिपञ्चकम् ॥२१॥
परिमाणम् च सङ्ख्या च द्वौ संयोगविभागकौ ।
स्वभावतः पृथक्त्वम् च गुरुत्वम् द्रवता पुनः ॥२२॥
परत्वम् च अपरत्वम् च स्नेहः संस्कारः इति अपि ।
धीः द्वेष-सुख-दुःखे-च्छा-धर्मा-धर्म-प्रयत्नकाः ॥२३॥

(सान्वयार्थः)

शब्दादिपञ्चकम्	=शब्द (स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) आदि पांच,[1]
परिमाणम्	=नाप,[2]
च	=और
संख्या	=गिनती,[3]
च	=और
संयोग-विभागकौ	=जुड़ना और अलग होना
द्वौ	=ये दो,
स्वभावतः	=स्वभाव से
पृथक्त्वम्	=पदार्थों का अलगपना,[4]
च	=और
गुरुत्वम्	=भार,[5]
द्रवता	=तरलता,[6]
पुनः	=और
परत्वम्	=आगे होना,
च	=और
अपरत्वम्	=पीछे होना,

च	=और	अपि	=भी
स्नेहः	=चिकनाहट,[७]	इति	=ये इतने
संस्कारः	=संस्कार, (रुजवाहट)	एव	=ही
		गुणाः	=गुण
धीः	=बुद्धि[८],	चतुर्विंशतिः	=चौबीस
द्वेष-सुख-दुःखेच्छा-धर्माधर्म-प्रयत्नकाः	=द्वेष,[९] सुख, दुःख, इच्छा, पुण्य,[१०] पाप[११] और कोशिश (उत्साह)	स्युः	=(वैशेषिकमत में) होते हैं।

१. यह आकाशादि महाभूतों के विशेष गुण हैं।

२. अणु, ह्रस्व, दीर्घ और महत् ये चार नाप ही वैशेषिक मानते हैं।

३. एक, दो, तीन आदि संख्यायें पदार्थ में रहती हैं।

४. स्वभाव से अलगपना अर्थात् आकाशादि में भी यद्यपि घटादि उपाधि से अलगाव मालूम पड़ता है, पर वह अलगाव द्रव्यगतगुण नहीं है।

५. जिस गुण से पदार्थ गिरते हैं।

६. जिस गुण के कारण पदार्थ बहते हैं।

७. जिस गुण से पदार्थ चिपकते हैं।

८. समझने की शक्ति देने वाला गुण।

९. सहन न होने का गुण।

१०. शास्त्रोक्त क्रिया से उत्पन्न होने वाला अतीन्द्रिय गुण।

११. शास्त्रविरुद्धक्रिया से उत्पन्न होने वाला अतीन्द्रिय गुण।

—२४—२५

संस्कारगुण को विभक्त करके बताते हैं :—

संस्कारस्त्रिविधो वेग इष्वादेर्गतिकारणम् ।
दृष्टश्रुतानुभूतार्थस्मृतिहेतुश्च भावना ॥२४॥
स्थितस्थापकता नाम पूर्ववत्स्थितिकारणम् ।
आकृष्टशाखाभूर्जादौ स्पष्टमेवोपलक्ष्यते ॥२५॥

(पदच्छेदः)

संस्कारः त्रिविधः वेगः इष्वादेः गतिकारणम् ।
दृष्ट-श्रुता-ऽनुभूतार्थ-स्मृतिहेतुः च भावना ॥२४॥
स्थितस्थापकता नाम पूर्ववत् स्थितिकारणम् ।
आकृष्टशाखा-भूर्जादौ स्पष्टम् एव उपलक्ष्यते ॥२५॥

(सान्वयार्थः)

संस्कारः	=संस्कार
त्रिविधः	=तीन प्रकार (का होता है) ।
वेगः	=वेग[1] (जो)
इष्वादेः	=(धनुष से छूटे हुये) बाण आदि की
गतिकारणम्	=गति का कारण,
भावना	=भावना (जो)
दृष्ट-श्रुता—नुभूतार्थस्मृतिहेतुः	=देखे, सुने, अनुभव में[2] आये पदार्थों की याद दिलाने वाली,
च	=और
स्थितस्थापकता	=स्थितस्थापकता
नाम	=उसको कहते हैं जो
पूर्ववत्	=पहले की तरह
स्थितिकारणम्	=स्थिति को लाती है
आकृष्टशाखा-भूर्जादौ	=(जैसाकि) खींची हुई डाल या लिपटा हुआ भोज-पत्र[3] (यारबड़) आदि में
स्पष्टम्	=साफ
एव	=ही
उपलक्ष्यते	=दिखती है ।

व्याख्या

१. जब गोली और बन्दूक का सम्बन्ध टूट गया तब उस गोली को आगे बढ़ाने वाला कोई गुण उस गोली में मानना पड़ेगा जो बन्दूक छूटने से उसमें आया। इस गुण को वेग (momentum) कहते हैं।

२. प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से जाने हुऐ पदार्थ की उस पदार्थ की अनुपस्थिति में जो याद आती है उसका कारण भावना नामक संस्कार है।

३. पेड़ की डाल को खींचकर छोड़ने पर वह पुनः पहले की जगह ही चली जाती है, या भोजपत्र को मोड़कर छोड़ने पर फिर से मुड़ जाता है।

—२६—

क्रिया का भेद बताते हैं:—

उत्क्षेपणमवक्षेपो गमनञ्च प्रसारणम् ।
आकुञ्चनमिति प्राहुः कर्म पञ्चविधम्बुधाः ॥ २६ ॥

(पदच्छेदः)

उत्क्षेपणम् अवक्षेपः गमनम् च प्रसारणम् ।
आकुञ्चनम् इति प्राहुः कर्म पञ्चविधम् बुधाः ॥ २६ ॥

(सान्वयार्थः)

बुधाः=वैशेषिकशास्त्र के विज्ञाता
उत्क्षेपणम्=ऊपर फेंकना,
अवक्षेपः=नीचे फेंकना,
गमनम्=जाना,
प्रसारणम्=फैलाना,
च=और
आकुञ्चनम्=सिकोड़ना
इति=इस प्रकार से
पञ्चविधम्=पाँच प्रकार के
कर्म=कर्म
प्राहुः=बतलाते हैं।

—२७—२८—

द्रव्य, गुण और कर्म के भेदनिरूपण के पश्चात् सामान्य का विभाग बताते हैं:—

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ।
परं सत्तैव सर्वत्र तदनुस्यूतवर्तनम् ॥ २७ ॥
द्रव्यत्वञ्च गुणत्वाद्यं सामान्यमपरं तथा ।
विशेषास्युरनन्तास्ते व्यावृत्तिज्ञान हेतवः ॥ २८ ॥

(पदच्छेदः)

सामान्यम् द्विविधम् प्रोक्तम् परम् च अपरम् एव च ।
परम् सत्ता एव सर्वत्र तदनुस्यूतवर्तनम् ॥२७॥
द्रव्यत्वम् च गुणत्वाद्यम् सामान्यम् अपरम् तथा ।
विशेषाः स्युः अनन्ताः ते व्यावृत्तिज्ञानहेतवः ॥२८॥

(सान्वयार्थः)

सामान्यम्	=जाति
परम्	=पर
च	=और
अपरम्	=अपर
च	=इस प्रकार
द्विविधम्	=दो प्रकार की
एव	=ही
प्रोक्तम्	=कही गई है ।
परम्	=पर (जाति)
सत्ता	=सत्ता[1]
एव	=ही (है)
सर्वत्र	=सब देश, काल, वस्तुओं में
तदनुस्यूतवर्तनम्	=उसका व्याप्त होकर रहना (उसकी परता है) ।

तथा	=तथा
अपरम्	=अपर[2]
सामान्यम्	=जाति
द्रव्यत्वम्	=द्रव्यता
च	=और
गुणत्वाद्यम्	=गुणता आदि है ।
व्यावृत्तिज्ञानहेतव:	=हरएक पदार्थ को अलग अलग जनाने के कारण
विशेषा:	=विशेष
स्यु:	=हैं ।
ते	=वे (विशेष)
अनन्ता:	=अनन्त[3] हैं ।

व्याख्या

१. सत्ता की सर्वव्यापकता तो नैयायिक, वैशेषिक आदि सभी दार्शनिकों को स्वीकार करनी ही पड़ती है। पर इनके मत में सब में रहने वाली सत्ता जाति है। वेदान्ती व्यापकता से कारणता सिद्ध करता है। सत्ता ही सर्वव्यापक होने से सर्वकारण भी है। वैशेषिक इसको पर जाति मानते हैं क्योंकि इससे अधिक या समान व्यापक अन्य पदार्थ नहीं है।

२. कई चीजों में रहने वाली सभी जातियाँ अपर हैं। मनुष्यता, पुरुषत्व, गोत्व, महिषत्व आदि सभी अपर जातियाँ हैं।

३. अनन्त पदार्थों को अलग करने वाले विशेष अनन्त हों यह स्वाभाविक है। बिल्कुल समान परमाणुओं में भी भेद रहता है, अन्यथा वे एक ही हो जावें। इस भेद का कारण विशेष हैं। मन, आत्मा, काल, दिशा, आकाश एवं पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं में भी विशेष हैं।

—२९–३०—

रूपस्येव घटे नित्यः सम्बन्धस्समवायकः।
कालाकाशदिगात्मानो नित्याश्च विभवश्च ते ॥२९॥
चतुर्विधाः परिच्छिन्ना नित्याश्च परमाणवः।
इति वैशेषिकमते पदार्थाष्षट् प्रकीर्तिताः ॥३०॥

(पदच्छेदः)

रूपस्य इव घटे नित्यः सम्बन्धः समवायकः।
कालाकाशदिगात्मानः नित्याः च विभवः च ते ॥२९॥
चतुर्विधाः परिच्छिन्नाः नित्याः च परमाणवः।
इति वैशेषिकमते पदार्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥३०॥

(सान्वयार्थः)

घटे	=घड़े में
रूपस्य	=रूप की
इव	=तरह
नित्यः	=सदा रहने वाला
सम्बन्धः	=सम्बन्ध
समवायकः	=समवाय[1] (कहा जाता है) ।
च	=एवं[2]
काला-काश दिग्-आत्मानः	=समय, आकाश, दिशा, और आत्मा
नित्याः	=सदा रहने वाले
च	=और
ते	=वे
विभवः	=व्यापक भी हैं ।
चतुर्विधाः	=चार प्रकार के (पृथ्वी, जल, तेज और वायु)
परमाणवः	=परमाणु
परिच्छिन्नाः	=परिच्छिन्न
च	=और
नित्याः	=सदा रहने वाले हैं ।
इति	=इस प्रकार
वैशेषिकमते	=वैशेषिक दर्शन में
षट्	=छ
पदार्थाः	=पदार्थ
प्रकीर्तिताः	=विस्तार से कहे गये हैं ।

व्याख्या

१. घड़ा कभी बिना रूप के नहीं रहता अतः यह नित्यसम्बन्ध है। इसी प्रकार अंश और अंशी का (जैसे पट-तन्तु), द्रव्य और गुण का (जैसे पट और रंग), कर्म और कर्त्ता का, जाति और व्यक्ति का (जैसे गोत्व और गो) एवं विशेष और नित्य पदार्थों का सम्बन्ध नित्य होने से समवाय है।

२. नवों द्रव्यों के नित्य और अनित्य विभाग को बताते हैं। परमाणु तथा काल, आकाश दिशा और आत्मा नित्य हैं । बाकी सारे द्रव्य अनित्य हैं। इनमें भी परमाणु तो अतिसूक्ष्म और नित्य हैं। बाकी सारे व्यापक और नित्य हैं, अर्थात् इनका सब के साथ सर्वदा सम्बन्ध है। आत्मा की व्यापकता को वैशेषिक भी स्वीकार करते हैं। इसी व्यापकता से सत्ता की एकता सिद्ध करने का काम वेदान्तियों ने किया है।

—३१—

वैशेषिकमत का वर्णन करके भगवान वार्तिककार सेश्वर सांख्यमत का वर्णन प्रारंभ करते हैं:—

माया प्रधानमव्यक्तमविद्याऽज्ञानमक्षरम् ।
अव्याकृतञ्च प्रकृतिस्तम इत्यभिधीयते ॥ ३१ ॥

(पदच्छेदः)

माया प्रधानम् अव्यक्तम् अविद्या अज्ञानम् अक्षरम् ।
अव्याकृतम् च प्रकृतिः तमः इति अभिधीयते ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ—जगत् का मूलकारण माया, प्रधान, अव्यक्त, अविद्या, अज्ञान, अक्षर, अव्याकृत प्रकृति और तम इन नामों से श्रुति, स्मृति, पुराण, दर्शन शास्त्रों में कहा गया है ।

—३२—

मायायां ब्रह्मचैतन्यप्रतिविम्वानुषङ्गतः ।
महत्कालपुमांसस्स्युः महत्तत्त्वादहंकृतिः ॥ ३२ ॥

(पदच्छेदः)

मायायाम् ब्रह्मचैतन्यप्रतिबिम्बानुषङ्गतः ।
महत्-काल-पुमांसः स्युः महत्तत्त्वात् अहङ्कृतिः ॥ ३२ ॥

(सान्वयार्थः)

मायायाम्	=माया में	महत्-काल-पुमांसः	=महत्, काल[3] और पुरुष[4] (यह तीन तत्त्व)
ब्रह्म[1] चैतन्यप्रति-विम्बानुषङ्गतः	=माया के नियामक परमेश्वर के प्रति-बिम्ब का संबन्ध[2] होने से	स्युः	=(उत्पन्न) होते हैं।
		महत्तत्त्वात्	=महत्[5] तत्त्व से
		अहङ्कृतिः	=अहंकार (उत्पन्न होता है।)

व्याख्या

१. जीव की व्यावृत्ति करने के लिये ब्रह्म अर्थात् व्यापक चैतन्य कहा। सांख्य मत में नाना चैतन्य स्वीकृत हैं।

२. जड़रूपा मूल प्रकृति में चैतन्यरूप ईश्वर का सम्बन्ध ही उसका प्रतिबिम्ब है। इस सम्बन्ध से ही सृष्टि विकास है। अतः सेश्वरसांख्य में प्रकृति और ईश्वर दोनों का संयोग जगत्कारण है।

३. त्रिगुणात्मिका प्रकृति साम्यावस्था में सृष्टि का विस्तार करने में असमर्थ है। अतः गुणों का उत्कर्ष या अपकर्ष अपेक्षित है। इस क्षोभ का करने वाला काल है। काल वस्तुत: प्रकृति के सम्बन्ध से होनेवाली परमेश्वर की ही अवस्थाविशेष का नाम है।

४. पुरुष या जीव जन्ममरणशील बंधमोक्ष का अधिकारी, कर्म में स्वतंत्र, अनादि, नित्य और चैतन्य हैं। अन्त:करणादि प्रकृति के कार्य की उपाधि पुरुष की है। जगद्विस्तार जीव के अभ्युदय और नि:श्रेयसार्थ ही है। पुरुष प्रकृति के विकारों को जानता भी है और उनका भोग करने वाला भी वही है। जीव ही उनसे प्रभावित होता है।

५. महत्तत्त्व प्रकृति का प्रथमविकार है। यह काल के प्रभाव से उत्पन्न होता है और इसके सहारे से ही पुरुष अस्तित्व में आता है। महत्तत्त्व वेदान्तदृष्टि से समष्टि बुद्धि कहा जा सकता है।

—३३—३४—

अहंकारतत्त्व सत्त्वादिभेद से तीन प्रकार का होता है। उसमें से तामस अहङ्कार का कार्य बताते हैं:—

तामसात्स्युरहङ्कारात्खानिलाग्न्यम्बुभूमयः।
शब्दस्स्पर्शश्च रूपञ्च रसोगन्धोप्यनुक्रमात् ॥ ३३ ॥
इन्द्रियाणाञ्च विषया भूतानामपि ते गुणाः।
देवास्सदाशिवश्चेशो रुद्रो विष्णुश्चतुर्मुखः॥ ३४ ॥

(पदच्छेदः)

तामसात् स्युः अहङ्कारात् खानिलाग्न्यम्बुभूमयः ।
शब्दः स्पर्शः च रूपम् च रसः गन्धः अपि अनुक्रमात् ॥ ३३ ॥

इन्द्रियाणाम् च विषयाः भूतानाम् अपि ते गुणाः ।
देवाः सदाशिवः च ईशः रुद्रः विष्णुः चतुर्मुखः ॥ ३४॥

(सान्वयार्थः)

तामसात् = तमोगुण प्रधान
अहङ्कारात् = अहङ्कार से
ख-अनिल-अग्नि-अम्बु-भूमयः = आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी (एवम्)
शब्दः = शब्द,
स्पर्शः = स्पर्श,
च = और
रूपम् = रूप,
रसः = रस,
च = और
गन्धः = गन्ध
अपि = भी
स्युः = (उत्पन्न) होते हैं ।
ते = वे (शब्दादि)
अनुक्रमात् = क्रम से
इन्द्रियाणाम् = (कान, त्वक् आदि) इन्द्रियों के
विषयाः = विषय[1]
च = और
भूतानाम् = (आकाश, वायु आदि) भूतों के
गुणाः = गुण
अपि = भी (होते हैं) ।
देवाः = (भूतों के नियामक) देवता[2]
सदाशिवः = सदाशिव (आकाश के अधिष्ठाता)
ईशः = ईश (वायु के अधिष्ठाता)
रुद्रः = रुद्र (अग्नि के अधिष्ठाता)
विष्णुः = विष्णु (जल के अधिष्ठाता)
च = और (पृथ्वी के अधिष्ठाता)
चतुर्मुखः = ब्रह्मा (क्रम से है ।)

व्याख्या

१. शब्द आकाश का गुण है और कान का विषय है। स्पर्श वायु का गुण है और त्वक् का विषय है। रूप अग्नि का गुण है और आँख का विषय है। रस जल का गुण है और रसना का विषय है। गन्ध पृथ्वी का गुण है और नाक का विषय है। महाभूत और उनके गुण तामस अहंकार से उत्पन्न हैं।

२. महाभूत जड़ हैं और उनसे संश्लिष्ट, उनकी उपाधि को धारण करने वाला, उनका नियामक चैतन्यांश ही उनके अधिष्ठाता देवता हैं। जड़ में स्वतः प्रवृत्ति की असंभावना ही इनके चैतन्यांश में प्रमाण है। देवताओं का क्रम तंत्रशास्त्रों में वर्णित है। ये देवता ही इनके क्रमिक विकास और नियमानुवर्तन का संचालन करते हैं। यद्यपि कुछ पंचदेवोपासक इसमें व्युत्क्रम स्वीकार करते हैं पर वह चिन्त्य है। भगवान सुरेश्वराचार्य के मत में एवं प्राचीन सिद्धान्तानुकूल यह क्रम ही मान्य है। इसका संबन्ध उपासना से है। मन में तत्त्वप्रधानता ही उपास्यतत्त्व की निर्णायिका है। इस रहस्य के अविचार से ही आधुनिक युग में मताग्रह से उपास्य का विप्लव होता जा रहा है।

—३५—

सात्त्विकात्स्यादहङ्कारादन्तः करणधीन्द्रियम् ।
मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तङ्करणमान्तरम् ॥ ३५ ॥

(पदच्छेदः)

सात्त्विकात् स्यात् अहङ्कारात् अन्तःकरण-धीन्द्रियम् ।
मनः बुद्धिः अहङ्कारः चित्तम् करणम् आन्तरम् ॥ ३५ ॥

(सान्वयार्थः)

सात्त्विकात् = सत्त्वगुणप्रधान
अहङ्कारात् = अहङ्कार से
अन्तःकरण-धीन्द्रियम् = अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ
स्यात् = (उत्पन्न) होती हैं।
आन्तरम् = अन्तः
करणम् = करण (के चार भेद)
मनः = मन,
बुद्धिः = बुद्धि,
अहङ्कारः = अहङ्कार और
चित्तम् = चित्त (है)।

—३६—

अब अन्तःकरण के विभागों के कार्य और अधिष्टाता देवता बताते हैं :—

संशयो निश्चयो गर्वस्स्मरणं विषया अमी ।
चन्द्रः प्रजापतीरुद्रः क्षेत्रज्ञ इति देवताः ॥ ३६ ॥

(पदच्छेदः)

संशयः निश्चयः गर्वः स्मरणम् विषयाः अमी ।
चन्द्रः प्रजापतिः रुद्रः क्षेत्रज्ञः इति देवताः ॥ ३६ ॥

(सान्वयार्थः)

अमी =इनके	चन्द्रः =(और) चन्द्र
विषयाः=विषय	प्रजापतिः =प्रजापति[1]
संशयः =संशय (मन का)	रुद्रः =रुद्र
निश्चयः=निश्चय (बुद्धि का)	क्षेत्रज्ञः =क्षेत्रज्ञ
गर्वः =घमण्ड (अहंकार का)	इति =इस प्रकार (क्रम से)
स्मरणम्=याद (चित्त का)	देवताः =देवता हैं ।

[अन्तःकरण जब जिस विषय का सम्पादन करता है तब उसका वही नाम और देवता हो जाता है। अतः संशय करने वाली अन्तःकरणावस्था मन कही जाती है और उसका नियामक चैतन्य चन्द्रमा है। निश्चय करने वाली अन्तःकरण की अवस्था बुद्धि और उसकी उपाधि को धारण करने वाले प्रजापति है। गर्वावस्था, अहंकार,एवं उससे संबन्धित देवता रुद्र हैं। स्मरण के विकास और नियमानुवर्तन का कार्य क्षत्रज्ञ करता है एवं अन्त करण की तद्विशिष्ट अवस्था चित्त कहलाती है।]

व्याख्या

१. यह सांख्य सिद्धान्तानुसार है। वैदिकमत में वृहस्पति ही बुद्धि के देवता माने गये हैं। द्र० पंचीकरणवार्तिक २५ ॥ अन्य देवताओं के

विषय में मतभेद नहीं होने के कारण यहां भी प्रजापति और बृहस्पति की एकता स्वीकार्य है ।इसमें शिवपुराण अध्याय १४ प्रमाण है ।

—३७—

अन्तःकरण के भेद बताकर अब बाह्यकरण के भेद बताते हैं:—

श्रोत्रत्वक्चक्षुषी जिह्वाघ्राणंज्ञानेन्द्रियंविदुः ।
दिग्वातसूर्यवरुणानासत्यौ देवतास्स्मृता ः॥ ३७ ॥

(पदच्छेदः)

श्रोत्रम् त्वक् चक्षुषो जिह्वा घ्राणम् ज्ञानेन्द्रियम् विदुः ।
दिग्-वात-सूर्य-वरुणाः नासत्यौ देवताः स्मृताः ॥ ३७ ॥

(सान्वयार्थः)

श्रोत्रम् =कान,
त्वक् =त्वचा,
चक्षुषी =आंखें,
जिह्वा =जीभ,
घ्राणम् =नाक
ज्ञानेन्द्रियम् =(ये) ज्ञानेन्द्रियां
विदुः =जानी जाती हैं ।

देवताः =(इनके) देवता
दिग्-वात-सूर्य-वरुणाः =दिशा, वायु, सूर्य वरुण, और
नासत्यौ =अश्विनीकुमार
स्मृताः =ऋषियों ने स्मृतियों में बताये हैं ।

[कान शब्द को सुनता है और दिशा नामक देवता से नियन्त्रित है। त्वचा जो सर्व शरीर व्यापी है (शीत, उष्ण, दर्द, कठोर, कोमल आदि) स्पर्श का अनुभव करती है एवं वायुदेवता वाली है । आंखें आकार, रंग, संख्या आदि को देखती हैं और उससे संश्लिष्ट देवता सूर्य हैं । मीठा, खट्टा, नमकीन, कसैला, तीता, और कडवे स्वाद को विषय करने वाली इन्द्रिय जीभ वरुण देवतासे अधिष्ठित है । अश्विनी कुमार नाक के देवता हैं और गन्ध ग्रहण उसका कार्य है ।]

—३८—

राजसात्स्युरहङ्कारात्कर्मेन्द्रियसमीरणाः ।
कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिः पादः पायुरुपस्थकम् ॥३८॥

(पदच्छेदः)

राजसात् स्युः अहङ्कारात् कर्मेन्द्रियसमीरणाः ।
कर्मेन्द्रियाणि वाक् पाणिः पादः पायुः उपस्थकम् ॥ ३८ ॥

(सान्वयार्थः)

राजसात्	=रजोगुणप्रधान
अहङ्कारात्	=अहङ्कार से
कर्मेन्द्रिय-समीरणाः	= कर्म के साधन और प्राण
स्युः	=(उत्पन्न) होते हैं ।
वाक्	=जबान,
पाणिः	=हाथ,
पादः	=पैर,
पायुः	=पायु और
उपस्थकम्	=उपस्थ
कर्मेन्द्रियाणि	=कर्मेन्द्रियाँ (कही जाती हैं) ।

—३९—

वचनादानगमनविसर्गानन्दसंज्ञकाः ।
विषया देवतास्तेषांवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ॥३९॥

(पदच्छेदः)

वचनादानगमनविसर्गानन्दसंज्ञकाः ।
विषयाः देवताः तेषाम्वह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ॥३९॥

(सान्वयार्थः)

वचना-दान-गमन-विसर्गा-नन्द-संज्ञकाः	= बोलना, लेना-देना, जाना, छोडना सुख करना
विषयाः	=(इन कर्मेन्द्रियों के क्रमशः) विषय हैं ।
तेषाम्	=इन (कर्मेन्द्रियों) के
देवताः	=देवता
वह्नी-न्द्रो-पेन्द्र-मृत्युकाः	= अग्नि, इन्द्र, विष्णु, यमराज और प्रजापति हैं ।

—४०—४१—

प्राणोपानस्समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
भूतैस्तु पञ्चभिः प्राणैश्चतुर्दशभिरिन्द्रियैः ॥४०॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि साङ्ख्यशास्त्रविदो विदुः ॥४१॥

(पदच्छेद:)

प्राण:अपान: समान: च उदानव्यानौ च वायव: ।

भूतैः तु पञ्चभि: प्राणैः चतुर्दशभि: इन्द्रियैः ॥४०॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि साङ्ख्यशास्त्रविद: विदु: ॥४१॥

(सान्वयार्थ:)

वायव:	=(अन्दर में रहने वाले) वायु	भूतैः	=महाभूत, (आकाश आदि)
प्राण:	=प्राण	प्राणैः	=प्राण
आपन:	=और अपान	चतुर्दशभि:	=(और)चौदह
च	=और	इन्द्रियैः	= इन्द्रियाँ मिलकर
समान:	=समान	चतुर्विंशतितत्त्वानि	=चौबीस तत्त्व
च	=और	तु	=तो
उदान-व्यानौ	=व्यान और उदान (ये पांच हैं ।)	सांख्यशास्त्रविद:	=सांख्यशास्त्रज्ञ
पञ्चभि:	=पाँच	विदु:	=जानते हैं ।

व्याख्या

१. सेश्वर सांख्य में उपर्युक्त २४ तत्त्व स्वीकृत हैं । ब्रह्म, माया, महत्, काल, पुरुष, अहंकार और पंचभूततन्मात्राएँ कारण रूप से इन सभी तत्वों में ही विद्यमान हैं अत: उनको अलग तत्त्व मानना ठीक नहीं है ।

तु शब्द से अभिप्राय है कि चौबीस तत्त्वसंख्या सांख्यदर्शन की प्रधान मान्यता है अत: निरीश्वरसांख्य भी चौबीस संख्या स्वीकार करता है। परन्तु उनके मत में तत्त्व भिन्न हैं । उनके मत में प्राण भिन्न तत्त्व नहीं वरन् इन्द्रियों की सामान्य वृत्ति है । काल पदार्थों की पूर्ववृत्ति, वर्तमान-वृत्ति, या भावीवृत्ति से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है । पुरुष तो अनन्त हैं और न प्रकृति हैं अर्थात् न किसी के कारण हैं और न विकृति हैं अर्थात्

न किसी के कार्य हैं। उनके मत में मूलप्रकृति ही सभी का कारण है। महत्तत्त्व, अहङ्कार और पंचभूतन्मात्राएँ ये सात प्रकृतिविकृति हैं। पंचमहाभूत, दस इन्द्रियाँ और अन्तःकरण इस प्रकार सोलह विकृतियाँ हैं। यही चौबीस तत्त्व हैं। निरीश्वर सांख्य के अनुसार तामस अहंकार से पंचतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं जो महाभूतों का कारण है।

—४२— १

सांख्यतत्त्वों का प्रतिपादन करने के अनन्तर अब पौराणिक मत से तत्त्व निरूपण करते हैं :—

महान्कालः प्रधानं च मायाविद्ये च पूरुषः
इतिपौराणिकाः प्राहुस्त्रिंशत्तत्त्वानि तैस्सह ॥४२॥

(पदच्छेदः)

महान् कालः प्रधानम् च मायाविद्ये च पूरुषः।
इति पौराणिकाः प्राहुः त्रिंशत् तत्त्वानि तैः सह ॥४२॥

(सान्वयार्थः)

तैः =उनके (सांख्य के चौबीस तत्त्वों के)
सह =साथ
महान् = महत्तत्त्व,[1]
कालः =काल,[2]
प्रधानम् =मूलप्रकृति
च =और
मायाविद्ये =माया[3] और अविद्या[4]
च =तथा
पूरुषः =पुरुष[5]
इति =इस प्रकार से
त्रिंशत् =तीस
तत्त्वानि =तत्त्व
पौराणिकाः =पौराणिक[6]
प्राहुः =बतलाते हैं।

व्याख्या

१. यह प्रकृति का प्रथम विकार है।

२. अव्यक्त के साथ ईश्वर की चेष्टा या क्रिया ही काल कही जाती है। "योयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो। चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्।'

३. माया जिसमें रहती है उसको मोहमें न डालकर उसके अधीन रहती है। यह शक्तिरूप है।

४. अविद्या मोहमें डालकर अपने आश्रय को अपने अधीन रखती है। यह बन्धन कराती है।

५. पुरुष परमात्मा का अंश है।

६. पुराण को प्रमाण रूप से स्वीकार करने वाले। वैष्णव सम्प्रदाय इन्हीं के अन्तर्भुक्त हैं।

—४३—

अब सर्वाधिक तत्त्व स्वीकार करने वाले शैव मत का प्रतिपादन करते हैं :—

बिन्दुनादौ शक्तिशिवौ शान्तातीतौ ततः परम्।
षट्त्रिंशत्तत्त्वमित्युक्तं शैवागमविशारदैः ॥४३॥

(पदच्छेदः)

बिन्दुनादौ शक्तिशिवौ शान्तातीतौ ततः परम्।
षट्त्रिंशत् तत्त्वम् इति उक्तम् शैवागमविशारदैः ॥४३॥

(सान्वयार्थः)

ततः	=इन (तीस तत्त्वों) से	इति	=इस प्रकार
परम्	=आगे[1] (अधिक)	षट्त्रिंशत्	=छत्तीस
बिन्दु-नादौ	=बिन्दु[2] और नाद[3],	तत्त्वम्	=तत्त्व
शक्ति-शिवौ	=शक्ति[4] और शिव[5],	शैवागमवि-शारदैः	=शैव आगमशास्त्र में कुशल पण्डित
शान्ता-तीतौ	=एवं शान्त[6] और अतीत	उक्तम्	=कहते हैं।

व्याख्या

१. सांख्यप्रतिपादित चौबीस और पुराणोक्त विशेष छ तत्त्वों से

भी अधिक तत्त्व शैव स्वीकार करते हैं। वस्तुतस्तु शैवों ने ही सर्वाधिक तत्त्वविवेचन किया है। अतः इनकी तत्त्वसंख्या सर्वाधिक है। इनकी तत्त्वप्रक्रिया अत्यधिक वैज्ञानिक और वेद-सम्मत है।

२. सबका नियामक और अधिष्ठाता निर्गुण तत्त्व जो सदाशिव कहा जाता है।

३. सदाशिव का ही सब पदार्थों के प्रकाशकरूप से अभिव्यक्त प्रणवात्मक रूप नाद कहा जाता है।

४. माया और अविद्या से अलग सबके नियमन करने और अधिष्ठान बनने की परमेश्वर की सामर्थ्य ही शक्ति है।

५. शक्ति जिसमें रहती है वह शक्तिमान् ही शिव है। यही भक्तों को उल्लास देने के लिए स्वेच्छा से लीलाविग्रह धारण करते हैं।

६. शिव के ही शान्त और घोर दो रूप हैं। घोर रूप मोक्षप्रद है अतः उसे अतीत कहा जाता है। भोगार्थियों को भयावना लगता है अतः घोर भी है। तैत्तिरीयसंहिता ५.७.३ मे बताया है 'तस्यैते तनुवौ घोराऽन्या शिवाऽन्या ॥'

—४४—

दार्शनिको के मतभेद अनन्त हैं। अतः उनका वर्णन और खण्डन अशक्य है। प्रधान तत्त्वनिरूपणानन्तर अब एकतत्त्ववादी वैदिक मत का प्रतिपादन करते हैं :—

सर्वे विकल्पाः प्रागासन्बीजेऽङ्कुरइवात्मनि।
इच्छाज्ञानक्रियारूपमायया ते विजृम्भिताः ॥४४॥

(पदच्छेदः)

सर्वे विकल्पाः प्राक् आसन् बीजे अङ्कुरः इव आत्मनि ।
इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपमायया ते विजृम्भिताः ॥४४॥

(सान्वयार्थः)

बीजे	=बीज में	आसन्	=थे।
अङ्कुरः	=अङ्कुर की	ते	=वे (तत्त्व)
इव	=तरह	इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपमा-यया	=इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप माया[3] शक्ति से
प्राक्	=पहले[1]	विजृम्भिताः	=प्रकट हुये हैं।
आत्मनि	=परमात्मा में		
सर्वे	=सारे		
विकल्पाः	=(कल्पित किये हुये) तत्त्व[2]		

व्याख्या

१. सृष्टि अभिव्यक्त होने के पूर्व केवल परमात्मसत्ता का प्रतिपादन सभी श्रुतियों में है। वहाँ उस समय और किसी भी सत्ता का निषेध ही अद्वैत की पारमार्थिक सत्ता में प्रमाण है।

२. तत्त्व विचार और उनकी संख्या दार्शनिकों की अपनी कल्पना है। पदार्थों का वर्गीकरण व्यवहार चलाने के लिए जरूरी है। यह वर्गीकरण भिन्न प्रयोजनों के लिये भिन्न प्रकार का होगा। जनगणना में भाषा की दृष्टि से जो वर्गीकरण होगा, आमदनी या स्वास्थ्य की दृष्टि से तदपेक्षया सर्वथा भिन्न होगा। इनमें जो व्यक्ति एक प्रकार से एक वर्ग में आयेंगे दूसरे प्रकार से सर्वथा भिन्न वर्ग में जा पड़ेंगे। इनमें से किसी एक ही प्रकार के वर्गीकरण को वस्तुतः सत्य मानना मताग्रह है। वस्तुतस्तु प्रत्येक व्यक्ति स्वतः सत्तावान् है, किसी वर्ग के अन्तःपाती नहीं। वर्ग कल्पित है। इसी प्रकार तत्त्व कल्पित हैं, व्यवहार के लिये हैं और दृष्टि विशेष से भिन्न हैं। लेकिन वे सभी परमात्मा में मायाशक्ति से व्यक्त हुये हैं। अतः श्रौतसिद्धान्त केवल परमेश्वर को ही एक तत्त्व पारमार्थिक दृष्टि से स्वीकार करता है।

३. समग्र संसार में इच्छा, ज्ञान और क्रिया ही विलास कर रही है। कोई कवि काव्यनिर्माण की इच्छा से प्रमेय का ज्ञान प्राप्त कर

रचना करता है। यहाँ इच्छा प्रधान हैं, ज्ञान, क्रिया गौण है इसी प्रकार दूसरे को ज्ञान कराने के लिये वैज्ञानिक नये अन्वेषण प्रकट करता है। यहाँ ज्ञानप्रधान है। राजा दूसरे राजा को हराता है क्योंकि जीतने की इच्छा और कला दोनों उसमें विद्यमान हैं, यहाँ क्रिया प्रधान हैं।

वस्तुतस्तु ज्ञानेच्छाक्रिया का आश्रय परमेश्वर से भिन्न निरूपित करना असम्भव है। चेतनाश्रित ही संसार में यह तीनों देखे जाते हैं। अतः मायारूप ये ईश्वर में ही रहते हैं और इन्हीं से सृष्टि रचना है। जहाँ कहीं ऋषि, वेदव्यासादि, राजा आदि में यह तीनों देखे जाते हैं वहाँ ईश्वर ही उनके द्वार से क्रिया कर रहा है यह स्वीकार करना पड़ता है। चैतन्य में उपाधि से अतिरिक्त भेद मानने में प्रमाणाभाव है।

—४५—

ज्ञानेच्छाक्रिया वाला परमेश्वर है अतः सारे जीव परमेश्वर हैं यह प्रमाणित करते हुये पूर्व श्लोक में सृष्टि से पूर्व एक सत् मात्र का निर्देश करके स्थिति काल में भी उसीका अतिदेश करते हैं :—

इच्छाज्ञानक्रियापूर्वा यस्मात्सर्वाः प्रवृत्तयः।
सर्वेऽपिजन्तवस्तस्मादीश्वरा इति निश्चिताः॥४५॥

(पदच्छेदः)

इच्छा-ज्ञान-क्रियापूर्वाः यस्मात् सर्वाः प्रवृत्तयः।
सर्वे अपि जन्तवः तस्मात् ईश्वराः इति निश्चिताः॥४५॥

(सान्वयार्थः)

यस्मात्	=चूँकि	अपि	=ही
इच्छा-ज्ञान-क्रियापूर्वाः	=इच्छाः ज्ञान और क्रिया पूर्वक	जन्तवः	=प्राणी
सर्वाः	=सब कुछ	ईश्वराः	=ईश्वर हैं
प्रवृत्तयः	=घटता है	इति	=इस प्रकार
तस्मात्	=इसलिये	निश्चिताः	=निश्चय करना पड़ता है।
सर्वे	=सारे		

व्याख्या

[परमेश्वर में मायानिमित्तक ज्ञानेच्छाक्रिया है अतः उससे प्रसूत सभी को मायाकार्य मानना ही समीचीन है। वस्तुतस्तु केवल परमेश्वर ही एकमात्र सत्ता है।]

—४६—

श्लोक में भगवत्पादाचार्य बीजांकुर का दृष्टान्त देते हैं जिससे यह सन्देह उठता है कि जैसे बीज और वृक्ष व्यक्तिरूप से एक दूसरे के कारण हैं, अर्थात् जैसे एक बीज से वृक्ष, उस वृक्ष से फिर उसी जाति का दूसरा बीज और उससे पुनः उस जाति का वृक्ष; क्या वैसे ही जगत् से ईश्वर और ईश्वर से दूसरे जगत् की उत्पत्ति जो दूसरे ईश्वर का कारण यह दिखाना उनका तात्पर्य है। इस प्रकार ईश्वर और जगत् व्यक्तित्वेन अनन्त होंगे और दोनों ही कार्य कारण होंगे। ऐसा मानने पर अज परमेश्वर प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध होगा। इस विरोध-निवृत्त्यर्थ दृष्टान्तान्तर देते हैं :—

बीजाद्वृक्षस्तरोर्बीजं पारम्पर्येण जायते।
इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं योगिदृष्टान्तकीर्तनम् ॥४६॥

(परिच्छेदः)

बीजात् वृक्षः तरोः बीजम् पारम्पर्येण जायते।
इति शङ्कानिवृत्त्यर्थम् योगिदृष्टान्तकीर्तनम् ॥४६॥

(सान्वयार्थः)

बीजात् =बीजसे	शङ्कानिवृत्त्यर्थम् =सन्देह दूर करने के लिये
वृक्षः =पेड़	योगिदृष्टान्तकीर्तनम् =योगीका दृष्टान्त दिया गया है।
तरोः =(और) पेड़ से	
बीजम् =बीज	
पारम्पर्येण =परम्परा से	
जायते =उत्पन्न होता है	
इति =ऐसा	

—४७—

विश्वामित्रादयः पूर्वे परिपक्वसमाधयः ।
उपादानोपकरणप्रयोजनविवर्जिताः ।
स्वेच्छया ससृजुः स्वर्गं सर्वभोगोपबृंहितम् ॥

पदच्छेद : स्पष्ट है

(सान्ववार्थः)

पूर्वे	=प्राचीन काल में	स्वेच्छया	=केवल अपनी इच्छामात्र से
परिपक्वसमाधयः	=जिनकी समाधि अच्छी प्रकार से दृढ़ होगई थी	सर्वभोगोपबृंहितम्	=सारे भोगों से भरे हुये
विश्वामित्रादयः	=ऐसे विश्वामित्र आदिओं ने	स्वर्गम्	=स्वर्ग को
उपादानोपकरण-प्रयोजनविवर्जिताः	=बिना ही उपादान कारण, बिना ही साधन और बिना उद्देश्य के	ससृजुः	=बना दिया था ।[1]

व्याख्या

१. पुराणों में ऐसी कथाएँ प्रसिद्ध हैं कि ऋषियों ने स्वर्ग आदि की सृष्टि केवल इच्छामात्र से कर दी थी ।

—४८—

योगी के दृष्टान्त से दार्ष्टान्त में अतिदेश करते हैं : —

ईश्वरोऽनन्तशक्तित्वात्स्वतन्त्रोऽन्यानपेक्षतः ।
स्वेच्छामात्रेण सकलंसृजत्यवति हन्तिच ॥४८॥

(पदच्छेदः)

ईश्वरः अनन्तशक्तित्वात् स्वतन्त्रः अन्यानपेक्षतः ।
स्वेच्छामात्रेण सकलम् सृजति अवति हन्ति च ॥४८॥

(सान्वयार्थः)

स्वतन्त्रः =सर्वथा स्वाधीन[1]	स्वेच्छामात्रेण =केवल अपनी इच्छा से
ईश्वरः =परमेश्वर	सकलम् =सारे संसार को
अनन्तशक्तित्वात् =अनन्तशक्तिसंपन्न होने के कारण	सृजति =बनाता है,
अन्यानपेक्षतः =अपने से भिन्न किसी बाह्य कारण की सहायता के विना	अवति =रखता है,
	च =और
	हन्ति =(अन्त में) नष्ट कर देता है ।

व्याख्या

१. योगी भी जो परमेश्वराधीन होने से सर्वथा स्वाधीन नहीं है, जब सृष्टि कर लेता है तो सर्वथा अपराधीन परमेश्वर में यह दुर्घट कैसे हो सकता है ।

—४९—

परमेश्वर को श्रुतियों में सर्वक्रियारहित बताया है। फिर उसमें सृष्टि आदि की उपपत्ति कैसे होगी इस शङ्का को हटाते हैं:—

न कारकाणां व्यापारात्कर्त्तास्यान्नित्यईश्वरः ।
नापि प्रमाणव्यापाराज्ज्ञाताऽसौ स्वप्रकाशकः ॥४९॥

(पदच्छेदः)

न कारकाणाम् व्यापारात् कर्ता स्यात् नित्यः ईश्वरः ।
न अपि प्रमाणव्यापारात् ज्ञाता असौ स्वप्रकाशकः ॥४९॥

(सान्वयार्थः)

नित्यः =नित्य	कर्ता =कर्ता[1]
ईश्वर =ईश्वरः	न =नहीं
कारकाणाम् =कारकों के	स्यात् =होता ।
व्यापारात् =व्यापार से	

असौ	=(और) यह	ज्ञाता	=जानने[२] वाला
स्वप्रकाशकः	=स्वयं प्रकाश करने वाला	अपि	=भी
प्रमाणव्यापारात्	=ज्ञान के साधनों के द्वारा	न	=नहीं (होता)।

व्याख्या

१. साधन रूपी औजारों से उपादान कारण के द्वारा क्रिया करने वाला कर्ता कहा जाता है। कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिष्ठान का विनियोग क्रिया के साथ करने वाला कर्ता कहा जाता है। इस प्रकार का कर्ता परमेश्वर नहीं है।

साधन और उपादान उससे भिन्न नहीं हैं। यदि केवल निमित्त कारणवादी .सत्य होता तो परमेश्वर कर्तृत्वधर्म वाला होकर विकारी और विनाशी भी हो जाता।

२. जैसे साधन निरपेक्ष होने से कर्ता नहीं उसी प्रकार इन्द्रियमन आदि के बिना स्वसत्तामात्र से प्रकाशक है अतः ज्ञाता भी नहीं। और ज्ञाता इन साधनों से परमात्मा के प्रकाश से प्रतिबिम्ब पाकर ज्ञाता बनते हैं। अतः वे ज्ञानस्वरूप हैं। परमेश्वर ज्ञानस्वरूप है, ज्ञाता नहीं।

—५०—

ज्ञातृत्वमपि कर्तृत्वं स्वातन्त्र्यात्तस्य केवलम्।
या चेच्छाशक्तिवैचित्री साऽस्य स्वच्छन्दकारिता ॥ ५० ॥

(पदच्छेदः)

ज्ञातृत्वम् अपि कर्तृत्वम् स्वातन्त्र्यात् तस्य केवलम्।
या च इच्छाशक्तिवैचित्री सा अस्य स्वच्छन्दकारिता ॥ ५० ॥

(सान्वयार्थः)

तस्य	=उस (परमेश्वर) का	च	=और
ज्ञातृत्वम्	= जानने वाला भाव	या	=जो
अपि	= और	अस्य	=उसकी
कर्तृत्वम्	=करने वाला भाव	इच्छाशक्तिवैचित्री	= विचित्र इच्छा शक्ति है
केवलम्	= केवल[1]	सा	=वह
स्वातन्त्र्यम्	स्वतन्त्र भाव[2] (है)	स्वच्छन्दकारिता	=सर्वथा अपरतन्त्र है।

व्याख्या

१. स्वगतविकारानपेक्षत्वं केवलत्वम्। ज्ञान, क्रिया, और इच्छाशक्ति परमेश्वर में कोई आन्तरविकार भी नहीं लाती। वे उसके स्वरूप से सर्वथा अद्वैतभाव से रहती हैं।

२. उसके सभी भाव परानपेक्ष अर्थात् सभी साधनादि कारण सापेक्ष नहीं है। हमारी स्वतन्त्रता साधनादि सापेक्ष है।

—५१—

स्वच्छन्दवाद को स्पष्ट करते हैं :—

यया कर्तुन्न वाऽकर्तुमन्यथा कर्तुमर्हति।
स्वतंत्रामीश्वरेच्छां के परिच्छेत्तमिहेशते ॥ ५१ ॥

(पदिच्छेदः)

यया कर्तुम् न वा कर्तुम् अन्यथा कर्तुम् अर्हति।
स्वतन्त्राम् ईश्वरेच्छाम् के परिच्छेत्तुम् इह ईशते ॥ ५१ ॥

(सान्वयार्थः)

यया	=जिस (स्वच्छन्दकारिता) से	वा	=या
कर्तुम्	=(प्रवृत्ति) करने में[1],	अन्यथा	=(समग्र नियमों का उल्लङ्घन रूपी) परिवर्तन[3]
न	=न[2]		
कर्तुम्	=करने में,		

कर्तुम् =करने में
अर्हति =(परमेश्वर) समर्थ है
ताम् =उस
स्वतन्त्राम् =सर्वथा स्वाधीन
ईश्वरेच्छाम् =ईश्वर की इच्छा में
इह =यहाँ (दार्शनिकों या देवताओं में)
के =कौन[४]
परिच्छेत्तुम् =रुकावट डालने में
ईशते =समर्थ है।

व्याख्या

१. परमेश्वर कर्मफलदातारूप से या सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि की गति के नियामक रूप से नियमपूर्वक प्रवृत्ति करता है। यहाँ भी परानपेक्ष रूप से वह स्वातंत्र्यशक्ति का ही प्रयोग करता है।

२. जैसे वह प्रवृत्ति में स्वतंत्र है वैसे ही निवृत्ति में भी स्वतंत्र है। यह निवृत्ति चाहे प्रवृत्त्यभावरूप हो या संकल्पात्मक हो। सर्वथा निवृत्ति होने पर तो प्रलय होता है।

३. यद्यपि परमेश्वर नियामक होने से नियमों के अनुकूल ही कार्य करता है पर उसके नियम् स्वतः नियमाधीन नहीं है। अन्यथा-कर्तुंशक्ति से ही नीरूप आकाश से रूपवान् जगत की सृष्टि, उष्ण तेज से शीत जल की उत्पत्ति, द्रव जल से घन पृथ्वी का जन्म आदि असंभव कार्य संभव होते हैं।

४. परमेश्वर सर्वथा ही पराधीन नहीं है अतः न तो दार्शनिक उसे बांध सकते हैं और न दूसरे देव, मानव, असुर ही उसे सीमित करने में समर्थ हैं। अतः दार्शनिकों का इस दिशा में प्रयास व्यर्थ है। इन्द्रियों का अविषय होने से परमेश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं। अनुमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, और उपमान प्रत्यक्षमूलक होने से परमेश्वर में गति नहीं रख सकते। वेदरूपी नित्य शब्द ही एकमात्र प्रमाण बचता है और वह परमेश्वर को सर्वथा स्वतंत्र बताता है अतः उसकी स्वतंत्रता को परिच्छिन्न करने का दार्शनिकों का प्रयास व्यर्थ है। देव, दानव, मानव आदि उसी अन्तर्यामी के नियमन में चलते हुये उसकी स्वतंत्रता को

बाध करने में सर्वथा असमर्थ हैं ही। अतः उसकी किसी भी प्रकार से पराधीनता नहीं मानी जा सकती।

—५२—

इच्छापूर्वक ही परमेश्वर सृष्ट्यादि करता है इसमें श्रौत प्रमाण देते हैं :—

श्रुतिश्च सोऽकामयतेतीच्छया सृष्टिमीशितुः।
तस्मादात्मन आकाशस्सम्भूत इति चाब्रवीत् ॥५२॥

(पदच्छेदः)

श्रुतिः च सः अकामयत इति इच्छया सृष्टिम् ईशितुः।
तस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः इति च अब्रवीत् ॥५२॥

(सान्वयार्थः)

च	=और[1]	सम्भूतः	=उत्पन्न हुआ
सः	=उसने	इति	=इस प्रकार
अकामयत	=इच्छा की[2]	श्रुतिः	=वेद
इति	=इस प्रकार;	ईशितुः	=परमेश्वर की
च	=और	इच्छया	=इच्छा से
तस्मात्	=उस	सृष्टिम्	=सृष्टि
आत्मनः	=आत्मा से	अब्रवीत्	=बतलाता है।
आकाशः	=आकाश		

व्याख्या

१. परमेश्वर को विषय करने वाला एकमात्र प्रमाण वेद स्पष्ट ही सृष्टि को उसकी इच्छामात्र से उत्पन्न बताता है, इसको 'च' से कहा गया।

२. कृष्णयजुर्वेद में तैत्तिरीयोपनिषद् (२-६) बतलाता है कि परमात्मा ने बहुत बनने की इच्छा की और सृष्टि बन गई। यहाँ इच्छामात्र से सृष्टि भी श्रुति ने प्रतिपादित की और बहुभवन के द्वारा

अन्य उपादान कारण का भी प्रतिषेध किया। अग्रिम श्रुति प्रमाण (तत्रैव २-१) इसी अभिन्ननिमित्तोपादान कारणवाद का स्पष्टीकरण है।

—५३—

निमित्तञ्चेद्भवेदस्य जगतः परमेश्वरः ।
विकारित्वं विनाशित्वं भवेदस्य कुलालवत् ॥५३॥

(पदच्छेदः)

निमित्तम्* चेत् भवेत् अस्य जगतः परमेश्वरः ।
विकारित्वम् विनाशित्वम् भवेत् अस्य कुलालवत् ॥५३॥

(सान्वयार्थः)

परमेश्वरः=परमेश्वर
अस्य =इस
जगतः =संसार का
निमित्तम् =निमित्त कारण[1]
चेत् =यदि[2]
भवेत् =(स्वीकृत) होगा (तो)
अस्य =इसका
कुलालवत् =कुम्हार[3] की तरह
विकारित्वम्=विकृत होना (और)
विनाशित्वम्=नष्ट होना (भी)
भवेत् =(स्वीकृत) हो जायगा।

व्याख्या

१. यहाँ निमित्तकारण मात्र समझना चाहिये।

२. विपक्ष स्वीकृति में दोष दिखाने वाला यह यदि शब्द है।

३. केवल निमित्त कारणवादी अनुमानसिद्ध ईश्वर को मानता है। अनुमान में व्याप्ति ज्ञान जहाँ होता है वे सभी स्थल विकारी और विनाशी हैं। परमाणु आदि में क्रिया कराने वाला स्वयं क्रियावान् अवश्य ही होगा। क्रियावान् और विकारी तो पर्याय ही हैं। स्वयं निष्क्रिय कहीं भी क्रिया करवाता नहीं देखा गया। अतः उसी व्याप्ति से सिद्ध होने वाला ईश्वर भी वैसा ही होगा। व्याप्ति का एक देश दृष्टान्त है। कुम्हार घड़े का निमित्त कारण होने से यहाँ दृष्टान्त मानकर उसे कहा गया है।

वस्तुतस्तु ईश्वर को कोई भी इस प्रकार का नहीं मानता। अतः अनुमानसिद्ध ईश्वर को छोड़कर श्रौत ईश्वर को ही स्वीकार करना चाहिये।

*निमित्तमात्रञ्चेदस्य इति पाठभेदः।

—५४—

नित्य गुणों के आश्रय रूप से ईश्वर सिद्ध है, अतः विकारित्व शरीरत्वादि दोष नहीं आते ऐसा नैयायिक मानता है। अतः उसका निराकरण करते हैं :—

बुद्ध्यादयो नव गुणा नित्या एवेश्वरस्यचेत्।
नित्येच्छावान् जगत्सृष्टौ प्रवर्तेतैव सर्वदा ।।५४।।

(पदच्छेदः)

बुद्ध्यादयः नव गुणाः नित्याः एव ईश्वरस्य चेत्।
नित्येच्छावान् जगत्सृष्टौ प्रवर्तेत एव सर्वदा* ।।५४।।

(सान्वयार्थः)

ईश्वरस्य =ईश्वर के
बुद्ध्यादयः=बुद्धि आदि[1]
नव =नौ
गुणाः =गुण
नित्याः =नित्य
एव =ही (हैं)
चेत् =यदि (ऐसा मानोगे तो)
नित्येच्छावान् =नित्य इच्छा वाला[2]
सर्वदा =सब काल में
एव =ही
जगत्सृष्टौ =संसार के निर्माण में
प्रवर्तेत =प्रवृत्त होगा।

व्याख्या

१. बुद्धि, संस्कार, द्वेष, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म और प्रयत्न ये नव गुण आत्मा के न्यायशास्त्र में माने गये हैं। ये जैसे जीवात्मा में रहते हैं वैसे ही परमात्मा में भी हैं।

इन गुणों को जीवात्मा में स्वीकार करते हुये सृष्टि समय में परमेश्वर इनका भी उपादान करता है अतः उनका ईश्वर से सम्बन्ध न्याय के एक देशी स्वीकार करते हैं ।

२. इस प्रकार ईश्वर सिद्ध करेंगे तो इच्छा की नित्यता से सृष्टि की नित्यता भी माननी पड़ेगी। इस प्रकार एक गड्ढे से बचने के प्रयत्न में दूसरे गड्ढे में गिरेंगे। अतः अनुमान से ईश्वर सिद्धि असम्भव है ।

*सर्वथा इति पाठभेदः ।

— ५५ —

मीमांसक मत की तरह नित्य सृष्टि ही स्वीकार करने में दोष दिखाते हैं :—

प्रवृत्त्युपरमाभावात्संसारो नैव नश्यति ।
मोक्षोपदेशो व्यर्थस्स्यादागमोऽपिनिरर्थकः ॥५५॥

(पदच्छेदः)

प्रवृत्त्युपरमाभावात् संसारः न एव नश्यति ।
मोक्षोपदेशः व्यर्थः स्यात् आगमः अपि निरर्थकः ॥५५॥

(सान्वयार्थः)

प्रवृत्त्युपरमाभावात् = प्रवृत्ति के न रुकने से
संसारः = विश्व
न = नहीं
एव = ही
नश्यति = नष्ट होगा,[1]
मोक्षोपदेशः = मोक्ष की शिक्षा
व्यर्थः = व्यर्थ
स्यात् = होगी,
आगमः = वेदशास्त्र
अपि = भी
निरर्थकः = निष्प्रयोजन (हो जायेंगे) ।

व्याख्या

१. जब परमेश्वर नित्य इच्छा प्रयत्न आदि वाला होगा तो संसार कभी भी रुकेगा नहीं । संसार का उपराम ही मोक्ष है, अतः वह भी न

बनेगा। और मोक्ष को बताने वाला शास्त्र स्वतः ही प्रयोजनरहित हो जायगा। अतः इन सभी अनर्थों से बचने के लिये न्याय मत का परित्याग ही इष्ट है।

—५६—

तस्मान्मायाविलासोऽयं जगत्कर्तृत्वमीशितुः।
बन्धमोक्षोपदेशादिव्यवहारोऽपि मायया ॥५६॥

(पदच्छेदः)

तस्मात् मायाविलासः अयम् जगत्कर्तृत्वम् ईशितुः।
बन्धमोक्षोपदेशादिव्यवहारः अपि मायया ॥५६॥

(सान्वयार्थः)

तस्मात्	= इसलिये
अयम्	= यह
मायाविलासः	= माया का खेल[1] ही है
(यत्)	= (जो)
ईशितुः	= ईश्वर का
जगत्कर्तृत्वम्	= सृष्टि निर्माता पन है;
बन्ध-मोक्षो-पदेशादि-व्यवहारः	= बन्ध, मोक्ष, उपदेशादि व्यवहार[2]
अपि	= भी
मायया	= माया के द्वारा (ही हैं)।

व्याख्या

१. महायोगी या महाइन्द्रजालवाले की तरह ही परमेश्वर में सारा व्यवहार है। यह सभी वेदों की उपनिषदों में तात्पर्य से प्रतिपादित होने के कारण सिद्ध है। यही वेद सिद्धान्त है। परमेश्वर अविकृत भाव से सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय नामरूप का अपनी ही माया-शक्ति के द्वारा अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। जैसे सूर्य अपनी शक्ति से प्रकाशक है, पर स्वयं प्रकाशरूप है, विकारी नहीं, उसी प्रकार परमेश्वर भी अविकारी कारण है।

२. जैसे परमेश्वर में और पदार्थ आरोपित हैं उसी प्रकार बन्धन भी, वास्तविक नहीं, आरोपित है। तन्निवृत्तिरूप मोक्ष एवं मोक्षमार्ग का उपदेश भी वास्तविक नहीं। परन्तु उपदेश का विषय वास्तविक है। अतः विषय दृष्टि से मोक्षशास्त्र में पारमार्थिकता भी स्वीकृत है। जैसे वर्णों में दीर्घता, प्लुतता, उदात्तता आदि कल्पित हैं पर वर्ण वास्तविक हैं, ठीक उसी प्रकार यहाँ भी स्वीकृत है। भगवान् गौडपादाचार्य 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥' (माण्डूक्यकारिका २·३२) के द्वारा इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हैं। यही आर्ष सिद्धान्त है। सभी दर्शन अपने वाद की सत्यता सिद्ध करने में शक्ति खर्च करते हैं। वेदान्त ब्रह्म की सत्ता सिद्ध करने में स्वयं अपने वाद को ही समाप्त करने में गौरव अनुभव करता है। इसीलिये इसको अविवाद सिद्धान्त माना गया है। अर्वाचीन काल में वेदान्तियों में जो प्रक्रियाओं का आग्रह देख पड़ता है और जो इनको रटने में ही ज्ञान साधना की इतिश्री मान ली जाती है, वह अनुभव प्रधान प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है। इस बात को दशमोल्लास में भी वार्तिककार बताएँगे।

—५७—

इतिश्रीदक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।
प्रबन्धे मानसोल्लासे द्वितीयोल्लाससँग्रहः ॥५७॥

इस प्रकार श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लास नामक प्रबन्ध का द्वितीयोल्लास संक्षेप से समाप्त हुआ।

॥ अथ तृतीयोल्लास संग्रहः ॥

सब पदार्थों के द्रष्टा रूप से जीवात्मा बने हुये चिद्धातु का निरूपण प्रथम उल्लास का तात्पर्य है। सब का अपनी माया से अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बन कर प्रलयावस्था में सब संसार को अपने में लीन करने वाले, सब का अन्तर्यामीरूप से शासन करने वाले परमात्मा रूपी चिद्धातु को दूसरे उल्लास से बताया गया। अब दोनों चिद्धातुओं की एकरूपता प्रतिपादनार्थ तृतीयोल्लास का प्रारम्भ करते हैं।

—१—

सत्तास्फुरत्ते भावेषु कुत आगत्य सङ्गते।
बिम्बादिदर्पणन्यायादित्थं पृच्छन् प्रबोध्यते ॥१॥

(पदच्छेदः)

सत्ता-स्फुरत्ते भावेषु कुतः आगत्य सङ्गते।
बिम्बादिदर्पणन्यायात् इत्थम् पृच्छन् प्रबोध्यते ॥१॥

(सान्वयार्थः)

बिम्बादि-दर्पण-न्यायात = दर्पण में बिम्ब की तरह से
भावेषु = पदार्थों में
सत्ता-स्फुरत्ते = सत्ता और प्रतीति
कुतः = कहाँ से[1] (किस प्रकार या किस कारण से)
आगत्य = आकर
सङ्गते = मिल गये,
इत्थम् = इस प्रकार
पृच्छन् = पूछने वाले (शिष्य को)
प्रबोध्यते = उत्तर[2] दिया जाता है।

व्याख्या

१. सत्ता और प्रतीति द्रष्टा के गुण हैं, दृश्य के धर्म नहीं, इस को प्रथमोल्लास मे बताया। प्रश्न होता है कि दृश्य में फिर वे क्यों अनुभव किये जाते हैं। लोहे के गोले में अग्नि प्रवेश की तरह स्वीकार किया जाय या दर्पण में प्रतिबिम्ब भाव से बिम्ब प्रवेश माना जाय। प्रथम पक्ष में सर्वव्यापकता और निरवयवता से विरोध होता है और द्वितीय पक्ष में अमूर्तता का भी विरोध है। अतः अन्यथोपपत्ति न होने से इन्हें दृश्य धर्म ही मान लेना चाहिये। यही शिष्य की शंका का हृदय है।

२. तृतीयोल्लास के द्वारा शिष्य को ज्ञान कराया जाता है। 'प्रबोध' शब्द का प्रयोग भगवान भाष्यकार प्रायः आत्मसाक्षात्कार के लिये करते हैं। इस श्लोक में उसी शब्द के प्रयोग से भगवान सुरेश्वराचार्य इस उल्लास के विषय को ध्वनित करते हैं।

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते
साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान्।
यत्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

(पदच्छेदः)

यस्य एव स्फुरणं सदात्मकं असत्कल्पार्थकं भासते
साक्षात् तत्त्वमसि इति वेदवचसा यः बोधयति आश्रितान्
यत्साक्षात्करणात् भवेत् न पुनः आवृत्तिः भवाम्भोनिधौ तस्मै०

(सान्वयार्थः)

यस्य	= जिसका	भासते	= प्रकाशित करता है,
सदात्मकम्	= सत् रूप	यः	= जो
स्फुरणं एव	= भान ही	आश्रितान्	= (अपनी) अनन्य शरण में आये हुओं को
असत्-कल्पार्थकं	= मिथ्या पदार्थों को		

तत्त्वमसि	= "तू ही वह है"	यत्साक्षात्करणात्	= जिसके साक्षात्कार से
इति वेदवचसा	= इस प्रकार के (जीव ब्रह्म की एकता के प्रतिपादक) वैदिक महावाक्यों से	भवाम्भोनिधौ	= संसार समुद्र में
		पुनः	= फिर
		आवृत्तिः	= लौटना
साक्षात्	= अपरोक्ष	न	= नहीं
बोधयति	= ज्ञान प्रदान करते हैं,	भवेत्	= होता
		तस्मै०	= उस···भगवान को नमस्कार है

व्याख्या

पदार्थ वस्तुतः आलोक से निराच्छादित अनुभूत नहीं है।

हम तो सदा आँखों से पदार्थाकार प्रकाश को ही देखते हैं। प्रकाश के भान से ही पदार्थों का भान है। इसी प्रकार सत्ता के भान के बिना प्रकाशादि का भान भी असंभव है। अतः सत्ता युक्त ही पदार्थों का भान होने के कारण सद्रूप भान ही पदार्थों का ज्ञापक है।

महेश्वर की अनन्यशरणता ही शास्त्रों में ज्ञान का उत्कृष्ट साधन मानी गई है। महेश्वर ही गुरुरूप से प्रकट हो शिष्य को ज्ञान कराते हैं। गुरु में महेश्वर का प्रादुर्भाव या महेश्वर का गुरुरूपधारण दोनों ही प्रकार से एकमात्र परमेश्वर ही ज्ञानदाता सिद्ध होता है। शरण में अनन्यता समस्त साधनों के अन्तस्त्याग एवं यथोचित बाह्यत्याग से ही संभव है। श्रीदक्षिणामूर्ति ही भगवान का वह स्वरूप है जो ब्रह्मज्ञानोपदेश से जीव को कृतार्थ करता है और वह ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र साधन है।

इदमत्राकूतम्— यहाँ यह अभिप्रेत है—

—२—

बिम्ब या अग्नि से पृथक् विद्यमान लोहे या दर्पणादि की तरह आत्मा से पृथक् रहने वाले पदार्थों में आत्मा का प्रवेश किस प्रकार होगा ऐसा शिष्य के प्रश्न का तात्पर्य मानकर उत्तर देते हैं :—

असत्कल्पेषु भावेषु जडेषु क्षणनाशिषु ।
अस्तित्वञ्च प्रकाशत्वन्नित्यात्संक्रामतीश्वरात् ।।२।।

(पदच्छेदः)

असत्कल्पेषु भावेषु जडेषु क्षणनाशिषु ।
अस्तित्वम् च प्रकाशत्वम् नित्यात् संक्रामति ईश्वरात् ।।२।।

(सान्वयार्थः)

क्षणनाशिषु = प्रतिक्षण नष्ट होने वाले[1],
जडेषु = अचेतन[2],
असत्कल्पेषु = मिथ्या[3]
भावेषु = पदार्थों में
नित्यात् = नित्य
ईश्वरात् = परमेश्वर[4] से
अस्तित्वम् = सत्ता
च = और
प्रकाशत्वम् = प्रकाशरूपता
संक्रामति = आती[5] है ।

व्याख्या

१. संसार के सारे पदार्थ क्षणपरिणामी हैं, यह आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है। निरन्तर ऋणाणु गतिमान् हैं। प्रत्यक्ष अनुभव भी यही है। यद्यपि पदार्थ का सर्वथा नाश अन्तिम परिणाम है पर यह विकाररूपी अल्पनाशों का योग ही है। अंश के नाश से दार्शनिक दृष्ट्या अंशी का नाश स्वीकार करना ही पड़ता है। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और वेद तीनों प्रमाणों से 'सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनः' स्वीकार करना ही पड़ता है। क्षणपरिणामी पदार्थ में सत्ता स्वीकार की जाय तो रस्सी में मन्दान्धकार में दृष्ट सर्प या स्वाप्न पदार्थों की सत्ता भी माननी पड़ेगी। अतः जैसे दृष्टनष्टस्वभाव वाले सर्प में रज्जु रूप अधिष्ठान की ही सत्ता का संक्रमण है, वैसे ही जगत के पदार्थों में ईश्वर सत्ता ही संक्रान्त है क्योंकि वही नित्य है।

२. क्षणनाशित्व ही जडत्व में हेतु है। विप्रतिपन्नं जडं, दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्, शुक्तिरजतवत्। पदार्थों का प्रकाश सर्वथा आत्मप्रकाश के

ही अधीन है। जड़ अर्थात् परतः प्रकाश वाला पदार्थ। द्रष्टा से भिन्न समस्त दृश्य द्रष्टा के प्रकाशाधीन हैं यह स्पष्ट है।

३. विमतमनिर्वचनीयं, जडत्वाच्छुक्तिरजतवत्। इस अनुमान से विश्व की अनिर्वचनीयता सिद्ध है। वेदान्त जगत् को असत् के समान स्वीकार करता है, बौद्ध उसे असत् ही स्वीकार करते हैं। यह भेद सर्वदा स्मर्तव्य है, अन्यथा अनेक वादी और वेदान्ती भी इस विषय में भ्रान्ति कर देते हैं। असत्पदार्थ का तो माया से भी प्रतीत होना असंभव है। शशशृंगादि असत्पदार्थ हैं। जगत् की ब्रह्म से भिन्न सत्ता न होने से वह सत् नहीं कहा जा सकता। यह स्थिति ही वेदान्तों में मिथ्या, अनिर्वचनीय आदि पदों में वर्णित है। मूर्ति अनिर्वचनीय है क्योंकि शिला से भिन्न उसकी सत्ता नहीं। वेदराद्धान्त में तो रस्सी में दिखने वाला साँप भी असत् नहीं असत्कल्प है। जडपदार्थ आत्मा से पृथक् कभी भी नहीं मिलता अतः उसे मिथ्या मानना ही पड़ता है।

४. आत्मा ही नित्य और स्वयं प्रकाश होने से अनात्मपदार्थों को सत्ता और प्रकाश वाला बनाता है।

५. संक्रमण का अर्थ यहाँ प्रवेश नहीं समझना चाहिये क्योंकि परमेश्वर से पृथक पदार्थ हो तो प्रवेश हो। ईश्वर में रहने वाले सत्ता और प्रतीति का विषयाकार रूप से अनुभव ही संक्रमण है। जैसे सीप की सत्ता और प्रतीति का रजतरूप से अनुभव ही सींप की सत्ता का रजत में संक्रमण है। आरोपित पदार्थ की अधिष्ठान से भिन्न सत्ता हो तो प्रवेश रूप संक्रमण सम्भव हो। अतः शिष्य के प्रश्न का उत्तर हो गया। पदार्थों की आत्मा से पृथक्सत्ता और प्रतीति से रहित होना ही आत्मा की सत्ता और प्रतीति का जगत् में प्रवेश होना है।

—३—

मिथ्यात्व और संक्रमण का स्पष्ट निर्देश करते हैं :—

आत्मसत्तैव सत्तैषाम्भावानान्न ततोऽधिका।
तथैवस्फुरणञ्चैषान्नात्मस्फुरणतोऽधिकम् ॥३॥

(पदच्छेदः)

आत्मसत्ता एव सत्ता एषाम् भावानाम् न ततः अधिका ।
तथा एव स्फुरणम् च एषाम् न आत्मस्फुरणतः अधिकम् ॥३॥

(सान्वयार्थः)

एषाम्	=इन (अनुभूयमान)	च	=और
भावानाम्	=पदार्थों का	तथा	=वैसे
सत्ता	=अस्तित्व	एव	=ही
आत्मसत्ता	=आत्मा का अस्तित्व	एषाम्	=इनकी (पदार्थों की)
एव	=ही (है) ।	स्फुरणम्	=प्रतीति
ततः	=उससे (आत्मसत्ता से)	आत्मस्फुरणतः	=आत्मप्रतीति से
अधिका	=ज्यादा[1] (भिन्न या विशेष)	अधिकम्	=ज्यादा (भिन्न या विशेष)
न	=नहीं;	न	=नहीं है ।

व्याख्या

१. आत्मसत्ता से भिन्न यदि पदार्थ उपलब्ध होते तो उनकी पृथक् सत्ता मानी जाती । दर्पण तो प्रतिबिम्ब के बिना और लोहे का गोला अग्नि के बिना भी पाया जाता है । अतः संक्रमण या प्रतिबिम्बरूपता की कल्पना लाक्षणिक ही है, पारमार्थिक नहीं । जो सत्ता के विषय में है वही बात प्रतीति के विषय में भी है । अतः आत्मसत्ता और स्फुरत्ता ही पदार्थाकार प्रतीत होती है यही मानना पड़ता है । उसका इस प्रकार प्रतीत होना ही उसका संक्रमण है और इसीलिये पृथक्सत्ताहीन होने के कारण पदार्थ मिथ्या हैं ।

—४—

पदार्थ स्वतः सत्ता और प्रतीति वाले हैं अतः उनमें आत्मा की सत्ता और प्रतीति का संक्रमण स्वीकार करने में क्या कारण

हैं, यदि शिष्य के प्रश्न का तात्पर्य हो तो उसका भी निराकरण किया जाता है—

ज्ञानानि बहुरूपाणि तेषाञ्च विषया अपि ।
अहङ्कारेऽनुषज्यन्ते सूत्रे मणिगणा इव ॥४॥

(पदच्छेद:)

ज्ञानानि बहुरूपाणि तेषाम् च विषया: अपि ।
अहङ्कारे अनुषज्यन्ते सूत्रे मणिगणा: इव ॥४॥

(सान्वयार्थ:)

सूत्रे	=धागे में	ज्ञानानि	=ज्ञान
मणिगणा:	=मणियों के समूह की	च	=और
इव	=तरह	तेषाम्	=उनके (ज्ञान के)
अहङ्कारे	=चिदाभास युक्त अन्त-करण[1] में	विषया:	=विषय[2]
		अपि	=भी
बहुरूपाणि	=नाना प्रकार के	अनुषज्यन्ते	=पिरोये[3] हुये रहते हैं।

व्याख्या

१. पदार्थों का ज्ञान तभी होता है जब अन्त:करण इन्द्रिय द्वारा पदार्थ के समीप जाकर पदार्थाकार में परिणत होता है एवं उसमें चिद्धातु का प्रतिबिम्ब पड़ता है। अत: पदार्थों का प्रकाश स्वत: नहीं माना जा सकता स्वत: प्रकाश होने पर साभास अन्त:करण की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे सूर्य स्वत: प्रकाश है तो दीपक की अपेक्षा नहीं रखता। अत: सभी ज्ञान उसी में ग्रथित हैं यह स्वीकार करना ही पडता है। सच्चिदात्मा में तादात्म्याध्यासपरिनिष्पन्नान्त:करणव्याप्ति से ही विषयस्फुरण होता है, स्वत: नहीं।

२. ज्ञानाधीन ही पदार्थसिद्धि है, अत: जब पदार्थ ज्ञान ही आत्माधीन है तो पदार्थ तो कैमुतिकन्याय से आत्माधीन सिद्ध ही है।

३. प्रथम पक्ष में परमार्थदृष्टि को लेकर आत्मसत्ता और स्फुरण का जहाँ संक्रमण हो उन विषयों के अस्तित्व का ही निराकरण है। दूसरे पक्ष में व्यवहारदृष्टि से अहंकार द्वारा आत्मा की सत्ता और स्फुरण के अनुगमन के विना बाह्यविषयों में सत्ता और स्फुरण स्वतः नहीं है, इसका प्रतिपादन है। दूसरा पक्ष पदार्थों की सत्ता का अभ्युपगम करता है। यह भेद स्मरणीय है।

—५—

व्यवहारदृष्टि से भी अन्त में अद्वैत ही सिद्ध होता है—

प्रकाशाभिन्नमेवैतद्विश्वं सर्वस्य भासते ।
लहरीबुद्बुदादीनां सलिलान्न पृथक् स्थितिः ।।५।।

(पदच्छेदः)

प्रकाशाभिन्नम् एव एतत् विश्वम् सर्वस्य भासते ।
लहरी-बुद्बुदादीनाम् सलिलात् न पृथक् स्थितिः ।।५।।

(सान्वयार्थः)

सर्वस्य	= सभी प्राणिमात्र को	लहरी-बुद्बुदादीनाम्	= लहर, बुलबुले आदियों को
एतत्	= यह (अनुभूयमान)	सलिलात्	= जल से
विश्वम्	= संसार	पृथक्	= अलग[2]
प्रकाशाभिन्नम्	= ज्ञान से अभिन्न[1]	स्थितिः	= सत्ता
एव	= ही	न	= नहीं है।
भासते	= प्रतीत होता है।		

व्याख्या

१. बिना ज्ञान के किसी पदार्थ की प्रतीति सर्वथा असंभव है क्योंकि ज्ञान और प्रतीति समानार्थक हैं। अतः घट प्रतीति या घट ज्ञान एक ही बात है।

२. जो पदार्थ जिस पदार्थान्तर के अधीन सत्ता और प्रतीति वाला होता है वह पदार्थ उस पदार्थान्तर का ही कल्पित नामरूप होता है। उस पदार्थ की पदार्थान्तर से अलग सत्ता नहीं होती। जैसे लहर आदि जल के अधीन सत्तास्फूर्तिमान हैं तो जल से भिन्न सत्ता वाले न होकर जल के ही कल्पित नामरूप हैं। इस दृष्टान्त से दार्ष्टान्त को समझना चाहिये। संसार के सारे पदार्थ सच्चिदात्मा के ही कल्पित नामरूप हैं। अतः अद्वितीय सच्चिदात्मा ही एकमात्र जीवेश्वरविभागरहित सिद्ध होता है।

—६—

विषय का स्फुरण आत्मा का ही धर्म है, विषय का धर्म नहीं है इसको युक्ति से सिद्ध करते हैं :—

जानामीत्येव यज्ज्ञानं भावानाविश्यवर्तते।
ज्ञातं मयेति तत्पश्चाद्विश्राम्यत्यन्तरात्मनि ॥६॥

(पदच्छेदः)

जानामि इति एव यत् ज्ञानम् भावान् आविश्य वर्तते।
ज्ञातम् मया इति तत् पश्चात् विश्राम्यति अन्तरात्मनि ॥६॥

(सान्वयार्थः)

यत्	= जो	तत्	= वह (ज्ञान)
ज्ञानम्	= ज्ञान (चैतन्य)	एव	= ही[१]
जानामि	= 'मैं जानता हूँ'	पश्चात्	= बाद में
इति	= इस प्रकार से	अन्तरात्मनि	= अन्तरात्मा में,
भावान्	= पदार्थों को	मया	= 'मेरे द्वारा
आविश्य	= व्याप्त करके (सम्बन्धित होकर)	ज्ञातम्	= जान लिया गया'
		इति	= इस प्रकार से
वर्तते	= रहता है,	विश्राम्यति	= पर्यवसान करता है।

व्याख्या

१. यद्यपि ये दोनों ज्ञान सविषय ही होने के कारण समान मालूम पड़ते हैं तथापि प्रथमानुभव में कर्ता की क्रिया के द्वारा कर्म व्याप्ति मात्र कही गई है, और द्वितीयानुभूति में कर्म सहित क्रिया का स्वसमवेत रूप से अनुसन्धान कहा गया है, अतः आत्मा में पर्यवसान कहा गया।

तात्पर्य यह है कि जो जिसका कार्य होता है वह दूसरे से रंजित रूप से प्रतीत होता हुआ भी अपने कारण में ही समाप्त होता है। कार्य और कारण परस्पर अत्यन्त भिन्न नहीं माने जा सकते। इसीलिये प्रथम ज्ञान में पदार्थ की भासमानता मात्र विवक्षित है पर दूसरे में ज्ञान की आत्माश्रयता इष्ट है। यह अनुभव ही पदार्थ के स्वतः स्फुरण का बाधक प्रत्यय है।

—७—

विषय में रहने वाले ज्ञान की आत्मरूपता मात्र सिद्ध करके ज्ञेय विषय भी नियमपूर्वक ज्ञान से अनुविद्ध ही मिलता है अतः ज्ञान से अभिन्न है, यह सिद्ध करते हुये षष्ठ श्लोक में ध्वनित 'कार्य जिसका है उसी में पर्यवसित होता है' इसका दृष्टान्त भी द्योतित करते हैं :—

घटादिकानि कार्याणि विश्राम्यन्ति मृदादिषु।
विश्वं प्रकाशाभिन्नत्वाद्विश्राम्येत्परमेश्वरे ॥७॥

(पदच्छेदः)

घटादिकानि कार्याणि विश्राम्यन्ति मृदादिषु।
विश्वम् प्रकाशाभिन्नत्वात् विश्राम्येत् परमेश्वरे ॥७॥

(सान्वयार्थः)

मृदादिषु = मिट्टी आदि कारणों में
घटादिकानि = घड़ा आदि
कार्याणि = कार्य
विश्राम्यन्ति = पर्यवसित[1] होते हैं,
परमेश्वरे = (उसी प्रकार) परमेश्वर में

प्रकाशाभिन्नत्वात्	= ज्ञान से अभिन्न होने के कारण[2]	विश्राम्येत् =	पर्यवसान को प्राप्त होता है।[3]
विश्वम्	= संसार		

व्याख्या

१. कार्य कारण से अलग होकर नहीं रहता यही उसका पर्यवसान है। ज्ञानाभिन्न परमेश्वर से जगत् अलग नहीं है, अतः परमेश्वर रूपी स्वकारण में ही उसका पर्यवसान मानना पड़ता है। घड़े आदि जैसे मिट्टी के ही नामरूप हैं, उसी प्रकार विश्व के समस्त पदार्थ आत्मा के ही नामरूप हैं।

२. संसार किसी को, कहीं भी, कभी भी ज्ञान से पृथक् नहीं उपलब्ध होता। अतः ज्ञानरूप आत्मा में उसकी अध्यासरूपता माननी पड़ती है। इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञान का भी अद्वैत ही है।

३. षष्ठ वार्तिक में आत्मा के प्रकाश से जगत् के प्रकाश का प्रतिपादन किया और सप्तम में आत्मा की सत्ता से जगत्सत्ता को सिद्ध किया। अतः आत्मसत्ता और स्फुरत्ता ही एकमात्र वस्तु सिद्ध हो गई।

—८—

यदि इस प्रकार एक अद्वितीय तत्त्व ही है तो सारे लोग उसे क्यों नहीं जानते इसका कारण बताते हैं :—

स्वगतेनैव कालिम्ना दर्पणं मलिनं यथा।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥८॥

(पदच्छेदः)

स्वगतेन एव कालिम्ना दर्पणम् मलिनम् यथा।
अज्ञानेन आवृतम् ज्ञानम् तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥८॥

(सान्वयार्थः)

यथा =जैसे
दर्पणम् =काँच
स्वगतेन =अपने में रहने वाले[1]
कालिम्ना =कालिख से
एव =ही
मलिनम् =मैला (होता है);
(तथा =वैसे ही)

ज्ञानम् = {(आत्मा का यथार्थ स्वरूप) ज्ञान
अज्ञानेन =अविद्या से
आवृतम् =आच्छादित है।
तेन = {इससे (अविद्या के ढकने से)
जन्तवः =प्राणी
मुह्यन्ति =भ्रान्त[2] हो जाते हैं।

व्याख्या

१. कालिमा दर्पण में रहते हुए ही दर्पण को आच्छादित करती है, या शैवाल जल के आश्रित होते हुये भी जल को ढक देता है; ठीक इसी प्रकार अविद्या आत्मा में रहते हुये, और अपनी सत्ता और अपने ज्ञान के लिये आत्मा के आश्रित होते हुये ही, आत्मा के यथार्थ स्वरूप को आवृत कर देती है। श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य सर्वज्ञात्ममहामुनि कहते हैं :—'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला। (सं० शा० १)। अतः अज्ञान आत्मा में कैसे रहेगा यह शङ्का व्यर्थ है।

२. मोह अर्थात् मिथ्या ज्ञान। द्रष्टा, दृश्य; कार्य, कारण; आदि भेदों में वास्तविकता का भ्रम ही मोह है। इसी मोह के कारण अद्वैत आत्म तत्त्व का ज्ञान नहीं हो पाता। इसी मोह के कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि सूक्ष्मदेहाभिमान और कृशत्व कृष्णत्वादि स्थूलदेहाभिमान की भी प्राप्ति होती है। विवेकविज्ञान का आच्छादन ही सर्वानर्थमूल है यह सभी शास्त्रों में प्रतिपादित है। वस्तुतः अद्वैत परमेश्वर में सारे भेद कल्पित हैं।

—९—

परमेश्वर अखण्ड रहते हुये भी खण्डित प्रतीत होता है इसमें दृष्टान्त देते हैं :—

घटाकाशो महाकाशो घटोपाधिकृतो यथा ।
देहोपाधिकृतोभेदो जीवात्मपरमात्मनोः ॥६॥

(पदच्छेदः)

घटाकाशः महाकाशः घटोपाधिकृतः यथा ।
देहोपाधिकृतःभेदः जीवात्मपरमात्मनोः ॥६॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	(तथा	=वैसे ही)
घटाकाशः	=घड़े से परिच्छन्न आकाश	जीवात्मपरमात्मनोः	=जीवात्मा और परमात्मा का
महाकाशः	=(और) घड़े से अपरिच्छिन्न आकाश	भेदः	=भेद
घटोपाधिकृतः	=घड़े की उपाधि[1] का किया हुआ है;	देहोपाधिकृतः	=शरीरत्रय[2] की उपाधि से किया हुआ है ।

व्याख्या

१. स्वभाव से आकाश अमूर्त होने के कारण सर्वथा अपरिच्छेद्य है । तथापि घट की उपाधि रूप निमित्त से घट के गोद वाले आकाश की अंश रूप से कल्पना और घट के बाहिर वाले आकाश में महाकाश-रूपता की कल्पना हो जाती है । वस्तुतस्तु आकाश निरंश, अपरिच्छिन्न और अखण्ड ही रहता है । ठीक इसी प्रकार परमार्थतः निरंश और अपरिच्छिन्न परमेश्वर में देह की उपाधि के द्वारा देहावच्छिन्न में जीव भाव और देहानवच्छिन्न में परमात्मभाव अध्यस्त हो जाता है ।

२. दह् धातु से निष्पन्न होने के कारण शरीर, मन और अज्ञान-रूपी स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह जीव को कष्ट रूपी अग्नि में तपाते रहते हैं । यहाँ तीनों देह ही उपाधि हैं । मृत्यु के समय स्थूल देह से वियोग होने पर भी अन्य दोनों के कारण जीवेश्वर भेद बना रहता है । प्रलय में सूक्ष्मदेह नष्ट होते पर भी कारण उपाधि रहती है । ज्ञान से कारणदेह नष्ट होने पर 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार यह भेद सर्वथा समाप्त हो जाता है । इसी को दार्शनिक लोग मोक्ष और धार्मिक लोग ईश्वर प्राप्ति कहते हैं ।

स्थूल देह की उपाधि से ही नीरूप, निराकार, चैतन्यात्मक, सदाशिव अपने आपको रूपवान् और आकारवान् समझकर गोरा, काला, दुबला मोटा, रोगी, स्वस्थ आदि मानता है। चैतन्यरूप होकर भी जड़ देह से एकता अनुभव करता है। सूक्ष्म देह के निमित्त से आनन्दस्वरूप होकर दुःखी, भूखा, प्यासा, अपमानित बन जाता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा ही कारण देह की वजह से अज्ञानीपने को पा लेता है। इन त्रिविध भावों से रहित होकर वही पुनः परमेश्वर भाव में स्थित हो जाता है। अतः जीवेश्वर भेद वास्तविक नहीं। इन उपाधियों का आत्मा से संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध असंभव होने से आध्यासिक सम्बन्ध ही स्वीकृत है। अतः आत्मा में वास्तविक परिच्छिन्न भाव, जीव भाव आदि बनते ही नहीं। अन्य पक्षों की संभावना का निराकरण स्वयं भगवान् भाष्यकार आगे करेंगे।

—१०—

युक्ति सिद्ध इस अभेद का ही भगवती श्रुति प्रतिपादन करती है—

तत्त्वमस्यादिवाक्यैस्तु तयोरैक्यं प्रदर्श्यते।
सोयं पुरुष इत्युक्ते पुमानेको हि दृश्यते ॥१०॥

(पदच्छेदः)

तत्त्वमस्यादिवाक्यैः तु तयोः ऐक्यम् प्रदर्श्यते।
सः अयम् पुरुषः इति उक्ते पुमान् एकः हि दृश्यते ॥१०॥

(सान्वयार्थः)

(यथा	=जैसे)	पुमान्	=आदमी
सः	=वही	दृश्यते	=जाना जाता है
अयम्	=यह	(तथा	=वैसे ही)
पुरुषः	=आदमी है	तत्त्वमस्यादि-वाक्यैः	=तू वह है इत्यादि वेदवाणी
इति	=ऐसा	तु	=तो
उक्ते	=कहने पर	तयोः	=उनकी
हि	=निश्चित रूप से	ऐक्यम्	=एकता को
एकः	=एक (ही)	प्रदर्श्यते	=बताती है।

व्याख्या

१. देहली में २१ साल पहले देखे हुये आदमी को लण्डन में देखने पर कहा जाता है कि वही यह आदमी है। वही अर्थात् पूर्वानुभूत या स्मृत और यह अनुभव किया जाने वाला यद्यपि कद, बालों के रंग, चर्मतनाव, वस्त्र विन्यास आदि में सर्वथा भिन्न है तथापि पुरुष-दृष्ट्या अभिन्न है । दोनों की एकता विरुद्धांश हटाकर अविरुद्धांश में समझ ली जाती है । यहाँ पुरुष में वास्तविक भेद नहीं है; केवल देश, काल, वस्त्रादि उपाधि का निमित्त ही भेद प्रतीति करा रहा है । अतः आप्त वाक्य से एकता का प्रतिपादन होने पर औपाधिक भेद निवृत्त हो स्वरूप ज्ञान हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जीवेश्वर की एकता का ज्ञान संभव है।

२. जीव के परमेश्वर रूपता के प्रतिपादक वाक्य महावाक्य कहे जाते हैं । ये वाक्य ही यहाँ इष्ट हैं। ईश्वर प्रत्यक्षानुमानादि का अविषय है अतः उसके स्वरूप के विषय में केवल वेद ही आप्त हो सकता है । अतः वैदिक महावाक्य द्वारा प्रतिपादित एकता ही प्रमाण है।

३. महावाक्यों से एकता का विधान नहीं, केवल ज्ञापन किया गया है। एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ रूपता का विधान असंभव है। युक्ति से संभावित और सर्वदा सिद्ध एकता का विरुद्धांश निवृत्त करके प्रकट करना ही वेद का तात्पर्य है।

—११—

महावाक्यों के अर्थज्ञान की प्रक्रिया का निरूपण आवश्यक समझ मूलोक्त तत्त्वमसि का पदार्थ निरूपण करते हैं :—

यज्जगत्कारणन्तत्त्वन्तत्पदार्थस्स उच्यते ।
देहादिभिः परिच्छिन्नो जीवस्तु त्वम्पदाभिधः ।।११।।

(पदच्छेदः)

यत् जगत्कारणम् तत्त्वम् तत्पदार्थः सः उच्यते ।
देहादिभिः परिच्छिन्नः जीवः तु त्वम्पदाभिधः ।।११।।

(सान्वयार्थः)

यत्	=जो	उच्यते	=कहा जाता है।
जगत्कारणम्	=संसार का कारण[1]	देहादिभिः	=देह आदि से
तत्त्वम्	=तत्त्व[2] है	परिच्छिन्नः	=परिच्छिन्न[3]
सः	=वह	जीवः	=जीव
तत्पदार्थः	=तत् पद का अर्थ	तु	=तो
		त्वम्पदाभिधः	=त्वम् पद का अर्थ है।

व्याख्या

१. 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रों में, एवं 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३·१) 'तज्जलानिति' (छा० ३·१४·१) इत्यादि उपनिषदों में और 'मत्तः सर्वं' (गी० १०·८) इत्यादि स्मृतियों में जगत्कारणरूप से ही परमेश्वर बताया गया है। उसमें परोक्षता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सत्यसङ्कल्पता आदि धर्म सर्वदा रहते हैं। अधिदैवावस्थ-विक्षेपप्रधानमायादिशब्दवाच्या-ऽज्ञानतत्कार्यभूत - भौतिक-प्रपञ्चोपहिततया परोक्षत्वादिधर्मविशिष्टश्चिदात्मा तत्पदवाच्यार्थः।

२. जगत् का कारण माया भी है पर वह अनिर्वचनीय होने से तत्त्व नहीं है। माया की अतिव्याप्ति निवारणार्थ ही तत्त्व पद है।

३. अध्यात्मावस्था-ऽऽवरणशक्तिप्रधाना-ऽविद्यादिशब्दवाच्या-ऽज्ञान-तत्कार्यदेहद्वयप्रपञ्चोपहिततयाऽपरोक्षत्वादिधर्मविशिष्टश्चिदात्मा त्वम्प-दवाच्यार्थः। अपरोक्ष जीव ही त्वम्पदार्थ है। अहं गत चैतन्य ही इसका स्वरूप है। अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् रूप से स्वयं अपने को अनुभव करना ही इसकी परिच्छिन्नता है। कभी स्थूल देह को, कभी प्राण को, कभी मन और इन्द्रियों को अपने स्वरूप से अभिन्न समझने के कारण वास्तविकता की अनभिज्ञता ही आवरण शक्ति है। अनुभूत पदार्थ में ही अननुभूत पदार्थ का उपदेश किया जा सकता है; अतः इस अनुभवसिद्ध त्वम्पदार्थ में श्रुतिसिद्ध तत्पदार्थ का उपदेश श्रुतिगतमहावाक्य करते हैं।

—१२—१४—

वाच्यांशों के विरुद्धांश का परित्याग करके दोनों में अनुगत जो

अविरुद्धांश उसमें लक्षणा द्वारा अखण्डवाक्यार्थ को ही लक्ष्यार्थ कहा गया है। इसमें दृष्टान्त देते हैं:—

तद्देशकालावस्थादौ दृष्टस्स इति कथ्यते ।
तथैतद्देशकालादौ दृष्टोऽयमिति कीर्त्यंते ।।१२।।
मुख्यं तदेतद्वैशिष्ट्यं विसृज्य पदयोर्द्वयोः ।
पुम्मात्रं लक्षयत्येकं यथा सोयं पुमान्वचः ।।१३।।
प्रत्यक्त्वंच पराक्त्वं च त्यक्त्वा तत्त्वमसीतिवाक् ।
तथैव लक्षयत्यैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।।१४।।

(पदच्छेदः)

तद्देशकालावस्थादौ दृष्टः सः इति कथ्यते ।
तथा एतद्देशकालादौ दृष्टः अयम् इति कीर्त्यंते ।।१२।।
मुख्यम् तदेतद्वैशिष्ट्यम् विसृज्य पदयोः द्वयोः ।
पुम्मात्रम् लक्षयति एकम् यथा सः अयम् पुमान् वचः ।।१३।।
प्रत्यक्त्वम् च पराक्त्वम् च त्यक्त्वा तत्त्वमसि इति वाक् ।
तथा एव लक्षयति ऐक्यम् जीवात्मपरमात्मनोः ।।१४।।

(सान्वयार्थः)

तद्देशकालावस्थादौ = परोक्ष देश, काल, अवस्था आदि में
दृष्टः = देखा हुआ
सः = 'वह'
इति = इस प्रकार से
कथ्यते = कहा जाता है।
तथा = और
एतद्देशकालादौ = अपरोक्ष देश, काल आदि में
दृष्टः = देखा हुआ
अयम् = 'यह'
इति = इस प्रकार से
कीर्त्यंते = कहा जाता है।
यथा = जैसे
सः = 'वही
अयम् = यह
पुमान् = आदमी है'
वचः = (इस प्रकार का) वाक्य
द्वयोः = दोनों
पदयोः = शब्दों के
मुख्यम् = वाच्य
तदेतद्वैशिष्ट्यम् = परोक्ष और अपरोक्षरूपी विशेषता को

विसृज्य	=छोड़कर	पराक्त्वम्	=परोक्षभाव[2]
एकम्	=एक	च	=दोनों को
पुम्मात्रम्	=पुरुषमात्र को	त्यक्त्वा	=छोड़कर
लक्षयति	=दिखाती है,	जीवात्मपरमात्मनोः	=जीव और ईश्वर की
तथा	=वैसे		
तत्त्वमसि	='वही तू है'		
इति	=इस प्रकार का	ऐक्यम्	=एकता को
वाक्	=वाक्य	एव	=ही
प्रत्यक्त्वम्	=अपरोक्षभाव[1]	लक्षयति	=बताता है ।
च	=और		

व्याख्या

१. त्वम्पद स्वयं अपने को जानने वाला व्यक्तिनिष्ठ अहङ्कार है, जिसे जीव कहते हैं। यह स्वरूप को ढंकने वाले अज्ञान से जन्य स्थूल और सूक्ष्म शरीर से संश्लिष्ट चैतन्यात्मक आत्मतत्व है। यह अपरोक्षरूप से अनुभूत है।

२. तत्पद स्वयं अपने को जानने वाला समष्टिनिष्ठ ईश्वराभिमत चैतन्य है। व्यक्तिनिष्ठ अहंकार ईश्वर को अपने से भिन्न और बाहिर समझता है। यह विक्षेप करने वाले अज्ञान उपाधि से संश्लिष्ट है एवं समग्र विश्व से तादात्म्यापन्न चैतन्यात्मक आत्मतत्व है। यह परोक्षरूपेण अनुभव में आता है। अतः इसका ज्ञान शास्त्र एवं अनुमान से होता है।

—१५—

सम्बन्ध निरूपण करते हैं :—

सामानाधिकरण्याख्यस्सम्बन्धः पदयोरिह ।
विशेषणविशेष्यत्वं सम्बन्धस्स्यात्पदार्थयोः ॥१५॥

(पदच्छेदः)

सामानाधिकरण्याख्यः सम्बन्धः पदयोः इह ।
विशेषणविशेष्यत्वम् सम्बन्धः स्यात् पदार्थयोः ॥१५॥

(सान्वयार्थः)

इह	=यहाँ[1] (प्रकृत प्रसंग में)
पदयोः	=पदों का (समान विभक्ति युक्त शब्दों का)
सामानाधिकरण्याख्यः	=सामानाधिकरण्य नामक
सम्बन्धः	=सम्बन्ध;
पदार्थयोः	=(और) पदों से निर्दिष्ट वस्तुओं का
विशेषण-विशेष्यत्वम्	=विशेषण विशेष्य भाव
सम्बन्धः	=सम्बन्ध
स्यात्	=होगा।

व्याख्या

१. जब दो शब्द एक वाक्य में एक ही विभक्त्यन्त होते हैं तब उनमें तथा उनके द्वारा बताये जाने वाले विषयों में सम्बन्ध बताना इष्ट होता है। जैसे 'श्वेतो वृषः' में जो वृष है वही श्वेत है इस प्रकार पदों का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध बताने के लिये हो दोनों में समान विभक्ति प्रयुक्त है। श्वेत गुण विशेषण है और वृष विशेष्य है। यह विषयों का सम्बन्ध है।

—१६—१७ क—

जीव और ईश्वर यद्यपि महावाक्यों में एक विभक्त्यन्त हैं तथापि उनका विरोध स्फुट है; अतः इनके वाच्यार्थों में विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध असंभव है। आप्त श्रौत वाक्य में लक्ष्यार्थ ही इष्ट है। अतः लक्षणा बताते हैं—

लक्ष्यलक्षणसंयोगाद् वाक्यमैक्यं च बोधयेत्।
गङ्गायांघोषइतिवन्न जहल्लक्षणाभवेत् ॥१६॥
नाजहल्लक्षणाऽपिस्याच्छ्वेतोधावति वाक्यवत् ॥१७क॥

(पदच्छेदः)

लक्ष्यलक्षणसंयोगात् वाक्यम् ऐक्यम् च बोधयेत्।
गङ्गायाम् घोषः इतिवत् न जहल्लक्षणा भवेत् ॥१६॥
न अजहल्लक्षणा अपि स्यात् श्वेतः धावति वाक्यवत् ॥१७क॥

(सान्वयार्थः)

च = और[1]
वाक्यम् = वाक्य
लक्ष्य-लक्षण-संयोगात् = लक्ष्य लक्षण भाव संबंध[2] से
ऐक्यम् = एकता[3] को
बोधयेत् = बता देगा।
गङ्गायाम् = गंगा पर
घोषः = ग्राम (है)
इतिवत् = इस (वाक्य) की तरह
जहल्लक्षणा = (यहाँ) जहत् लक्षणा[4]
न = नहीं
भवेत् = हो सकती।
श्वेतः = सफेद
धावति = दौड़ रहा है
वाक्यवत् = (इस) वाक्य की तरह
अजहल्लक्षणा = अजहत्[5] लक्षणा
अपि = भी
न = नहीं
स्यात् = होगी।

व्याख्या

१. पद वाच्यार्थों को बतायेगा और वाक्य अखण्डार्थ का प्रतिपादन करेगा इस समुच्चय को 'च' से कहा गया।

२. जीव और चैतन्य का लक्ष्य लक्षण भाव सम्बन्ध है। शक्य सम्बन्धो हि लक्षणा। जीव का वाच्य है पंच कोशावच्छिन्न चैतन्य और लक्ष्य है निर्विशेष चैतन्य। अतः दोनों का लक्षणा से सम्बन्ध है।

३. सर्व भेदरहित अखण्ड चिन्मात्र में जीव और ईश्वरभाव कल्पित हैं, अतः अधिष्ठान की एकता के प्रतिपादन में अध्यस्तों की एकता गतार्थ हो जाती है।

४. लक्षणा तीन प्रकार की हैं। उनमें परिशेष न्याय से भाग लक्षणा को बताने के लिये दृष्टान्तों के व्याज से जहत्, अजहत् का प्रतिपादन करते हैं।

जहाँ वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग करके तत्सम्बन्धी अन्य पदार्थ को समझा जाय वह जहल्लक्षणा है। जैसे गंगा पर गाँव की असंभावना से गंगा सम्बन्धी तट में लक्षणा की जाती है। जीव के वाच्यार्थ

विशिष्ट चैतन्य में चैतन्य क्रोडित होने से जहल्लक्षणा इष्ट नहीं हो सकती।

विशेषण जड़ और विशेष्य चैतन्य का सर्वथा परित्याग करने पर तो लक्षणीय पदार्थान्तर का ही अभाव होने से शून्यवाद की प्राप्ति हो जायगी। 'असि' पद से सत् पदार्थ का बोध होने से शून्यवाद तो इस वाक्य को इष्ट हो ही नहीं सकता। अतः यह लक्षणा असंभव है।

जिस पक्ष में जीव का वाच्य अन्तःकरण है, उसमें तो जहल्लक्षणा भी संभव है यह भगवान् सुरेश्वराचार्यों ने वार्तिक में सिद्ध किया है; एवं आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भी इसको स्वीकार किया है। अतः यहाँ प्रायोवाद का अवलम्बन समझना चाहिए।

५. जहाँ वाच्यार्थ का त्याग किये बिना ही लक्ष्य के स्वरूप का बोध हो जाय वहाँ अजहत् लक्षणा समझनी चाहिये। सफेद का ग्रहण करते हुये ही सफेद वृषभ को समझना अजहत् लक्षणा है। सफेद में गुण होने से क्रिया की आश्रयता की असंभावना ही लक्षणा का प्रयोजक है। यहाँ परित्याग सर्वथा नहीं है। विशिष्ट चैतन्य में सर्वथा परित्याग न हो तो शुद्ध चैतन्य की सिद्धि हो ही नहीं सकती। विरुद्धांश की यथा-पूर्व स्थिति से सामानाधिकरण्य का बाध होगा और वाक्य की एकार्थता भी न रह पायगी। अतः यह लक्षणा तो महावाक्य में सर्वथा अनिष्ट है।

—१७—१९ क—

परिशिष्ट भागलक्षणा की इष्टता बताते हैं :—

तत्त्वमस्यादिवाक्यानां लक्षणा भागलक्षणा ॥१७॥
सोऽयं पुरुष इत्यादि वाक्यानामिव कीर्तिता।
भिन्नवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकवस्तुनि ॥१८॥
प्रवृत्तिस्तु समानाधिकरणत्वमिहोच्यते ॥१९क॥

(पदच्छेदः)

तत्त्वमस्यादिवाक्यानाम् लक्षणा भागलक्षणा ॥१७॥
सः अयम् पुरुषः इत्यादिवाक्यानाम् इव कीर्तिता ।
भिन्नवृत्तिनिमित्तानाम् शब्दानाम् एकवस्तुनि ॥१८॥
प्रवृत्तिः तु समानाधिकरणत्वम् इह उच्यते ॥१९क॥

(सान्वयार्थः)

सः	=वही	तु	=तो[2]
अयम्	=यह	भिन्नवृत्ति-निमित्तानाम्	=भिन्न-भिन्न[3] प्रवृत्ति के निमित्त[4] (कारण) से
पुरुषः	=आदमी है	शब्दानाम्	=(प्रयुक्त) शब्दों की
इत्यादिवाक्यानाम्	=इत्यादि वाक्यों की	एकवस्तुनि	=एक[5] पदार्थ में
इव	=तरह	प्रवृत्तिः	=प्रवृत्ति (प्रयोग)
तत्त्वमस्यादि-वाक्यानाम्	=वह तू है इत्यादि महा-वाक्यों की	समानाधि-करणत्वम्	=समानाधि-करण[6] रूप (सम्बन्ध)
लक्षणा	=लक्षणा	उच्यते	=कहा जाता है ।
भागलक्षणा	=भागलक्षणा[1]		
कीर्तिता	=कही गई है ।		
इह	=यहाँ (महा-वाक्यों में)		

व्याख्या

१. विरुद्धांश को छोड़कर अविरुद्ध भाग को ग्रहण करना ही भाग-लक्षणा है । इसमें वाच्यार्थ का त्याग और ग्रहण दोनों होने से इसे जहद-जहल्लक्षणा भी कहते हैं । विशिष्ट चैतन्य में विशिष्टांश परित्यक्तव्य है और चैतन्यांश संग्रहणीय है । अतः इसे भागलक्षणा माना गया है ।

२. पन्द्रहवें वार्तिक श्लोक में महावाक्यों में पदों का सम्बन्ध सामानाधिकरण्य कहा गया था । अब उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं । वाक्यार्थ कथनानंतरता द्योतनार्थ 'तु' का प्रयोग है ।

३. पर्याय व्यावृत्त्यर्थ भिन्न-भिन्न निमित्त कहा गया ।

४. यदि एक वस्तु को बताना इष्ट है तो एक पद का प्रयोग ही उचित है। पर्यायों का एक ही वाक्य में प्रयोग अनुचित है। कोई भी 'कपड़ा, वस्त्र, पट लाना' नहीं कहता । फिर महावाक्यों में दो पदों का प्रयोग क्यों? इसका कारण है कि दोनों पदों के प्रयोग का प्रयोजन भिन्न है। समष्टि चैतन्य और व्यष्टि चैतन्य वाचक तत् और त्वं पद हैं। जीव में अपरोक्षता है पर परिच्छिन्नता, नियम्यता आदि से युक्त। ईश्वर में अपरिच्छिन्नता, नियामकता आदि हैं पर परोक्षता से युक्त। अतः अपरिच्छिन्न, स्वतंत्र, अपरोक्ष, आत्मतत्त्व के प्रतिपादन के लिये दो पदों का प्रयोग आवश्यक है। त्वं पद के प्रयोग का निमित्त अखण्ड चैतन्य में अपरोक्षता प्रतिपादन करना है, और तत् पद का प्रयोग उसी वस्तु में अपरिच्छिन्नता आदि को बताना है। अतः पदद्वय का प्रयोजन सिद्ध है। लाहौर के करोड़पति सेठ को पाकिस्तान बनने के बाद आगरा में सिगरेट बेचते देखकर 'यही वह सेठ है' कहने में वक्ता का तात्पर्य सेठ के दारिद्र्य और करोड़पतित्व की निवृत्ति करके दिक्कालातीत रूप के प्रतिपादन करने में है। इसी प्रकार महावाक्य से आप्तवेद चैतन्य की परोक्षता और परिच्छिन्नता निवृत्त करता है।

५. अनेकार्थनिष्ठता की व्यावृत्ति के लिये एकवस्तुता कही गई है।

६. एक ही अधिकरण में रहना ही समानाधिकरणता है। निर्विशेष अखण्ड चैतन्य रूपी एक ही अधिकरण में जीव और ईश्वर की स्थिति उनकी समानाधिकरणता कही जाती है।

—१९—२१—

अखण्डवाक्यार्थ अप्रसिद्ध और क्लिष्ट कल्पना है। निर्विशेष चैतन्य का ज्ञान भी असंभव है। वैदिक महावाक्यों का अर्थ संयोग सम्बन्ध स्वीकार करने से भी संभव हो सकेगा। इस प्रकार के शंकाशील वादियों को संश्लिष्टार्थ की असंभावना सिद्ध होने पर ही इन सन्देहों से दूर कर अखण्डार्थ में स्थित किया जा सकता है। अतः क्रमशः इन पक्षों का निराकरण करते हैं:—

परस्यांशो विकारो वा जीवो वाक्येन नोच्यते ॥१९॥
जीवात्मना प्रविष्टत्वात्स्वमायासृष्टमूर्तिषु ।
निरंशो निर्विकारोऽसौ श्रुत्या युक्त्या च गम्यते ॥२०॥
घटाकाशो विकारो वा नांशो वा वियतो यथा ।
त्वमिन्द्रोसीतिवद्वाक्यं न खलु स्तुतितत्परम् ॥२१॥

(पदच्छेद:)

परस्य अंश: विकार: वा जीव: वाक्येन न उच्यते ॥१९॥
जीवात्मना प्रविष्टत्वात् स्वमायासृष्टमूर्तिषु ।
निरंश: निर्विकार: असौ श्रुत्या युक्त्या च गम्यते ॥२०॥
घटाकाश: विकार: वा न अंश: वा वियत: यथा ।
त्वम् इन्द्र: असि इतिवत् वाक्यम् न खलु स्तुतितत्परम् ॥२१॥

(सान्वयार्थ:)

स्वमाया-सृष्टमूर्तिषु	= आत्म शक्ति[1] द्वारा निर्मित मूर्तियों में	वियत:	= (सर्वत्राव-स्थित) आकाश का
जीवात्मना	= जीव भाव से	न	= न
प्रविष्टत्वात्	= घुसा हुआ होने के कारण	वा	= तो
जीव:	= जीव	विकार:	= विकार है,
वाक्येन	= महावाक्य[2] के द्वारा	वा	= और
परस्य	= परमेश्वर का	न	= न
अंश:	= हिस्सा[3]	अंश:	= अंश है ।
वा	= या	(तथा	= वैसे ही)
विकार:	= विकार[4]	असौ	= यह (सर्व-व्यापी-महेश्वर)
न	= नहीं	श्रुत्या	= वेद द्वारा
उच्यते	= कहा जाता है ।	च	= और
यथा	= जैसे[5]	युक्त्या	= युक्ति से[6]
घटाकाश:	= घड़े से घिरा आकाश	निरंश:	= अंशरहित
		निर्विकार:	= (और) विकाररहित

गम्यते	= जाना जाता है।	खलु	= निश्चित रूप से
त्वम्	= आप	स्तुतितत्परम्	= प्रशंसा में तात्पर्य वाला'
इन्द्रः	= इन्द्र	न	= नहीं है।
असि	= हैं		
इतिवत्	= इस प्रकार के		
वाक्यम्	= वाक्य की तरह"		

व्याख्या

१. 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २·६) 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' (छा० ६·३·२) 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' (बृ० ३·४·७) 'स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० १·३·१२) 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्' (तै०आ०३·११) 'अन्तः प्रविष्टं कर्तारमेतम्' (तै० आ० ३·११) इत्यादि श्रुतियाँ एवं 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' (गी० १८·६१) 'अहमात्मा गुडाकेश' (गी० १०·२०) 'स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः' इत्यादि स्मृतियाँ परमेश्वर को ही जगत् निर्माण में कारण बताकर उसमें अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट बताती हैं। जैसे घट प्रविष्ट आकाश ही घटाकाश है, घट का विकार या अंश नहीं; वैसे ही देह प्रविष्ट ईश्वर ही जीव पद का वाच्य है।

२. महावाक्य की गतार्थता भेद प्रतिपादन में नहीं हो सकती क्योंकि वह अन्यथा भी प्रसिद्ध है। भेद का अनुवाद करके ऐक्य प्रतिपादन स्वीकार करने पर ही उन्हें महावाक्य माना जा सकता है।

३. 'ममैवांशो जीवलोके' (गी० १५·७) 'अंशो नानाव्यपदेशात्' (ब्र० सू० २·३·४३) आदि से सिद्ध अंश को स्वीकार करके अंशांशिभाव से अभेद मानने पर प्रसिद्धता दोष का परिहार भी हो सकता है और लक्षणा रूपी गौरव से भी बचा जा सकता है ऐसा विशिष्टाद्वैतवादियों के आचार्यगण रामानुज, रामानंद, श्रीकर आदि मानते हैं। पर श्रुति में उसको 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं' कहा गया है, और अंश मानने पर अंश के उपचय-अपचय से वृद्धि-नाश भी संभव हो जाता है। अतः अंशांशिभाव परिहार्य है। अंश अंशीभाव में दोनों की नित्यता, सम्बन्धों से परिच्छिन्नता, चैतन्य की अस्वतन्त्रता

आदि अनेक दोष भी प्राप्त होंगे। शब्द गौरव से अर्थगौरव हीन समझा गया है। विशिष्टाद्वैत में अर्थ गौरव स्वयं सिद्ध है।

४. 'सर्वं एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' (बृ० ४·१·२०) 'तथाक्षरात्संभवतीह' (मु० १·१·७) 'मत्तः सर्वं' (गी० १०·८) 'अहम्बीजप्रदः' (गी० १४·४) इत्यादि श्रुति स्मृतियाँ विकार भाव में तात्पर्य वाली प्रतीत होती हैं। पर 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्ति धर्मा' (बृ० ४·५·१४) इत्यादि श्रुतियाँ और 'अविकार्योयमुच्यते' (गी० २·२४) इत्यादि स्मृतियाँ उसको विकाररहित बताती हैं। अतः दोनों में कौन सा भाव ठीक है? विचार करने पर प्रतीत होता है कि संसार के सारे पदार्थों को विकारवान् देखा जाता है। अविकृत पदार्थ अज्ञात है। नियम है कि ज्ञात का अनुवदन करके अज्ञात का निर्देश होता है। अतः यहाँ भी विकार बताने वाले वाक्य अनुवादक मात्र एवं औपचारिक हैं। अविकृत भाव ही वास्तविक है।

विकार अर्थात् परिणाम या परिस्पन्द या परस्पर सम्बन्ध के द्वारा किया हुआ अतिशय का योग। ये सभी निरंश अमूर्त सन्मात्र में किसी भी प्रकार उपपन्न नहीं हैं।

परिणाम अर्थात् पूर्व भाव को छोड़कर पर भाव की प्राप्ति। जैसे दूध भाव को छोड़कर दही भाव की प्राप्ति। परमेश्वर सर्वभावापन्न है और उसे छोड़कर भावान्तर है ही नहीं जिसे वह प्राप्त हो। अतः परमेश्वर में परिणाम असम्भव है। परिणाम स्वीकार करने पर ईश्वर भाव का नाश मानना पड़ेगा।

परिस्पन्द अर्थात् स्थानान्तर में या स्वस्थान में ही दिगन्तर में गमन (motion and vibration)। सर्वव्यापक में यह दोनों ही असम्भव है। उसकी शक्तियों का स्पन्दन तो औपचारिक प्रयोग है क्योंकि स्वरूप में स्पन्दन असम्भव है।

इसी प्रकार निरंश में सम्बन्ध ही असम्भव है तो सम्बन्ध जन्य अतिशय तो सर्वथा ही नहीं माना जा सकता। सम्बन्ध स्वीकार करने पर संयोग वियोग आदि मानने पड़ेंगे। ये सभी परिच्छिन्न पदार्थों के धर्म हैं, अपरिच्छिन्न सदाशिव के नहीं।

५. परमेश्वर का प्रवेश घड़े में पानी या फल में बीज की तरह न समझ लिया जाय अतः दृष्टांत से घड़े में आकाश की तरह उसका प्रवेश बताते हैं। वस्तुतस्तु घट और आकाश में भी पदार्थ गत भेद है अतः दृष्टान्त समीचीन नहीं। परन्तु आकाश से पृथ्वी की उत्पत्ति मानकर घट को आकाश से अभिन्न स्वीकार किया गया है। इसी दृष्टि से दृष्टान्त है। अन्यथा दार्ष्टांत में 'स्वमायासृष्ट' पद से विरोध होगा। या बर्फ के गिलास में पानी का दृष्टांत समझना चाहिये।

६. महेश्वर को अंश वाला मानने पर उसका कर्त्ता किसी और को मानना पड़ेगा। सांश पदार्थ सदा सकर्तृक होते हैं क्योंकि अंशों का संयोग क्रिया है और क्रिया कर्तृसापेक्ष है। सकर्तृक मानने पर सृष्ट कोटि में निविष्ट ईश्वर जगत का सृष्टा न रह सकेगा। ईश्वर का कर्त्ता अन्य मानने पर वह सांश है या निरंश? निरंश स्वीकार करना होता तो प्रथम को ही मान लेते। सांश मानने पर उसका फिर तीसरा कर्त्ता मानना पड़ेगा। इससे अनवस्था दोष की प्राप्ति अवश्यंभावी है। सृष्ट मानने पर स्वकारणविषयक ज्ञान और शक्ति का अभाव होने से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान भी ईश्वर को सिद्ध न किया जा सकेगा। अतः महेश्वर को निरंश ही मानना पड़ेगा। ईश्वर सिद्धि में प्रबल प्रमाण श्रुति है और श्रुति इसे स्पष्ट अकर्तृक बताती है 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६·९)। ईश्वरो नांशविकारवान् विभुत्वादाकाशवत् इत्यादि अनुमान भी यहाँ समझने चाहिये। अंश हीन पदार्थ अविकारी होने से निरंश सिद्धि से ही निर्विकार भी सिद्ध हो गया।

७. विशिष्टाद्वैत के दोषप्रदर्शनानन्तर द्वैतमत का दोष बताते हैं। ये जीव और ईश्वर के अत्यन्त भेद को मानते हुये तत्त्वमसि वाक्य को प्रशंसापरक स्वीकार करते हैं। जैसे राजा की प्रशंसा करने वाला उसे इन्द्र कह देता है उसी प्रकार जीव की प्रशंसा में उसे ईश्वर कह दिया गया है। साधक उत्साहित होकर साधना करे यह प्रशंसा का प्रयोजन है।

८. वेद का अर्थ लगाने वाला शास्त्र मीमांसा है। उसमें किसी भी वाक्य या अध्याय का वास्तविक तात्पर्यार्थ लगाने के नियमों का विस्तार से विवेचन है। आधुनिक लोग केवल व्याकरण और कोष के बल से अर्थ लगाकर अनर्थ करते हैं। मीमांसा में तात्पर्य निर्णय के ६ चिन्ह बताये हैं।

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिंगं तात्पर्यनिर्णये ।।

तत्त्वमसि प्रकरण का विचार करने से उसका तात्पर्य अखण्ड समरस के प्रतिपादन में प्रतीत होता है। यह प्रकरण सामवेद की कौथुमी शाखा के षड्विंश ब्राह्मण में छान्दोग्य उपनिषद के षष्ठाध्याय का है। वहाँ के लिंगनिर्णय का स्वरूप क्रमशः निम्नांकित प्रकार से है—

(क) उपक्रमोपसंहारौ—अर्थात् प्रारम्भ और समाप्ति 'सदेव सोम्येदमग्रे' से उपक्रम और 'एतदात्म्यमिदं सर्वं' से उपसंहार है। ये दोनों वाक्य अखण्ड तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले हैं।

(ख) अभ्यास—अर्थात् बार-बार कहना। तत्त्वमसि का नव बार उच्चारण करके उपदेश दिया गया है।

(ग) अपूर्वता—अर्थात् प्रमाणान्तर से अगतार्थता। 'अत्र वाव किल सत् सोम्य न निभालयसे' के द्वारा विद्यमान हुये भी ब्रह्म में अतीन्द्रिय होने से आचार्योपदेश के बिना अज्ञातत्व का प्रतिपादन करके अपूर्वता दिखाई गई है। आचार्योपदेश प्रत्यक्ष और तन्मूलक प्रमाण से न होकर शब्दमूलक होने से ही उसमें औपनिषदत्व प्रतिपादन भी हो गया।

(घ) फलम्—अर्थात् प्रकरण का लाभ। 'अथ संपत्स्ये' इत्यादि से अखण्ड ब्रह्म के ज्ञान का लाभ सर्वानर्थ निवृत्तिपूर्वक अखण्डानन्द रूप मोक्ष प्राप्ति बताया है।

(ङ) अर्थवाद—अर्थात् प्रतिपाद्य की प्रशंसा या तद्भिन्न की निन्दा। श्वेतकेतु की ब्रह्मविद्या प्राप्ति के पूर्व गर्वादिका वर्णन निन्दा है, एवं

उत तमादेशम्' के द्वारा ब्रह्मज्ञान से न जाना हुआ जाना जाता है इत्यादि प्रशंसा है ।

(च) उपपत्ति—अर्थात् प्रतिपाद्य का युक्ति दृष्टांत आदि से समर्थन । 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादि से उपपत्ति प्रदर्शन है।

इस प्रकार इस प्रकरण का तात्पर्य अद्वैतसिद्धि पूर्वक जीवेश्वर भेद निवृत्ति में है, जीव की ईश्वर रूप से प्रशंसा करने में नहीं; यह स्फुट है। जहाँ अभेदेनान्वय असंभव हो वहीं प्रशंसा की कल्पना संभव है ।

—२२—

प्रकरण में अभेदता समानता को लेकर भी उपपन्न हो सकती है, अतः सादृश्य पक्ष की प्राप्ति होने पर कहते हैं:—

न साहश्यपरं वाक्यमग्निर्माणवकादिवत् ।
न कार्यकारणत्वस्य साधनं गृद्घटादिवत् ।।२२।।

(पदच्छेदः)

न सादृश्यपरम् वाक्यम् अग्निः* माणवकादिवत् ।
न कार्यकारणत्वस्य साधनम् मृद्घटादिवत् ।।२२।।

(सान्वयार्थः)

अग्निः	=आग
माणवकादिवत्	=बालक[1] आदि की तरह
सादृश्यपरम्	=समानता[2] में तात्पर्यवाला
वाक्यम्	=(तत्त्वमसि आदि) वाक्य
न	=नहीं है ।
मृद्घटादिवत्	=मिट्टी और घड़े की तरह[3]
कार्यकारणत्वस्य	=कार्य कारण भाव की
साधनम्	=समानाधिकरणतात्मकसिद्धि
न	=नहीं है ।

व्याख्या

१. 'यह बालक आग' है इत्यादि वाक्य दोनों पदार्थों में तेजी आदि की समानता को लेकर प्रयुक्त होता है।

२. गुण, अवयव और क्रिया में प्रभूत एकता समानता कही जाती है। निर्गुण, निरवयव और निष्क्रिय सदाशिव में इसीलिये समानता अत्यन्त असंभव है।

३. कार्य का कारण में औपचारिक अभेद होता है। 'घड़ा मिट्टी हां है' इत्यादि वाक्यों में यही देखा जाता है। जीव और ईश्वर में भी ऐसा ही अभेद मानने पर अनेक दोष प्राप्त होते हैं ऐसा माण्डूक्य कारिका आदि में प्रतिपादित है। निरवयव और एक द्रव्य होने से तो आरम्भकारणता महेश्वर में नहीं हो सकती। एक देश या सर्व देश का परिणाम होना रूपी विकल्पों की असंभवता से परिणामकारणता असंभव है। संघातकारणता आदि तो सर्वथा असंगत है। अतः जीवेश्वर में कार्यकारणभाव रूपी भाव से अभेद प्रतिपादन भी नहीं है। विवर्त कारण में तो कारणत्त्व औपचारिक है, अभेद नहीं।

*अग्निमाण इति पाठभेदः ।

—२३—

सर्व प्राणियों में परमेश्वर की स्थिति प्रतिपादक वाक्यों से समन्वय करके जीव रूपी व्यक्तियों में ईश्वर रूपी जाति रहने से अभेदोक्ति सफल हो जायगी ऐसा सन्देह निवृत्त करते हैं:—

न जातिव्यक्तिगमकं गौ खण्ड इतिवद्वचः ।
गुणगुण्यात्मकं वाक्यं नैतन्नीलोत्पलादिवत् ।।२३।।

(पदच्छेदः)

न जातिव्यक्तिगमकम् गौः खण्डः इतिवत् वचः ।
गुणगुण्यात्मकम् वाक्यम् न एतत् नीलोत्पलादिवत् ।।२३।।

(सान्वयार्थः)

गौः	=गाय	एतत्	=यह[3] (तत्त्वमसि)
खण्डः	=लंगड़ी[1] है	वाक्यम्	=वाक्य
इतिवत्	=इसकी तरह	नीलोत्पलादिवत्	=नीलेकमल आदि की तरह
वचः	=वाक्य		
जातिव्यक्तिगमकम्	=जाति व्यक्ति को बताने वाला[2]	गुणगुण्यात्मकम्	=गुण और गुणवान रूप सम्बन्ध का प्रतिपादक
न	=नहीं है।	न	=नहीं है।

व्याख्या

१. यहाँ लँगड़ी व्यक्ति का व गोजाति का समानाधिकरण है।

२. जाति अचेतन होती है अतः ईश्वर रूप जाति भी अचेतन होगी । ईश्वर का लक्षण है सकल ज्ञानेच्छाप्रयत्नवान् और यह अचेतन में असंभव है । सकल व्यक्तियों के अभाव में जाति भी नहीं रह सकती । अतः प्रलयावस्था में सर्वजीवाभाव से ईश्वराभाव भी होना चाहिए जो उपक्रम के विरुद्ध है।

३. गुण और गुणवान में भी समान विभक्ति होती है। वहाँ भी अभेद औपचारिक है क्योंकि द्रव्याश्रित गुण स्वाश्रय से भिन्न होता है। इसी प्रकार जीव और ईश्वर में भी स्वीकार करना चाहिये। ऐसी शंका करने वाले वादी से पूछना चाहिये कि दोनों में किसे गुण और किसे गुणवान मानोगे ? जीव को ईश्वर का गुण मानने पर उसे संसारी एवं अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान स्वीकार करना होगा। ईश्वर को जीव का गुण मानने पर सभी जीव नित्य-मुक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सिद्ध होंगे । अनेक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान स्वीकार करना प्रमाणविरुद्ध है और जीव में नित्यमुक्तता मानने पर सभी शास्त्र व्यर्थ सिद्ध होंगे और अनुभव का भी विरोध होगा। अतः दोनों विकल्पों में दोष होने से यह पक्ष भी वादी का व्यर्थ प्रलाप ही है।

—२४—

अब तक यथाभूतता स्वीकार करके पक्षों का उपस्थापन था। अब विधिपरकता स्वीकार करके कहते हैं:—

नोपासनापरं वाक्यं प्रतिमास्वीशबुद्धिवत् ।
नचौपचारिकं वाक्यं राजवद्राजपूरुषे ॥२४॥

(पदच्छेदः)

न उपासनापरम् वाक्यम् प्रतिमासु ईशबुद्धिवत् ।
न च* औपचारिकम् वाक्यम् राजवत् राजपूरुषे ॥२४॥

(सान्वयार्थः)

प्रतिमासु	=मूर्ति में	राजपूरुषे	=सरकारी आदमी में
ईशबुद्धिवत्	=ईश्वर बुद्धि[1] की तरह	राजवत्	=सरकार की तरह[3]
वाक्यम्	=(तत्त्वमसि) वाक्य	वाक्यम्	=महावाक्य
उपासना-परम्	=ध्यान में तात्पर्य वाला[2]	औपचा-रिकम्	=गौण रूप से प्रयुक्त
न	=नहीं है।	च	=भी
		न	=नहीं है।

व्याख्या

१. शालग्राम शिला में या चतुर्भुज पत्थर में विष्णु का ध्यान करने के लिये उसे विष्णु कहा जाता है। यहाँ प्रस्तरखण्ड परमेश्वर नहीं है पर चित्तैकाग्र्य के लिये विहित है। इसी प्रकार जीव भी परमेश्वर नहीं है पर जीव में ईश्वर की उपासना का विधान है।

२. विधि या विदि (विद्या) वाचक शब्दों का सर्वथा अभाव उपासना परक अर्थ में बाधक है। उपासना का कोई लिंग भी नहीं है। प्रकरण भी यहाँ उपासना का नहीं है। 'असि' पद तो स्पष्ट ही स्वरूप पर्यवसायी है। इस पद के रहते क्रियान्तर का अध्याहार सर्वथा श्रुतबाध और अश्रुतकल्पना से दूषित है। अतः इसकी उपासनापरकता भी सिद्ध नहीं हो सकती।

ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक वेदानुयायियों में महावाक्य की उपासना परकता स्वीकृत है। श्रीशंकरभगवत्पादाचार्य एवं उनकी शिष्य परम्परा ने यद्यपि इसके विरुद्ध प्रबल प्रमाण दिये हैं तथापि उन्हीं के अनुयायियों में से एक भाग अलग हो गया और श्री वाचस्पति मिश्र ने शांकर सम्प्रदाय के मूलभूत ब्रह्मसूत्र भाष्य पर स्वतंत्र टीका लिख कर ब्रह्मसिद्धिकार आदि के उपासना मत का प्रवेश करा दिया। परमहंसशिरोमणि भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद के अनुयायियों में दण्डी संन्यासी इसी वाचस्पति मत के अनुयायी

हैं। पर वाचस्पति मत का प्रबल खण्डन कर आचार्यवर विवरणकार प्रकाशात्म श्रीचरण एवं प्रकटार्थकार अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने मूलभूत सम्प्रदाय का संरक्षण किया एवं आज भी श्रीपरमहंसों का यही मान्य सिद्धान्त है। यद्यपि परमहंस एवं दण्डी दोनों ही शांकरानुयायी हैं पर विद्वान जानते हैं कि परमहंस ही भाष्यादि के प्रचार में दृढानुरागी हैं। इसका मूलकारण उनकी मान्यताओं की भाष्य सम्मतता ही है। आचार्य आनन्दगिरि ने समस्त भाष्यों के ऊपर टीका लिखकर इसे स्पष्ट सिद्ध कर दिया है। आधुनिक काल में यद्यपि दोनों ही विभागों में स्वाध्याय की कमी ने केवल मताग्रह और विद्वेष का भाव धारण कर लिया है पर सैद्धान्तिक भेद ही इस भेद का मूल है।

३. सरकार और सरकारी आदमी अत्यन्त भिन्न होते हुये भी सरकारी आदमी सरकार को व्यक्त करता है। इसी प्रकार जीव ईश्वर को व्यक्त करने वाला है ऐसा मान लेने पर बार बार प्रेरणा करके नौ बार का अभ्यास व्यर्थ सिद्ध होता है।

*वा इति पाठ भेदः।

—२५-२६—

सारे पक्षों के युक्ति विरुद्ध होने के कारण उनका अनादर करके श्रौत मत को बताते हैं:—

जीवात्मना प्रविष्टोऽसावीश्वरश्श्रूयते यतः।
देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्कारसंहतौ ॥२५॥
आत्मसङ्कलनादज्ञैरात्मत्वं प्रतिपाद्यते।
वह्निधीः काष्ठलोहादौ वह्निसङ्कलनादिव ॥२६॥

(पदच्छेदः)

जीवात्मना प्रविष्टः असौ ईश्वरः श्रूयते यतः।
देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्कारसंहतौ ॥२५॥
आत्मसंकलनात् अज्ञैः आत्मत्वम् प्रतिपाद्यते।
वह्निधीः काष्ठलोहादौ वह्निसंकलनात् इव ॥२६॥

(सान्वयार्थः)

यतः	=चूंकि
असौ	=यह
ईश्वरः	=परमेश्वर
देहेन्द्रिय-मनो-बुद्धि-प्राणाहङ्कारसंहतौ	=शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण और अहङ्कार के संघात में
जीवात्मना	=जीवरूप से
प्रविष्टः	=घुसा हुआ
श्रूयते	=वेद में प्रतिपादित[1] है;
(ततः	=इसलिये)
अज्ञैः	=ज्ञानरहित लोगों के द्वारा
काष्ठलोहादौ	=लकड़ी, धातु आदि में
वह्निसंकलनात्	=आग के प्रवेश से
वह्निधीः	=आग की बुद्धि की
इव	=तरह[2]
(तेषु	=उन देहादि में)
आत्म-सङ्कलनात्	=आत्मा के प्रवेश से
आत्मत्वम्	=आत्मता
प्रतिपाद्यते	=प्रतिपादन की जाती है।

व्याख्या

१. सैंकड़ों वेदवाक्य परमेश्वर का ही देहादि उपाधि में प्रवेश के कारण जीवपना बतलाते हैं; अतः जीव को ईश्वर से भिन्न पदार्थ नहीं माना जा सकता। अभिन्न पदार्थों में औपचारिक, उपासनापरक आदि नौ पक्षों की कल्पना व्यर्थ है। उपाधि के कारण अपने को जीव माने हुये आत्मा को उपाधि से अलग बताकर उसके स्वाभाविक ब्रह्म भाव को बताना ही महावाक्य का कार्य है।

२. यद्यपि जलाने का कार्य अग्नि का है तथापि लोग कहते हैं 'लकड़ी से जल गया'। यहाँ लकड़ी में प्रविष्ट अग्नि को लकड़ी उपाधि से भिन्न न समझने के कारण ही भ्रान्ति होती है। इसी प्रकार देहादि उपाधियों में आत्मा को देखकर लोग उन्हीं उपाधियों को आत्मा समझ कर जीव और ईश्वर का भेद मान लेते हैं।

—२७—

ब्रह्म यदि सबका वास्तविक स्वरूप है तो सभी को 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा सर्वदा भान न होकर 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि प्रकार से ही

प्रतिभासित क्यों होता है? इसमें उपाधि को कारण बताया। अज्ञान से आवृत निजस्वरूप को जानने के लिये उपाधि को जानना आवश्यक है; अतः उपाधि निरूपण प्रारंभ करते हैं:—

देहमन्नमयंकोशमाविश्यात्मा प्रकाशते ।
स्थूलो बालः कृशः कृष्णो वर्णाश्रमविकल्पवान् ।।२७।।

(पदच्छेदः)

देहम् अन्नमयम् कोशम् आविश्य आत्मा प्रकाशते ।
स्थूलः बालः कृशः कृष्णः वर्णाश्रमविकल्पवान् ।।२७।।

(सान्वयार्थः)

आत्मा	=आत्मा	कृश :	=दुबला,
अन्नमयम्	=अन्नमय[1]	बालः	=बालक,
कोशम्	=कोश	कृष्णः	=काला,
देहम्	=शरीर में	वर्णाश्रमविकल्पवान्	=वर्ण, आश्रम भेदों वाला
आविश्य	=घुस कर	प्रकाशते	=प्रतीत[2] होता है।
स्थूल:	=मोटा,		

व्याख्या

१. 'मुञ्जादिषीकामिव' इत्यादि श्रुतियाँ सूक्ष्मतम आत्मतत्व को धीरता पूर्वक उपाधि से भिन्न करने को कहती हैं। इनमें स्थूलतमोपाधि अन्न का विकाररूप यह स्थूल देह है। यह भुक्त अन्न के विकार रजवीर्य से उत्पन्न होकर अन्न से ही बढ़ता है। इसमें स्थित आत्मा इसके गुणों को अपने में मान लेता है। ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्यादि आश्रम इसी में स्थित हैं। साधारण लोग एवं लोकायतिक और आधुनिक भौतिकवादी इसी को आत्मा मानते हैं।

२. 'अहम्' का अर्थ प्रत्यगात्मा है और अहम् की अनुभूति में उसका भान होता है यह सर्ववादि सम्मत है। स्थूलत्वादि दृश्य-धर्मों से विशिष्ट आत्मा को विषय करने की वजह से शुद्ध आत्मा का ग्रहण इस अनुभूति में नहीं हो पाता है। इन विशिष्ट धर्मों वाला परिच्छिन्न आत्मा व्यापक परमात्मा नहीं हो सकता यह

भी निःसन्दिग्ध है। अतः शुद्ध आत्मा का उद्धरण आवश्यक है। इदं रूपी दृश्य धर्म विशिष्ट अहंकार की अनुभूति में अहंकार के साक्षी रूप आत्मा का, इदमंश हटाने से अहंकार से निरपेक्ष स्वयं प्रकाशमान शुद्ध परिपूर्ण रूप से, ज्ञान होना संभव है। यह सदाशिव से अभिन्न है। इस इदमंश में किन किन की प्रतीति होती है इसका निरूपण करके उद्धरण प्रक्रिया बताते हैं।

—२८—

अन्नमय कोश के आभ्यन्तर कोशों का निरूपण करते हैं:—

प्राणकोशेऽपि जीवामि क्षुधितोऽस्मिपिपासितः ।
संशितो निश्चितो मन्ये इति कोशे मनोमये ।।२८।।

(पदच्छेदः)

प्राणकोशे अपि जीवामि क्षुधितः अस्मि पिपासितः ।
संशितः निश्चितः मन्ये इति कोशे मनोमये ।।२८।।

(सान्वयार्थः)

प्राणकोशे	=प्राणमय कोश में	मनोमये	=मनोमय[२]
अपि	=भी	कोशे	=कोश में
जीवामि	='जीवित[१] हूँ,	संशितः	='संशय वाला हूँ'
क्षुधितः	=भूखा,	निश्चितः	='निश्चय वाला हूँ',
पिपासितः	=प्यासा,	इति	=इस प्रकार से
अस्मि	=हूँ';	मन्ये	=मानता है।

व्याख्या

१. जीवेश्वर के औपाधिकरूपों से वास्तविक रूप भिन्न है। यह श्रौत अद्वैत अनुभव पर आधारित है इसे निर्दिष्ट करने के लिये ही कोशों के निरूपण में अनुभूति का वर्णन है। अन्नमय कोश में जैसे वह स्थूलादि विशिष्टरूप से चैतन्य का अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार प्राणमय कोश में स्थित होकर उससे तादात्म्यापन्न हुआ जीवित आदि धर्मों से विशिष्ट स्वानुभूति है। जीव का

सो अर्थ ही प्राणन करना है। कर्मेन्द्रियों के धर्मों का संग्रह भी प्राण में समझ लेना चाहिये।

२. मनोमय अर्थात् विचार देह। ज्ञानेन्द्रियों के धर्मों को भी मनोमय के साथ ग्रहण करना होता है।

—२९-३०क—

विज्ञानमयकोशस्थो विजानामीति तिष्ठति।
आनन्दमयकोशाख्ये त्वहङ्कारे पुराकृतैः ॥२९॥
पुण्यैरुपासनाभिश्च सुखितोऽस्मीति मोदते ॥३०क॥

(पदच्छेदः)

विज्ञानमयकोशस्थः विजानामि इति तिष्ठति।
आनन्दमयकोशाख्ये तु अहंकारे पुराकृतैः ॥२९॥
पुण्यैः उपासनाभिः च सुखितः अस्मि इति मोदते ॥३०क॥

(सान्वयार्थः)

विज्ञानमयकोशस्थः	= विज्ञानमय कोश में घुसा हुआ	पुराकृतैः	= पूर्व में किये हुये
विजानामि	= 'मैं समझता हूँ'	पुण्यैः	= पुण्य कर्मों से
इति	= इस प्रकार	च	= और
तिष्ठति	= रहता है।	उपासनाभिः	= उपासनाओं से
आनन्दमयकोशाख्ये	= आनन्दमय कोश नाम वाले	सुखितः	= 'सुखी
अहङ्कारे	= अहङ्कार[1] में	अस्मि	= हूँ'
तु	= तो[2]	इति	= इस प्रकार
		मोदते	= प्रसन्न होता है।

व्याख्या

१. आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब अहंकार में पड़ता है और उसी अहंकार से बाकी कोश प्रकाशित होते हैं। यह अहंकार ही आनन्दमय कोश कहा जाता है।

२. अन्य कोशों में आत्मा का प्रकाश परोक्षरूप से है और यहाँ अपरोक्षरूप से; अतः तु शब्द प्रयोग किया गया है।

३. सुख की अभिलाषा ही प्राणीमात्र को चलाती है अतः उसके कारण को बताते हैं।

—३०—३२—

एवं कंचुकितःकोशैः कंचुकैरिव पञ्चभिः ॥३०॥
परिच्छिन्न इवाभाति व्याप्तोऽपि परमेश्वरः ।
यथा सलिलमाविश्य वहुधाभाति भास्करः ॥३१॥
तथा शरीराण्याविश्य वहुधास्फुरतीश्वरः ।
कारणत्वं च कार्यत्वं तटस्थं लक्षणं तयोः ॥३२॥

(पदच्छेदः)

एवम् कञ्चुकितः कोशैः कञ्चुकैः इव पंचभिः ॥३०॥
परिच्छिन्नः इव आभाति व्याप्तः अपि परमेश्वरः ।
यथा सलिलम् आविश्य बहुधा भाति भास्करः ॥३१॥
तथा शरीराणि आविश्य बहुधा स्फुरति ईश्वरः ।
कारणत्वम् च कार्यत्वम् तटस्थम् लक्षणम् तयोः ॥३२॥

(सान्वयार्थः)

एवम्	=इस तरह	भास्करः	=सूर्य
पञ्चभिः	=पाँच	सलिलम्	=पानी में[२]
कोशैः	=कोशों के द्वारा	आविश्य	=घुसकर
कञ्चुकैः	=कमीजों से	वहुधा	=वहुत प्रकार का
कञ्चुकितः	=ढके	भाति	=प्रतीत होता है
इव	=की तरह	तथा	=वैसे ही
व्याप्तः	=सर्व व्यापक	ईश्वरः	=परमेश्वर
अपि	=भी	शरीराणि	=देहों में
परमेश्वरः	=परमेश्वर	आविश्य	=घुसकर
परिच्छिन्नः	=घिरा हुआ	बहुधा	=वहुत प्रकार का[३]
इव	=सा[१]	स्फुरति	=प्रतीत होता है।
आभाति	=भान होता है।	तयोः	=उनका (ईश्वर, जीवका)
यथा	=जैसे		

तटस्थम्	= तटस्थ	च	= और
लक्षणम्	= लक्षण	कार्यत्वम्	= कार्यपना है ।
कारणत्वम्	= कारणपना		

व्याख्या

१. पंचकोशकृत परिच्छेद को हटाने पर उन सभी में अनुस्यूत साक्षी रूप आत्मा स्वयं परिपूर्ण ईश्वर रूपी आत्मतत्व ही है। वस्तुतस्तु परिच्छेद भी कल्पित ही है अतः 'इव' का प्रयोग है।

२. भिन्न भिन्न रंगों के जलों में प्रतिबिम्बित सूर्य उपाधिभेद के कारण अनेक प्रकार का प्रतीत होते हुये भी स्वरूपतः एक ही रहता है।

३. जैसे उपाधि को कहे बिना सूर्य में भेद निरूपण असंभव है, वैसे ही अनेकों देहों में स्फुरण करते हुये आत्मबिम्ब का भी देहोपाधि के परामर्श के बिना स्वतः भेद निरूपण नहीं किया जा सकता। अतः सर्वत्र परमार्थतः एक ही आत्मा सिद्ध होता है।

एकात्मपक्ष में एक के सुख दुःख से सारों के सुख दुःख की प्राप्ति रूप दोष का भी इसी से परिहार हो जाता है। एक स्थान पर जल में सूर्य हिलता हुआ भी जैसे अन्यत्र स्थिर रहता है वैसी ही व्यवस्था जीवों में समझनी चाहिये। इसी प्रकार जीवेश्वर में एकता होने पर भी जैसे उपाधिस्थ के चलने पर भी सूर्य स्थिर है वैसे ही कर्तृत्वादि संसार धर्म-वाला जीव रूपी प्रतिबिम्ब होने पर भी सदाशिव उन धर्मों से असं-स्पृष्ट ही रहता है।

४. वाक्यार्थ निरूपण के पहिले पदार्थ निरूपण आवश्यक है अतः तत् और त्वम् का पदार्थ बताते हैं। जो स्वरूप भूत न होकर वस्तु को निरूपित करे उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं। तत्पदार्थ कारण है और त्वम्पदार्थ कार्य है। अर्थात् भूत भौतिक प्रपञ्च कारणता तत्पदार्थ से उपलक्षित है और देहेन्द्रियादिसंघातरूपकार्य की अध्यक्षता त्वम्पदार्थ से दिखायी गई है। 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' 'तत्कारणं

सांख्ययोगाधिगम्यम्' (श्वे० ६.१३) इत्यादि श्रुतिस्मृतियों में यह लक्षण प्रतिपादित है।

—३३—

शाखायां चन्द्र इतिवन्नैव मुख्यमिदं मतम्।
महाप्रकाशमित्युक्तं स्वरूपं चन्द्रलक्षणम् ॥३३॥

(पदच्छेदः)

शाखायाम् चन्द्रः इतिवत् न एव मुख्यम् इदम् मतम्।
महाप्रकाशम्* इति उक्तम् स्वरूपम् चन्द्रलक्षणम् ॥३३॥

(सान्वयार्थ)

इदम्	=यह (तटस्थ लक्षण)	मतम्	=माना गया है।
शाखायाम्	='डालियों के बीच में[1]	महाप्रकाशम्	=बड़ी रोशनी[2]
चन्द्रः	=चन्द्रमा है'	इति	=इस प्रकार से
इतिवत्	=की तरह	स्वरूपम्	=स्वरूपभूत
एव	=ही	चन्द्रलक्षणम्	=चन्द्रमा का लक्षण
मुख्यम्	=प्रधान (लक्षण)	उक्तम्	=कहा गया है।
न	=नहीं		

व्याख्या

१. द्वितीया के दिन लोग चन्द्रदर्शन कराते हुये उसे इस प्रकार से बताते हैं। पर डालियों में और चन्द्रमा में करोड़ों कोसों की दूरी है और लाखों कोस चौड़ा चन्द्र डालियों की कई पाद चौड़ाई में आ भी कैसे सकता है। अतः असंभव है। यह लक्षण फिर भी चन्द्रमा को दिखा देता है। इसी प्रकार अज परमेश्वर में कार्य कारण भाव सम्बन्ध असम्भव है फिर भी 'यतो वा' इत्यादि वाक्य से उसका निर्देश हो जाता है।

२. पूर्णिमा के दिन 'अधिक प्रकाश' रूप कहने से ही बालकों को चन्द्रमा का ज्ञान हो जाता है। यह स्वरूप से अभिन्न होने के कारण स्वरूप लक्षण है। यहाँ विशिष्ट चन्द्रमा को बताया गया हो ऐसा नहीं समझना चाहिये क्योंकि चन्द्र पद के अर्थ मात्र का जिज्ञासु इस उप-

देश का विषय है और जिज्ञासित वस्तु से अधिक का निर्देश तो अनुचित है। 'जो प्रकृष्ट प्रकाश है वह चन्द्र है' यहाँ 'जो' और 'वह' सामानाधिकरण्य के कारण एक पदार्थ बता रहे हैं, अतः स्वरूप मात्र चन्द्रमा के प्रातिपदिक अखण्ड अर्थ को बताते हैं।

*श इति पाठभेदः

—३४—

सच्चिदानन्दरूपत्वं स्वरूपं लक्षणं तयोः।
एकलक्षणयोरैक्यं वाक्येन प्रतिपाद्यते ॥३४॥

(पदच्छेदः)

सच्चिदानन्दरूपत्वम् स्वरूपम् लक्षणम् तयोः।
एकलक्षणयोः ऐक्यम् वाक्येन प्रतिपाद्यते ॥३४॥

(सान्वयार्थः)

सच्चिदानन्दरूपत्वम्	= सत्य, ज्ञान और सुखरूपता[1]	लक्षणम्	= लक्षण है।
		वाक्येन	= महावाक्य के द्वारा
तयोः	= उनका[2] (तत् और त्वम् का)	एकलक्षणयोः	= एक लक्षण[3] वालों की
		ऐक्यम्	= एकता[4]
स्वरूपम्	= स्वरूप	प्रतिपाद्यते	= बताई जाती है।

व्याख्या

१. अनृत, जड़, दुःख और परिच्छिन्नता का अत्यन्त अभाव होने से ही उसे सच्चिदानन्दरूप कहा जाता है। यह कोई विशेषण नहीं है। यद्यपि वस्तुतस्तु इनमें से कोई एक पद भी विचार करने पर अन्य पदों को भी सिद्ध कर देता है तथापि स्पष्टता के लिये ये सभी पद समझने चाहिये। सत्य अर्थात् त्रिकालाबाधितता, ज्ञान अर्थात् स्वप्रकाशरूपता या अन्यप्रकाशनिरपेक्षता, आनन्द अर्थात् नित्यप्रेमास्पदता या निरपेक्ष सुखरूपता इन तीनों की ईश्वररूपता श्रुति प्रतिपादित है और प्रत्यगात्मरूपता अनुभव सिद्ध है। अतः यह दोनों का लक्षण है। जैसे चिकित्साशास्त्र में प्रतिपादित मधुमेह के लक्षणों को अपने में अनुभव कर 'मैं मधुमेह वाला हूं' ऐसा निश्चय होता है, वैसे ही ईश्वर के लक्षणों को अपने में देखकर 'मैं ईश्वर हूं' ऐसा निश्चय होता है।

३. यहाँ लक्षण से स्वरूप लक्षण समझना चाहिये, क्योंकि तटस्थ लक्षण की एकता पारमार्थिक नहीं हो सकती। देश, काल, परिवर्तन से भिन्न पदार्थों में एक ही तटस्थ लक्षण घट जाता है। स्वरूप लक्षण स्वरूपभूत होने से अपरिवर्तनीय है।

४. वस्तुतः महावाक्य किसी नवीन या असंभव एकता का प्रतिपादन नहीं करते हैं वरन् लक्षणों की एकता से संभावित एकता को स्फुट कर देते हैं। फिर इसे औपनिषद् ज्ञान ही कहे जाने का तात्पर्य है कि इसका मूल उपनिषद् जन्य है, एवं अनुमान प्रमाण अप्रतिष्ठित होने से 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २.१.११) न्याय से निश्चय ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता। अनुमान जन्य ज्ञान अपरोक्ष नहीं होता इसलिये भी ब्रह्म के अपरोक्षज्ञानार्थ उपनिषद् ही एकमात्र साधन है। अनादि अविद्या को नष्ट करने में अनादि विद्या रूप वैदिक वाक्य ही समर्थ हैं, लौकिक वाक्य नहीं, इसलिये भी इसे औपनिषद् पुरुष कहा जाता है।

दोनों की एकता अत्यन्ताभेद होने से है। अन्यथा स्वरूप लक्षण में भेद अवश्यंभावी है। अतः वेद तात्पर्य से उस अभेद का प्रतिपादन करते हैं।

—३५—

यहाँ तक 'साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा' अर्थात् द्वितीय पाद का व्याख्यान करके अब साक्षात्कार के फल प्रतिपादक तृतीय पाद का व्याख्यान प्रारंभ करते हैं :—

तस्मादेकप्रकाशत्वं सर्वात्मत्वमिति स्थितम् ।
देवतिर्यङ्मनुष्याणां प्रकाशान्न पृथक्स्थितिः ॥३५॥

(पदच्छेदः)

तस्मात् एकप्रकाशत्वम् सर्वात्मत्वम् इति स्थितम् ।
देवतिर्यङ्मनुष्याणाम् प्रकाशात् न पृथक् स्थितिः ॥३५॥

(सान्वयार्थः)

तस्मात्	= अतः	देव-तिर्यङ्-मनुष्याणाम्	= देवता, पशु, मनुष्यों की
एकप्रकाशत्वम्[1]	= एकरूप प्रकाश-रूप	प्रकाशात्	= ज्ञान से
सर्वात्मत्वम्	= सर्व का आत्म-भाव[2] है	पृथक्	= अलग[3]
इति	= ऐसा	स्थितिः	= सत्ता
स्थितम्	= सिद्ध हो गया ।	न	= नहीं है ।

व्याख्या

१. एकत्वम् प्रकाशत्वञ्च, एकरूपप्रकाशत्वमिति वा ।

२. 'तदात्मानमेवावेदहम्ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (बृ० ३.४.१०) इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से एकप्रकाशता का निश्चय ही सर्वात्मभाव है ।\

३. प्रत्यक्ष सिद्ध देवादि भेद होने पर भी उनकी पूर्वसिद्ध ज्ञानाधीन सत्ता का निर्देश करके उनका अभेद बतलाया है ।

—३६–३८ क—

जीवः प्रकाशाभिन्नत्वात्सर्वात्मेत्यभिधीयते ।
एवं प्रकाशरूपत्वपरिज्ञाने दृढीकृते ॥३६॥
पुनरावृत्तिरहितं कैवल्यं पदमश्नुते ।
सकृत्प्रसक्तमात्रोऽपि सर्वात्मत्वे यदृच्छया ॥३७॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते ॥३८ क॥

(पदच्छेदः)

जीवः प्रकाशाभिन्नत्वात् सर्वात्मा इति अभिधीयते ।
एवम् प्रकाशरूपत्वपरिज्ञाने दृढीकृते ॥३६॥
पुनरावृत्तिरहितम् कैवल्यम् पदम् अश्नुते ।
सकृत् प्रसक्तमात्रः अपि सर्वात्मत्वे यदृच्छया ॥३७॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः* शिवलोके महीयते ॥३८ क॥

(सान्वयार्थः)

प्रकाशाभिन्नत्वात्	= प्रकाश से अभिन्न रूपसे[1]
जीवः	= जीवात्मा
सर्वात्मा	= सर्वात्मा है
इति	= इस प्रकार से
अभिधीयते	= कहा जाता है।
एवम्	= इस प्रकार
प्रकाशरूपत्वपरिज्ञाने	= प्रकाशरूपता के ठीक[2] ज्ञान के
दृढीकृते (सति)	= दृढ़ हो जाने पर[3]
पुनरावृत्तिरहितम्	= पुनर्जन्म[4] की संभावना से हीन
कैवल्यम्	= ब्रह्मनिर्वाण[5]
पदम्	= अवस्था
अश्नुते	= प्राप्त[6] कर लेता है।
यदृच्छया	= आकस्मिक[7]
अपि	= भी
सर्वात्मत्वे	= सर्वात्म भाव में
सकृत्प्रसक्तमात्रः	= एक बार भी अच्छी तरह से लग जाने वाला
सर्वपापविनिर्मुक्तः	= सारे पापों से छूट कर[8]
शिवलोके	= शिव लोक[9] में
महीयते	= पूजा जाता है।

व्याख्या

१. ज्ञान निर्विशेषावस्था में अल्प, सर्व आदि भेदों से रहित है। उपाधि ही जीवेश्वरभेद में कारण है। अतः निर्विशेष दृष्टि से ही जीवेश्वर का अभेद है। जीवका प्रकाश भी महेश्वरप्रकाश से अभिन्न ही है। अतः जीव प्रकाश भी सर्वप्रकाश ही है।

अथवा जीवप्रकाशों से महेश्वर प्रकाश अभिन्न है अतः सर्वात्मता है। यह पाठान्तर में अर्थ समझना चाहिये।

२. मनन निदिध्यासन सहित वेदान्तवाक्यों का श्रवण ठीक ज्ञान को उत्पन्न करता है। इनमें से एकाधिक ज्ञानसाधना की न्यूनता या अभाव ही ज्ञान की अदृढ़ता में कारण होता है।

३. 'निमेषार्धन्न तिष्ठन्ति वृत्तिम्ब्रह्ममयीं विना' के अनुसार जिसका क्षणमात्र भी स्वरूप से अन्यत्र चिन्तन नहीं जाता, जो वास्तविक ब्रह्मसंस्थ हो चुका है, जिसकी दृष्टि में संसार की सत्ता तुच्छ है वही दृढ़ज्ञानी है।

४. पुनर्जन्म का कारण वासनाएँ हैं। दृढ़ज्ञान वासनाओं को उन्मूलित कर देता है अतः निमित्त के निवारण से नैमित्तक अवश्य ही निवृत्त हो जाता है।

५. अकेले के भाव को कैवल्य कहते हैं। द्वितीय के अभाव से यही भय और दुःख से रहित है। सर्वव्यापक, सार्वकालिक, सर्ववस्तुरूप होने से ब्रह्मनिर्वाण ही कैवल्य पद का वाच्य है। सालोक्यादि तो लक्षणा से मोक्ष कहे जाते हैं।

६. 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इत्यादि श्रुत्यनुरोध से यहाँ अज्ञाननिवृत्ति ही प्राप्ति पद का अर्थ है।

७. अहैतुकी गुरु कृपा से भी साधक में आत्मवृत्ति उत्पन्न होकर उसे सकृत् अर्थात् एकवारगी ही सर्वात्मभावना में राग हो जाता है। अथवा जीवन के आखिरी क्षण में अनेक जन्मों के पुण्योदयस्वरूप इधर आसक्ति हो जाती है। अथवा साधनों के परिपाक से एक बारगी अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। सर्वथा फल तो समान ही है।

८. ब्रह्म में प्रसक्त पुरुष, सारे पापों की जड़ अज्ञान से, निवृत्त हो जाता है तो उसका साधक पापों से निवृत्त अवश्य हो जाता है। ब्रह्मज्ञान के साधक में पाप होना वैसे ही असंभव है जैसे सूर्य प्रकाश में अन्धकार। इस बात को भगवान भाष्यकार आचार्यप्रवर शंकरभगवत्पाद व उनके शिष्यप्रवर सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, एवं आचार्य आनन्दगिरि सभी ने एक स्वर से स्वीकार किया है। अतः कई तथाकथित आधुनिक वेदान्तियों की मान्यता कि इन्द्रियाँ स्वभाव से चाहे पाप करें आत्मज्ञ तो निष्कलंक है वेदभाष्यवार्तिक विरुद्ध कपोलकल्पित है, एवं स्वयं अपने को और साधकों को पथभ्रष्ट करके नरक में डालने के लिये है।

आत्मकामी पुरुष के पूर्वपापों का क्षय और आगामी पापों का न होना ही उन्हें सद्गति देता है। पाठान्तर में तो सर्वविषयभावनाविनिर्मुक्त अर्थ स्पष्ट ही है।

६. शिव है जिस लोक में अधिष्ठित वह शिव लोक कहा जाता है। अथवा शिव की तरह लोक में पूज्य होता है।

*सर्वंभावविनिर्मुक्तः इतिवा पाठः।

—३८—

पूर्ण दृढ़ता के उदय का फल बताते हैं:—

सर्वात्मभावना यस्य परिपक्वा महात्मनः।
संसारतारकस्साक्षात्स एव .परमेश्वरः ॥३८॥

(पदच्छेदः)

सर्वात्मभावना यस्य परिपक्वा महात्मनः।
संसारतारकः साक्षात् सः एव परमेश्वरः ॥३८॥

(सान्वयार्थः)

यस्य	=जिस	साक्षात्	=प्रत्यक्ष[२]
महात्मनः	=महान् पुरुष की	संसारतारकः	=संसार समुद्र से तारने वाला[३]
सर्वात्मभावना	=सर्वात्मभावना	परमेश्वरः	=परमेश्वर[४]
परिपक्वा	=पूर्णरूप से पक[१] गई है,	एव	=ही है।
सः	=वह		

व्याख्या

१. जिस प्रकार तारे, चंद्र, अग्नि, बिजली, सूर्य आदि के प्रकाश में पदार्थों के ज्ञान में एक रूपता होने पर भी अधिकाधिक स्पष्टता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान एकरूप होने पर भी उपरति और समाधिनिष्ठा से अधिक पकता है। जिसकी सहजावस्था हो चुकी है वही पूर्णाहन्ता को प्राप्त यहाँ निर्दिष्ट है।

२. परमेश्वर प्रत्यक्ष का अविषय है, पर इस महात्मा को सभी जन प्रत्यक्ष देखते हैं। अतः उसे साक्षात् परमेश्वर कहा गया है।

३. परमेश्वर संसार दुःख से तारेगा इसी आशा से वह उपास्य है। ब्रह्मनिष्ठ साक्षात् तारने वाला है, अतः परमेश्वर ही है। संसार से तारण करना अधिकारी पुरुषों से ही संभव है। साधारण जीव मोक्ष को प्राप्त कर देह धारण में असमर्थ रहते हैं।

४. निरन्तर परमेश्वर में स्थित रहता हुआ उससे अभिन्न होने के कारण उसमें और परमेश्वर में भेद असंभव है। वस्तुतस्तु ये आधिकारिक पुरुष सर्वथा परमैश्वर्य को प्राप्त कर लेते हैं यह अन्तिम श्लोक के व्याख्यान में बताया जायगा।

—३९—

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके ।
प्रबन्धे मानसोल्लासे तृतीयोल्लाससंग्रहः ॥३९॥

इस प्रकार श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लास नामक प्रबन्ध का तृतीयोल्लास संक्षेप से समाप्त हुआ है।

॥ अथ चतुर्थोल्लास संग्रहः ॥

सर्व वेदान्तों का तात्पर्येण समन्वय जीवेश्वराभेद में प्रतिपादित किया। अग्रिम तीन श्लोकों से प्रत्यक्षादिप्रमाणों एवं वादियों की कल्पना से आने वाले विरोधों को दूर करके अविरोध वाले समन्वय को दृढ़ करते हैं।

पूर्वोल्लास में तृतीय वार्तिक के द्वारा जो पदार्थों की सत्ता और प्रतीति सदाशिवाधीन बताई थी उसका प्रत्यक्षानुभव और बाधाभाव से खण्डन की संभावना मान कर कहते हैं:—

स्वतःसन्तः प्रकाशन्ते भावा घटपटादयः।
नेश्वरस्य समावेशादित्यस्योत्तरमुच्यते ॥१॥

(पदच्छेदः)

स्वतः सन्तः प्रकाशन्ते भावाः घटपटादयः।
न ईश्वरस्य समावेशात् इति अस्य उत्तरम् उच्यते ॥१॥

(सान्वयार्थः)

घटपटादयः	=घड़ा, वस्त्र आदि	समावेशात्	=प्रवेश के कारण
भावाः	=पदार्थ	न	=नहीं
स्वतः	=स्वयं	इति	=इस प्रकार की
सन्तः	=सत्ता वाले हुये ही	अस्य	=इस (शंका) का
प्रकाशन्ते	=प्रतीत होते[1] हैं,	उत्तरम्	=जवाब
ईश्वरस्य	=परमेश्वर के	उच्यते	=कहा जाता[2] है।

व्याख्या

१. घडा है, घडा प्रतीत होता है इत्यादि अनुभवों का बाध नहीं है और अदृष्ट अननुभूत कल्पित महेश्वर का उसमें संयोग मानने में प्रमाण नहीं है, अतः पदार्थों की सत्ता और स्फुरत्ता स्वतः है, परतः नहीं।

२. 'चतुर्थोल्लास में' यह शेष समझना चाहिये।

नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिःस्पन्दते ॥
जानामीति तमेवभान्तमनुभात्येतत्समस्तञ्जगत्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥४॥

(पदच्छेदः)

नाना-च्छिद्र-घटोदर-स्थित-महादीप-प्रभा-भास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुः आदि करणद्वारा बहिः स्पन्दते
जानामि इति तमेव भान्तं अनु भाति एतत् समस्तं जगत् तस्मै०

(सान्वयार्थः)

नाना-च्छिद्र-घटोदरस्थित-महादीप प्रभा-भास्वरं	=	अनेक छेद वाले घड़े में रखे हुए बड़े दीपक की रोशनी की तरह तमोनाशक	तम् एव	=	जिसके ही
			भान्तम्	=	प्रकाशमान होने के
			अनु	=	पीछे (फल-स्वरूप)
यस्य ज्ञानं	=	जिसका ज्ञान	एतत्	=	यह
चक्षुः आदि करण-द्वारा	=	आँख कान आदि इन्द्रियों के छेदों के द्वारा	समस्तं	=	सारा
			जगत्	=	संसार
			भाति	=	प्रकाशित होता है
बहिः	=	बाहिर (विषय प्रदेश में)	इति	=	ऐसा
			जानामि	=	मैं जानता हूँ
स्पन्दते	=	जाता है	तस्मै०	=	उस···भगवान को नमस्कार है
तु	=	एवं			

व्याख्या

[भ्रांति से लोग घटपटादि का ज्ञान बाहिर से आता है ऐसा मानते हैं। पर वस्तुतः जडपदार्थ चैतन्य में कैसे प्रविष्ट हो सकता

है ? जड चेतन का संबन्ध किसी भी युक्ति से संभव नहीं है । अतः विज्ञानवादी केवल संवित् (ज्ञान) ही उभयरूप से प्रतीत होता है ऐसा मानते हैं । ऐसा मानने पर तो स्वप्न एवं मनोराज्य और जाग्रत् में कोई भेद ही नहीं रह जायगा । अतः वेदान्त ने दोनों का मिथ्या संवन्ध स्वीकार किया है । एवं जडपदार्थ मनमें चैतन्य के प्रतिबिम्ब से प्रकाशित हो चैतन्यवत् भान होने की शक्ति स्वीकार की है । इस मनका जड होने के कारण घटपटादि जडपदार्थ से संबन्ध भी बन जाता है एवं घटादि आकार मनमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से ज्ञान भी हो जाता है । न तो बिम्ब-चैतन्य में कोई विकार आता है और न जाग्रत् और स्वप्न का भेद मिटता है । प्रतिबिम्ब का मिथ्यात्व तो सिद्ध है ही । अतः प्रतिबिम्बित चैतन्य ही इंद्रियों से संवन्धित प्रतीत होता है और विषय देश में जाता है ।]

अस्यायम्भावः इसका यह भाव है:—

—२—

अहमित्यनुसन्धाता जानामीति न चेत्स्फुरेत् ।
कस्य को वा प्रकाशेत जगच्चस्यात्सुषुप्तवत् ॥२॥

(पदच्छेदः)

अहम् इति अनुसन्धाता जानामि इति न चेत् स्फुरेत् ।
कस्य कः वा प्रकाशेत जगत् च स्यात् सुषुप्तवत् ॥२॥

(सान्वयार्थः)

जानामि	=जानता[1] हूँ	कः	=क्या
इति	=इस प्रकार	वा	=या
अनुसन्धाता	=अनुसन्धान[2] करने वाला	कस्य	=किसका
अहम्	=मैं[3]	प्रकाशेत	=प्रकाश करे
इति	=इस का	च	=और
चेत्	=यदि	जगत्	=विश्व
न स्फुरेत्	=स्फुरण न[4] हो तो	सुषुप्तवत्	=गहरी नींद की तरह
		स्यात्	=हो जायगा ।

व्याख्या

१. श्लोक के तृतीयपाद का भाव प्रथम निरूपण करते हैं। परमेश्वर के संयोग के बिना पदार्थों की सत्ता और प्रतीति स्वीकार करने में वाधक प्रमाण निरूपणार्थ सदाशिव की स्वप्रकाशरूपता और सद्रूपता को प्रथम सिद्ध करते हैं।

२. अनु = पश्चात्। सन्धान = जोड़ना। अनुभव क्षण से अधिक रहता नहीं। इन अनुभवों को जोड़ने वाला यदि न हो तो किसी भी अनुभव का किसी दूसरे से सम्बन्ध न हो सकेगा। सारे अनुभवों का मूलभूत यही है क्योंकि वह सारे अनुभवों में अनुस्यूत है। पदार्थ, क्रिया, सभी परिवर्तित होते रहते हैं पर अनुसन्धाता अपरिवर्तित ही रहता है। जहाँ अनुभव हैं वहाँ अनुसन्धाता अवश्य है और जहाँ अनुसन्धाता है वहाँ अनुभव अवश्य हैं इस प्रकार की समव्याप्ति दोनों का ऐक्य प्रदर्शन करती है।

३. यह एक विचित्र पर सत्य तथ्य है कि मैं शब्द का बहुवचन होता ही नहीं है। जिस प्रकार वह और वह और वह मिलकर 'वे' तू और तू और तू मिलकर 'तुम लोग'; उस प्रकार मैं और मैं और मैं मिलकर 'हम लोग' नहीं होते वरन् मैं और तू और वह मिलकर 'हम लोग' होते हैं। मैं का बहुवचन संभव नहीं क्योंकि मैं एक ही है। मैं सभी का अपना नाम है अतः सभी में मैं रूप से ईश्वर ही निवास करता है यह स्पष्ट है। इस मैं से समन्वित ही सारे अनुभव होते हैं। इसके बिना पदार्थों की प्रतीति असंभव है।

४. पदार्थ यदि स्वतः प्रकाश हों तो विषयों के अनुसन्धाता की 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार ज्ञान के आश्रय रूप से प्रतीति न हो। अनुसंधाता के अभाव में शिलाओं से ढँके हुये गुहा में स्थित प्रदीप की तरह पदार्थ मेरे द्वारा ज्ञात है इस प्रकार से किसी को भान न होता। तब तो गाढ़ निद्रा में जगत के भानाभाव की तरह व्यवहार लुप्त हो जाता। अतः व्यवहार सिद्धि के लिये जगत को अन्याधीन प्रतीति वाला स्वीकार करना ही पड़ेगा। जिसके अधीन

इसका स्फुरण है, उसे तो अनवस्था आदि दोषों से बचने के लिये नित्यप्रकाशरूप मानना ही पड़ता है।

—३—

विषयों में ज्ञान की तरह सत्ता भी पराधीन है :—

प्रागूर्ध्वं चासतांसत्त्वं वर्तमानेऽपि न स्वतः ।
तस्मादीशे स्थितं सत्त्वं प्रागूर्ध्वत्वविवर्जिते ।।३।।

(पदच्छेदः)

प्राक् ऊर्ध्वम् च असताम् सत्वम् वर्तमाने अपि न स्वतः ।
तस्मात् ईशे स्थितम् सत्त्वम् प्रागूर्ध्वत्वविवर्जिते ।।३।।

(सान्वयार्थः)

प्राक्	=पहले[1] (भूतकाल में)	सत्त्वम्	=सत्ता
च	=और	न	=नहीं है।
ऊर्ध्वम्	=आगे (भविष्य काल में)	तस्मात्	=इसलिये
असताम्	={नहीं रहने वालों की (सत्ता से हीनों की)	प्रागूर्ध्वत्वविवर्जिते	={भूतभविष्य-काल कल्पना से अस्पृष्ट[3]
वर्तमाने	={रहते हुए (वर्तमान क़ाल में)	ईशे	=महेश्वर में
अपि	=भी	सत्त्वम्	=सत्ता[4]
स्वतः	=अपने[2] से	स्थितम्	=रहती है।

व्याख्या

१. सभी पदार्थ प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव वाले हैं। अर्थात् उत्पत्ति और नाश वाले हैं। यह पदार्थों में सत्ताभाव को सिद्ध करता है क्योंकि जो जिसका नैमित्तक नहीं वरन् स्वतः स्वरूप होता है, वह सर्वदा रहता है जैसे आम में आम्रत्व। जो कादाचित्क होता है वह किसी अन्य निमित्त से होता है। पदार्थों में सत्ता कभी-कभी होने से पराधीन है। यहाँ यह अनुमान भी है—भावाः, न स्वतस्सत्तावन्तः, कदाचिदेवोपलभ्यमानत्वात्, शुक्तिरजतवत् ।

२. स्वतः सत्ता वाले होते तो आत्मा की तरह स्वयं प्रकाश भी होते और तब तो वे आत्मा के विषय न होने से विषय ही नहीं रह

जायँगे। अनुभव से उनकी चेतन विषयता स्पष्ट है। अतः अनुभवानुरोधी उनमें परप्रकाशता माननी पड़ती है।

३. परमेश्वर में काल कल्पना का अभाव होने से ही उसे कालकाल महाकाल कहा जाता है। उसी से सब की उत्पत्ति होने से वह पदार्थों के आगम की अवधि है, एवं उसी में लीन होने से वही अपायावधि भी है। सर्व पदार्थों के आगमापायावधिरूप से उसकी सदा सत्ता है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का वह अप्रतियोगी है। प्रत्यगात्मरूप से वही सभी अवस्थाओं का साक्षी होने से सदा प्रकाश रूप भी है। न कभी ऐसा समय था और न होगा जब सदाशिव न रहें और प्रकाशित न हों। अतः महेश्वर की सत्ता और ज्ञान नित्य हैं।

वस्तुतः आत्मा के प्रागभाव मानने वाले वादी से पूछना चाहिये कि वह आत्माभाव ज्ञात था या नहीं ? ज्ञात हुआ तो ज्ञानाश्रय रूप से आत्मा भी था और अज्ञात तो कभी प्रमाण होता नहीं। इसी न्याय से आत्मा का प्रध्वंसाभाव भी सिद्ध नहीं होता। इसीलिये श्रुति भगवती 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ०उ०-४.३.२३) की घोषणा करती है।

४. महेश्वर में ही सत्ता स्वतः है पराधीन नहीं।

—४—

विषयत्व सिद्धि के लिये उनकी ईश्वराधीन सत्ता व प्रतीति को स्वीकार किया गया। ज्ञानों में भेद की सिद्धि के लिये भी परतः प्रकाशता माननी चाहिये इस को अब बताते हैं:—

स्वयमेव प्रकाशेरन् जडा यदि विनेश्वरम् ।
सर्वं सर्वस्य भासेत नावभासेत किञ्चन ॥४॥

(पदच्छेदः)

स्वयम् एव प्रकाशेरन् जडाः यदि विना ईश्वरम् ।
सर्वम् सर्वस्य भासेत न अवभासेत* किञ्चन ॥४॥

(सान्वयार्थः)

यदि	=अगर
जडाः	=अचेतन पदार्थ
ईश्वरम्	=ईश्वर के
विना	=बिना[1]
स्वयम्	=अपने आप
एव	=ही
प्रकाशेरन्	=प्रकाशित हों
(तर्हि	=तो)
सर्वस्य	=सब लोगों को
सर्वम्	=सभी पदार्थ[2]
भासेत	=प्रतीत होवें
(वा	=या)
किञ्चन	=कुछ भी[3]
न अवभासेत	=प्रतीत न हो।

व्याख्या

१. स्वतः सिद्ध प्रकाशता का अर्थ है अपने से भिन्न ज्ञाता की अपेक्षा न रखकर प्रतीति। यह केवल चेतन में ही है। विषय तो चेतन की उपस्थिति में ज्ञात होते हैं अन्यथा अज्ञात ही रहते हैं। चेतन स्वयं अपने. आप को सर्वदा जानता है। मैं चेतन हूँ अर्थात् मैं स्वयं अपने आपको जानता हूँ एवं मेरे सन्निहित विषयों को भी जानने की सामर्थ्य रखता हूँ। यदि कोई प्रश्न करे 'मैं हूँ या नहीं ?' अथवा 'मैं चेतन हूँ या नहीं ?' तो प्रश्नकर्त्ता को विदूषक समझा जायगा क्योंकि प्रश्नकर्त्ता का प्रश्न ही दोनों प्रश्नों का उत्तर दे रहा है। बिना हुये और बिना जाने प्रश्न कैसे करोगे। पर 'घट है या नहीं' प्रश्न सार्थक है क्योंकि किसी ज्ञाता के अधीन ही घट की सिद्धि संभव है।

दूसरी बात है चेतन कभी विषय नहीं बनता अर्थात् जाना नहीं जाता। दूसरे की चेतनता नित्यानुमेय है। चेतन का साक्षात्कार सर्वदा मैं से अभिन्न होकर ही होता है। जैसे प्रदीप सर्वथा दूसरे प्रकाश से प्रकाशित नहीं हो सकता। अत्यन्त तेजस्वी सूर्य के मध्य में स्थित भी प्रदीप में अधिक प्रकाश नहीं आ सकता। प्रदीप तो अपने प्रकाश से ही प्रकाशित होगा। ठीक इसी प्रकार चेतन कभी भी विषय नहीं हो सकता। अतः जो विषय है वह चेतन नहीं हो सकता यह भी सिद्ध हो गया।

२. यदि विषयों में स्वतः प्रकाशता होती तो स्वतः ही वे सब समय सबके ज्ञान का विषय बने रहते। जैसे सूर्य स्वतः प्रकाश है तो सर्वदा ही प्रकाशित है। अनुभव का विरोध अगले श्लोक में निरूपित करेंगे।

३. स्वतः प्रकाश होने पर भी चैतन्य जैसे विषय नहीं बनता वैसा ही पदार्थों का भी स्वभाव यदि स्वीकार कर लिया जाय तो फिर वे कभी भी किसी के ज्ञान का विषय न बन सकते।

*न वा भासेत इति पाठभेदः।

—५–६—

इस प्रकार के विकल्पों में अनुभव का विरोध है :—

तस्मात्सर्वज्ञमज्ञं वा जगत्स्यादेकरूपकम्।
तुल्ये स्वयंप्रकाशत्वे जडचेतनयोर्मिथः ॥५॥
तुल्यमेव प्रसज्येरन् ग्राह्यग्राहकतादयः।
इन्द्रियाणामनियमाच्चाक्षुषाः स्यू रसादयः ॥६॥

(पदच्छेदः)

तस्मात् सर्वज्ञम् अज्ञम् वा जगत् स्यात् एकरूपकम्।
तुल्ये स्वयम् प्रकाशत्वे जडचेतनयोः मिथः ॥५॥
तुल्यम् एव प्रसज्येरन् ग्राह्यग्राहकतादयः।
इन्द्रियाणाम् अनियमात् चाक्षुषाः स्युः रसादयः ॥६॥

(सान्वयार्थः)

तस्मात् =उससे[1] (विषयों के स्वतः प्रकाश से)
जगत् =सारा संसार
सर्वज्ञम् =सब जानने वाला
वा =या
अज्ञम् =कुछ भी न जानने वाला
एकरूपकम् =एक प्रकार का
स्यात् =होता।
स्वयम् =खुद[2]
प्रकाशत्वे =प्रकाशरूपता के
तुल्ये =एक जैसा होने से
जडचेतनयोः =जड और चेतन का
मिथः =आपसी

ग्राह्यग्राहकतादयः	=ज्ञाता और ज्ञेय आदि	अनियमात्	=नियम[4] के अभाव से
तुल्यम्	=एक जैसे	रसादयः	=स्वाद आदि
एव	=ही	चाक्षुषाः	=आँख से भी जाने
प्रसज्येरन्	=प्रसक्त होते ।	स्युः	=जा सकते[5]।
इन्द्रियाणाम्	=ज्ञान के साधनों[3] में		

व्याख्या

१. पूर्वश्लोकोक्त विकल्पों से सभी की सर्वज्ञता या अज्ञता सिद्ध होती है परन्तु अनुभव है कि कोई भी जीव न सर्वज्ञ है न अज्ञ बल्कि अल्पज्ञ है। सभी के ज्ञानों की मात्रा भिन्न है। देवता, ऋषि आदि सर्वज्ञकल्प हैं तो वृक्ष आदि अज्ञकल्प हैं और सारे जीव इनके मध्य में स्थित हैं।

पूर्ववादी ने अनुभवानुरोध से विषयों में सत्ता स्फुरत्ता मानी थी। भगवान सुरेश्वराचार्यों ने अनुभवानुरोध से ही उनमें परतः सत्ता स्फुरत्ता सिद्ध कर दी। विज्ञपाठक देखेंगे कि इन विचारों में श्रुति प्रमाण का आश्रय नहीं लिया गया है। भगवान सुरेश्वराचार्यों की प्रायः यही शैली है कि युक्ति से श्रौत सिद्धान्त का समर्थन करके औपनिषद दर्शन को दृढ़ भित्ति पर खड़ा कर देते हैं।

२. स्वप्रकाशता में दूसरा दोष देते हैं कि इससे जड़चेतन का अनुभवसिद्ध भेद व्यवहार भी न रहेगा। ज्ञान का विषय ही आश्रय भी होगा इस प्रकार कर्म और कर्त्ता की एकता रूपी दोष प्राप्त होगा। विषय भी विषयी को जानेगा अतः विषय विषयी की अनुपपत्ति हो जायगी।

यद्यपि यह सत्य है कि अद्वैतदर्शन भी जड़चेतन भेद को अवास्तविक मानता है परन्तु वहाँ औपाधिक भेद से व्यवहार की व्यवस्था हो जाती है। तमोगुणकार्य उपाधि वाला चेतन ज्ञेय और सत्त्वगुण के कार्य की उपाधि वाला चेतन ज्ञाता होता है। इस प्रकार की व्यवस्था वादी के यहाँ असंभव है। हमारी व्यवस्था का दृष्टान्त तो

स्वप्न में मिल ही जाता है। वहाँ जड़ और चेतन दोनों की भेद व्यवस्था औपाधिक ही है।

३. जब पदार्थ स्वयं प्रकाश हैं तो ज्ञान के साधन इन्द्रियाँ अनावश्यक होंगी। जैसे सूर्य के प्रकाशित करने के लिये दीपादिसाधनों योजन नहीं होता।

४. सभी सबके विषय हों तो चक्षुरिन्द्रिय रूप को ही नहीं स्वाद को भी विषय करेगी। एवं रसनेन्द्रिय रूप को भी विषय करेगी।

५. पदार्थों को स्वप्रकाश मानने पर विषय विषयी व्यवहार, ज्ञान के तारतम्य का व्यवहार, विषयत्वव्यवहार, साधनसापेक्षत्व व्यवहार, इन्द्रियों का सर्व विषयव्यापाराभाव व्यवहार आदि अबाधित व्यवहार अव्यवस्थित हो जावेंगे। विषयों में स्वतः सत्ता मानने पर उत्पत्ति-नाश व्यवहार का लोप हो जायगा। अतः व्यवहारसिद्धि के लिये विषयों को महेश के सत्ता और प्रकाश से सत्तावान् और प्रकाशवान् स्वीकार करना होगा।

—७—८ क—

परमेश्वर पदार्थों को सत्ता देने का व्यापार करता है या नहीं? यदि नहीं करता तो आकाश की तरह सन्निधि अकिंचित्कर है। यदि करता है तो विकारी होने से विनाशी होगा और विनाशी महेश्वर हो नहीं सकता। अतः महेश के सत्ता और ज्ञान से विषयों को सत्ता और ज्ञान वाले मानने पर उसकी ईश्वरता ही न रहेगी। ऐसे वादी को महेश की ज्ञातृत्व और कर्त्तृत्व शक्ति की औपाधिकता का प्रतिपादन कर स्वरूपतः उसकी निर्व्यापारता का निर्देश करते हैं:—

मलिनामलिनादर्शपश्चात्प्राग्भागतुल्ययोः।
क्रियाशक्तिज्ञानशक्त्यो रन्तःकरणभागयोः ॥७॥
प्रतिबिम्बे स्फुरन्नीशःकर्त्ता ज्ञातेतिकथ्यते ॥८ क॥

(पदच्छेदः)

मलिनामलिनादर्शपश्चात्प्राग्भागतुल्ययोः।
क्रियाशक्तिज्ञानशक्त्योः अन्तःकरणभागयोः ॥७॥
प्रतिबिम्बे स्फुरन् ईशः कर्ता ज्ञाता इति कथ्यते ॥८ क॥

(सान्वयार्थः)

अन्तःकरणभागयोः	= अन्तः करण के भाग	क्रियाशक्ति-ज्ञानशक्त्योः	= क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति में पड़े हुये
मलिनामलिना-दर्श-पश्चात्प्रा-ग्भागतुल्ययोः[१]	= शीशे के आगे और पीछे वाले[२] साफ और मैले भागों की तरह	प्रतिबिम्बे	= प्रतिबिम्ब में
		स्फुरन्	= प्रतीत होता हुआ[३]
		ईशः	= सदाशिव
		कर्ता	= कर्ता[४] (और)
		ज्ञाता	= ज्ञाता[५]
		इति	= इस प्रकार से
		कथ्यते	= कहा जाता है।

व्याख्या

१. मलिनश्चामलिनश्च मलिनामलिनौ। आदर्शस्य पश्चात्प्राग्भागौ च मलिनामलिनौ च तत्तुल्ययोरिति विग्रहः। सप्तमीद्विवचनान्तम्पदम्।

२. शीशे का पिछला भाग रंगा होने से मलिन है और अति-स्पष्ट रूप में प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। अगला भाग साफ है और प्रतिबिम्ब को स्पष्ट ग्रहण करता है। परन्तु दोनों भाग मिलकर ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। दोनों को अलग करना असंभव है। इसी प्रकार अन्तःकरण में मलिनता (सांख्यदृष्ट्या रजोगुण) वाला भाग प्राणशक्ति है और साफ भाग (सांख्यदृष्टया सत्त्वगुण) ज्ञान शक्ति है। बुद्धि रूपी ज्ञान शक्ति में चेतन का स्पष्ट भान है, प्राणशक्ति में वैसी स्पष्टता नहीं होने पर भी दोनों साथ ही हैं। ज्ञान और क्रिया अलग नहीं की जा सकती यह द्वितीयोल्लास में प्रतिपादित कर आये हैं।

यहाँ अन्तःकरण शुद्ध वेदान्त का पारिभाषिक शब्द है। प्रायः परवर्ती प्रकरण ग्रन्थों में सेश्वरसांख्य के अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग होने के कारण प्राण से इसे सर्वथा भिन्न समझा गया है। वस्तु-तस्तु कार्योपाधि में कार्य से बुद्धि और प्राण दोनों का संग्रह होता हुआ ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियों का भी संग्रह होता है। नव्य वेदान्ती क्रिया से डरते हुये प्रतीत होते हैं। पर यहाँ भी और आगे भी भग-

वान सुरेश्वराचार्य अत्यन्त स्पष्ट रूप से वेदान्त के शुद्ध रूप का प्रतिपादन करते हैं जैसा अन्यत्र दुर्लभ है। ज्ञान और क्रिया दोनों ही समानशक्तियाँ हैं।

३. शक्तिद्वय विशिष्ट रूप से प्रतीति ही प्रतिबिम्बित होना है। दर्पणोपाधि विशिष्ट सूर्य की प्रतीति ही सूर्य का प्रतिबिम्ब कहा जाता है। केवल विशिष्ट कहने से संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों की प्राप्ति हो जाती, अतः अनिर्वचनीय सम्बन्ध प्रतिपादनार्थ प्रतिबिम्ब कहा गया। प्रतिबिम्ब से अभिन्न रूप से प्रतीत होता हुआ परमात्मा कहा गया क्योंकि वस्तुतस्तु उपाधि में उसकी प्रतीति मात्र है।

४. व्यापारवत्प्राणोपाधिः सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनानुगम्यमानः सदाशिवः कर्त्ता। ईश्वर प्राणरूप क्रियाशक्ति से अपने आप को अनेक प्रकार के व्यापारों में व्यक्त करता है। ईश्वर का प्राणशक्ति को सत्तास्फूर्ति देना ही उसका कर्तृत्व है।

५. परिणममानबुद्ध्याद्युपाधिः सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनानुगम्यमानः सदाशिवः ज्ञाता। ईश्वर बुद्धिरूप ज्ञानशक्ति से अपने आपको स्वयं प्रकाश ज्ञाता रूप से अनेक प्रकार के ज्ञानों में व्यक्त करता है। ज्ञानशक्ति को स्वकीय सत्तास्फूर्ति प्रदान करना ही सदाशिव का ज्ञाता बन जाना है।

—८-९—

बुद्धि रूपी ज्ञानशक्ति से आत्मा के ज्ञाता बनने का प्रकार बताते हैं—

बुद्धिस्सत्त्वगुणोत्कर्षान्निर्मलो दर्पणो यथा ॥८॥
गृह्णाति विषयच्छायामात्मच्छायानुभावतः।
अन्तःकरणसम्बन्धान्निखिलानीन्द्रियाण्यपि ॥९॥

(पदच्छेदः)

बुद्धिः सत्त्वगुणोत्कर्षात् निर्मलः दर्पणः यथा ॥८॥
गृह्णाति विषयच्छायाम् आत्मच्छायानुभावतः।
अन्तःकरणसम्बन्धात् निखिलानि इन्द्रियाणि अपि ॥९॥

(सान्वयार्थः)

यथा =जैसे
निर्मलः =साफ
दर्पणः =काँच
सत्त्वगुणोत्कर्षात् =सत्त्वगुण की अधिकता से
विषयच्छायाम् =विषय के प्रतिबिम्ब को
गृह्णाति =ग्रहण करता है,
(तथा =वैसे)
बुद्धिः =बुद्धि
आत्मच्छायानुभावतः =आत्मा[1] के प्रतिबिम्ब पड़ने के पश्चात्, आत्मयुक्त हो जाने के कारण
(विषयच्छायाम् =विषय के प्रतिविम्ब को)
(गृह्णाति =ग्रहण करती है)
च =और
अन्तःकरणसम्बन्धात् =अन्तःकरण के सम्बन्ध से
निखिलानि =सारी
इन्द्रियाणि =इन्द्रियाँ[2]
अपि =भी
(विषयच्छायाम् =विषय प्रतिविम्ब को)
(गृह्णाति =ग्रहण करती हैं।)

व्याख्या

१. दर्पण में मिट्टी की अपेक्षा सत्त्वगुण की उत्कर्षता है उसी प्रकार बुद्धि में आत्मच्छाया का आना ही उत्कर्ष है। बुद्धि में आत्मा के प्रतिविम्बित होने पर ही उसमें विषय ग्रहण करने की सामर्थ्य आती है।

विषय का प्रतिविम्ब बुद्धि में पड़ता है, जहाँ आत्मा का प्रतिविम्ब पहले ही है। अतः बुद्धि में दोनों प्रतिविम्ब पड़ते हैं। यह आत्मा और विषय का सम्बन्ध हो जाना ही ज्ञान है। आत्मा ही जानता है। पर आत्मा साक्षात् विषय को नहीं जान सकता क्योंकि सत्ता भिन्न है। आत्मा की दृष्टि में विषयों का अत्यन्ताभाव है जैसे रज्जुदृष्टि

में सर्प का अत्यन्ताभाव है । विषय जड़ होने से आत्मचैतन्य से अत्यन्त भिन्न हैं अतः दोनों में सम्बन्ध असंभव है। आत्मप्रतिबिम्ब और विषयप्रतिबिम्ब दोनों अनिर्वचनीय होने से समसत्ता वाले हैं और बुद्धिस्थ होने से समानाधिकरण रूप सम्बन्ध वाले भी हैं । अतः बुद्धिस्थ आत्मा ही ज्ञाता है और बुद्धिस्थ पदार्थ ही ज्ञेय है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित होना ही ज्ञान है।

यह स्मर्तव्य है कि सांख्य प्रक्रिया में बुद्धि विषयस्थल में जाकर विषयाकार बनती है । यहाँ विषय ही बुद्धि में आते हैं। आधुनिक विज्ञान इस वेदान्त प्रक्रिया का ही समर्थक है । आश्चर्य है कि परवर्ती काल में सांख्य प्रक्रिया का अधिक प्रचार रहा। आगे जो नाडियों और इन्द्रियों का वर्णन है वह आधुनिक विज्ञान से भी पुष्ट होता है। विषय स्थल में अन्तःकरण गमन का मानना ज्योतिर्विज्ञान के सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत पड़ता है । ऐसी नीहारिकाएँ हैं जहाँ से प्रकाश करोड़ों वर्ष पूर्व चल चुका है, ऐसी ध्वनियाँ हैं जो लाखों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुई हैं परन्तु उनका आश्रय नष्ट होने पर भी वे सुनी और देखी जाती हैं। यहाँ अन्तःकरण का गमन किस देश में स्वीकार करेंगे? आश्रय में जाना हो तो अन्तःकरण का गमन भी करोड़ों वर्ष पूर्व स्वीकार करना होगा। अतः वेदान्त का सिद्धान्त कि उन ही विषयों की छाया (विषय नहीं) बुद्धि में पड़ती है समीचीन है।

किंच एक ही घट को दस आदमी देख रहे हों तो उनके अन्तःकरण एक दूसरे पर आवेंगे। सबसे नीचे वाला विषय को ग्रहण करेगा बाकी सभी व्यवहित होंगे। यह भी अनुभव विरुद्ध है। सामान्यरूप से मुनियों ने पुराणों और स्मृतियों में सांख्य प्रक्रिया स्वीकार की है, और सरलता की दृष्टि से मान्य भी है पर वेदान्त प्रक्रिया की श्रेष्ठता निर्विवाद है।

बुद्धि में सत्त्वगुण की अधिकता से ही यदि विषय ग्रहण की सामर्थ्य मानें तो बुद्धि स्वतः ज्ञाता हो जायगी । अतः आत्मखचितता ही उसकी सामर्थ्य का कारण माना गया ।

२. विषय ज्ञान में इन्द्रियों की कारणता स्वीकार कर लेने से ही काम चल सकता है फिर बुद्धि को क्यों स्वीकार किया जाय ऐसी शंका होने की संभावना से वे भी बुद्धि से युक्त होकर ही विषय ग्रहण में समर्थ होती हैं ऐसा वैदिक सिद्धान्त बताते हैं। जब आत्मदेव की ज्ञानशक्ति से इन्द्रियाँ युक्त नहीं होती हैं तब वे विषय ज्ञान नहीं कर पाती हैं। खुली आँखों से भी मनुष्य नहीं देखता और कहता है 'मेरा मन और कहीं था'। अतः जीव वस्तुतः इन्द्रियों के पराधीन नहीं है, इन्द्रियां ही जीवाधीन हैं। स्वभावतः बहिर्मुखता में प्रवृत्त इन्द्रियों की प्रवर्तक बुद्धि है, स्वयं विषय नहीं, यह स्पष्ट ही है। प्रतीति, अप्रतीति या भ्रान्त प्रतीति में अन्तःकरण की तात्कालिक स्थिति ही कारण है क्योंकि इन्द्रियों की गति को सीमित और नियमित वही करती है। बुद्धि में ही लोभ, प्रमाद, क्रोध, आदि के उदय से पदार्थधी दूषित हो जाती है।

—१०—

अन्तःकरण और इन्द्रियों का सम्बन्ध एवं जीवभावप्राप्त ईश्वर की अवस्थात्रय निरूपण करने के लिये अनुभवसंचारस्थान नाड़ियों का निरूपण करते हैं:—

रथाङ्गनेमिवलये कीलिता इव कीलकाः।
नाड्योऽन्तःकरणे स्यूता जालसंस्यूतसूत्रवत् ॥१०॥

(पदच्छेदः)

रथाङ्गनेमिवलये कीलिताः इव कीलकाः।
नाड्यः अन्तःकरणे स्यूताः जालसंस्यूतसूत्रवत् ॥१०॥

(सान्वयार्थः)

अन्तःकरणे	=अन्तःकरण में	कीलिताः	=जुड़ी हुई हैं[1]। (एवं)
नाड्यः[1]	=नाडियाँ	जालसंस्यूतसूत्रवत्	=जाल में ओत-प्रोत सूत की तरह
रथाङ्गनेमिवलये	=रथचक्र के नेमि चक्र में		
कीलकाः	=अरों[2]		
इव	=की तरह	स्यूताः	=गुंथी हुई हैं।

व्याख्या

१. देहान्तरालगताः सिराः अन्तस्सुषिराः स्नाय्वाख्या नाड्यः।

२. जैसे अरे रथनाभि में समाप्त होते हैं वैसे ही सभी नाड़ियाँ अन्तःकरण में समाप्त होती हैं। वे अपने विषय को अन्तःकरण में समर्पित करती हैं। नेमि की तरह अन्तःकरण उनका नियामक है।

३. जैसे मछली को पकड़ने के लिये जाल में सूत एक दूसरे से गुँथे रहते हैं वैसे ही सारे विषयों को ग्रहण करने वाले ज्ञानक्रिया-शक्ति वाले अन्तःकरण रूपी लिंग शरीर में नाड़ियाँ स्यूत हैं।

अन्तःकरण में नाड़ियाँ हैं अतः सिद्ध हुआ कि ये स्थूल नाडियाँ नहीं है क्योंकि स्थूल नाडियाँ स्थूल देह में हैं। अन्तःकरण का विशेषाभिव्यक्ति स्थान मस्तिष्क है जो स्थूल नाडियों का भी प्रधान केन्द्र है। अतः सूक्ष्म नाडियों का स्थूल प्रतीक दृश्य नाडियाँ हैं। जैसे लिंग शरीर का प्रतीक स्थूल शरीर है। आगे वर्णित नाडियाँ सूक्ष्म हैं, इनके प्रतीक शरीर संस्थान में भी मिलते हैं पर वेदान्त वैद्यक की पुस्तक नहीं है। इससे ही स्थूल और सूक्ष्म जगत् का अतिदेश भी समझना चाहिये। सूक्ष्म कैलाश का प्रतीक उसी देशावच्छेदेन स्थूल कैलास है। इससे आधुनिकों का जो स्थूल सूक्ष्म भेद की अनभिज्ञता से देहान्तर्गत चक्रों के विरुद्ध और स्वर्गादि लोकों के विरुद्ध प्रलाप है वह निराकृत हो गया। एवं वायुयान से उन लोकों की गमन संभावना भी असिद्ध है। ऋषि तो सूक्ष्म देह से जाते थे एवं कहीं-कहीं स्थूलप्रतीक के गमन का वर्णन है। यह सब संदर्भ से समझना चाहिये।

—११—

नाडियों का उपयोग बताते हैं:—

ताभिस्तु गोलकान्ताभिः प्रसर्पन्ति स्फुलिङ्गवत्।
करणानि समस्तानि यथास्वं विषयं प्रति ॥११॥

(पदच्छेदः)

ताभिः तु गोलकान्ताभिः* प्रसर्पन्ति स्फुलिङ्गवत्।
करणानि समस्तानि यथास्वम् विषयम् प्रति ॥११॥

(सान्वयार्थः)

समस्तानि	=सारी	यथास्वम्	=अपने अपने
करणानि	=इन्द्रियाँ	विषयम्	=विषय की
गोलकान्ताभिः	=गोलक[1] पर्यन्त जाने वाली	प्रति	=तरफ
ताभिः	=उन (नाडियों) के द्वारा	स्फुलिंगवत्	=चिनगारी[2] की तरह
तु	=तो	प्रसर्पन्ति	=झपट कर सरकती हैं।

व्याख्या

१. इन्द्रिय की अभिव्यक्ति का स्थान अर्थात् शरीर के जिस स्थान में इन्द्रिय का निवास है गोलक कहा जाता है। जैसे दोनों आँखें चक्षुरिन्द्रिय के, दोनों कान श्रोत्रेन्द्रिय के, दोनों नासापुट घ्राणेन्द्रिय के गोलक हैं। सुषुप्ति से जागृत् में आने पर इन्द्रियाँ गोलकों तक पहुँचती हैं क्योंकि गोलक में ही विषय भी पहुँचता है। पाठान्तर में तो गोलकान्तानि करणानि का विशेषण है अतः स्पष्ट ही इन्द्रियों का गोलक पर्यन्त ही गमन निर्दिष्ट है। इस प्रकार विषयानुभूति के भौतिक दैहिक स्थलों तक इन्द्रियाँ पहुँच जाती हैं।

२. चिनगारी शब्द बड़ा सार्थक है। इससे प्रकाश की ध्वनि भी हो जाती है। जिस प्रकार चिनगारी कोयले या लकड़ी आदि के अति सूक्ष्म भाग में प्रविष्ट अग्नि ही है, उसी प्रकार अति सूक्ष्म नाड़ियों में स्थित इन्द्रियों में प्रकाशरूप परमेश्वर प्रविष्ट है। इसके द्वारा आधुनिक वैज्ञानिकों का नाड़ी संस्थान में अनुभूति का गमन विषयक सिद्धान्त भी ध्वनित हो गया। विद्युत् प्रवाह के द्वारा ही वे गमन स्वीकार करते हैं। प्रवाह में भी विद्युदणुओं में स्फुलिंगरूपता ही है। अन्तःकरण में पहुँचकर ही इन्द्रियाँ गतार्थ होती हैं।

आधुनिक विज्ञान अनुभूति के मस्तिष्क तक पहुँचने की क्रिया को तो सम्यग्रूप से बताता है पर मस्तिष्क स्थित रासायनिक या वैद्युत परिवर्तन चेतन से कैसे सम्बन्धित होकर ज्ञान रूपता को प्राप्त

करता है इस विषय में मौन है। वेदान्त दर्शन ही इसका उत्तर युक्ति और अनुभव के बल से देता है। रासायनिक परिवर्तन ही विषय की छाया है जो नाड़ी के द्वारा अन्तःकरण में पहुँचती है। वहाँ आत्मा की छाया से ज्ञान होता है। मस्तिष्क केन्द्र (optic lobes, otic lobes, etc.) को ही इन्द्रिय मान लिया जाय अथवा केन्द्र इन्द्रियों के स्थल में ही स्थूल अभिव्यक्ति रूप से स्वीकार कर लिया जाय दोनों का घनिष्ठ सम्वन्ध तो सिद्ध ही है। प्रथम पक्ष में देहान्तरगमनव्यवस्था कठिन है। अतः आधुनिक मत त्याज्य है।

* गोलकान्तानि इति पाठभेदः।

—१२—

नाड़ियों का वर्णन करते हैं:—

देहस्य मध्यमं स्थानं मूलाधार इतीर्यते।
गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तुद्व्यङ्गुलादधः ॥१२॥

(पदच्छेदः)

देहस्य मध्यमम् स्थानम् मूलाधारम् इति ईर्यते।
गुदात् तु द्व्यङ्गुलात् ऊर्ध्वम् मेढ्रात् तु द्व्यङ्गुलात् अधः ॥१२॥

(सान्वयार्थः)

गुदात्	=गुदा से (मलविसर्जन छिद्र)	द्व्यङ्गुलात्	=दो अंगुल
तु	=तो	अधः	=नीचे
द्व्यङ्गुलात्	=दो अंगुल	देहस्य	=शरीर के
ऊर्ध्वम्	=ऊपर	मध्यमम्	=बीच की
मेढ्रात्	=(और) शिश्नसे (मूत्रविसर्जक)	स्थानम्	=जगह
		मूलाधारम्	=मूलाधार
		इति	=नाम से
तु	=तो	ईर्यते	=कही जाती है।

—१३—

त्रिकोणोऽधोमुखाग्रश्च कन्यकायोनिसन्निभः।
यत्र कुण्डलिनी नाम पराशक्तिः प्रतिष्ठिता ॥१३॥

(पदच्छेदः)

त्रिकोणः अधः मुखाग्रः च कन्यकायोनिसन्निभः ।
यत्र कुण्डलिनी नाम पराशक्तिः प्रतिष्ठिता ।।१३।।

(सान्वयार्थः)

यत्र	=जहां पर (मूलाधार में)	कन्यका-योनि-सन्निभः	= कुमारी के गुह्याङ्ग के समान वर्ण और प्रकार वाली
अधः	=नीचे	कुण्डलिनी	=कुण्डलिनी[1]
मुखाग्रः	=मुंह किये हुये	नाम	=नाम की
त्रिकोणः	=तिकोन की तरह	परा	=परा
च	=और	शक्तिः	=शक्ति
		प्रतिष्ठिता	=स्थित रहती है।

व्याख्या

१. यहाँ से योग का वर्णन है, जो तंत्रों में विस्तार से बताया गया है। मूलाधार में ज्योतिःस्वरूप शिवलिंग को ३।। बार लपेटकर सर्पाकार कुण्डलिनी का वास है। यही पराशक्ति है। यह वस्तुतः शिव से अभिन्न है। इसको योगाभ्यास से सीधा करके सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार में ले जाने पर शिवशक्ति संयोग होता है।

—१४—१५—

प्राणाग्निबिन्दुनादानां सवित्री सा सरस्वती ।
मूलाधाराग्रकोणस्था सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्रगा ।।१४।।
मूलेऽर्द्धच्छिन्नवंशाभा षडाधारसमन्विता ।
तत्पार्श्वकोणयोर्जाते द्वे इडापिङ्गले स्थिते ।।१५।।

(पदच्छेदः)

प्राणाग्निबिन्दुनादानाम् सवित्री सा सरस्वती ।
मूलाधाराग्रकोणस्था सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्रगा ।।१४।।
मूले अर्द्धच्छिन्नवंशाभा षडाधारसमन्विता ।
तत्पार्श्वकोणयोः जाते द्वे इडापिंगले स्थिते ।।१५।।

(सान्वयार्थः)

सा	=वह (कुण्डलिनी शक्ति)
सरस्वती	=सरस्वती[1]
प्राणाग्निविन्दुनादानाम्	=प्राण,[2] अग्नि[3], विन्दु[4], और नाद[5] को
सवित्री	=पैदा करने वाली है।
मूलाधाराग्रकोणस्था	=मूलाधार के अधोमुख रूपी कोण में रहने वाली
ब्रह्मरन्ध्रगा	=सहस्रार पर्यन्त जाती हुई
मूले	=मूलाधार के सूक्ष्म रन्ध्र में
अर्द्धच्छिन्नवंशाभा	=आधे कटे बाँस की तरह
षडाधारसमन्विता	=छ चक्रों से युक्त[6]
सुषुम्ना	=सुषुम्ना नाडी है।
तत्पार्श्वकोणयोः	=उसके पास के दो कोनों से
जाते	=उत्पन्न
द्वे	=दो (नाड़ियाँ)
इडापिङ्गले	=इडा और पिंगला
स्थिते	=मौजूद हैं।

व्याख्या

१. कुण्डलिनी ही वर्णरूप से अभिव्यक्त होती हुई सरस्वती कही जाती है। आचार्य पादों ने कहा भी है 'मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङमध्यमाख्यः। वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्नाम्बद्धस्तस्माद्भवति पवनः प्रेरितो वर्णसञ्ज्ञः ॥' जाने हुये अर्थ को कहने की इच्छा से किये हुये प्रयत्न के द्वारा मूलाधार में रहने वाला वायु संस्कार को प्राप्त होकर सर्वत्र स्थित शब्द ब्रह्म को वहीं व्यक्त करता है। वही अभिव्यक्त शब्दब्रह्म निःस्पन्द रहता हुआ कारणबिन्दुरूप से परावाक् कहा जाता है।

वही पुनः नाभिपर्यन्त आता हुआ उस वायु के द्वारा विमर्श रूप से अभिव्यक्त, मन से युक्त, सामान्य स्पन्दप्रकाशरूपी कार्य बिन्दुतत्त्वरूप से अधिदैव ईश्वररूपा पश्यन्तीवाक् कहा जाता है। वही शब्दब्रह्म उसी वायु के द्वारा हृदय तक अभिव्यक्त निश्चयरूपा बुद्धि से युक्त विशेष स्पन्दरूप नादबिन्दुरूप से अधिदैव हिरण्यगर्भरूप मध्यमा वाक् कहा जाता है। वही पुनः उसी वायु के द्वारा मुखपर्यन्त कण्ठादि स्थानों में अभिव्यक्त अ सें क्ष पर्यन्त वर्णमाला रूप, दूसरे के सुनने के योग्य बीजरूप अधिदैव विराडरूप वैखरी वाक् है।

वैखरी स्थूल मातृका और मंत्र प्रथमाधिकारी के पूजा के उपकरण हैं। मध्यमा सूक्ष्म मातृका मध्यमाधिकारी के उपयोगी हैं। कारण-कार्यबिन्दुरूपिणी परा और पश्यन्ति उत्तमाधिकारी ही प्रयोग में ला सकता है। इस प्रकार सभी वर्णों का कारण कुण्डलिनी ही है।

२. प्राण भी मूलाधार में ही उत्पन्न होता है। 'ऽपि मूला-धारेस्मिन्समुद्यति समीरिणः।' यह प्राण ही सोम है।

३. अग्नि ही सूर्य है। वैश्वानर रूप से इसको भी कुण्डलिनी ही उत्पन्न करती है। सोमसूर्यात्मिक ही शरीर है। सोमसूर्य का शुक्रशोणितसे सम्बन्ध भी द्रष्टव्य है।

४. 'सातत्त्वसंज्ञा चिन्मात्र ज्योतिपः सन्निधेस्तदा। विचिकीर्पुर्घ-नीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्' इस प्रपंचसारोक्ति से ईश्वर का ईक्षण ही बिन्दु है। यह भी कुण्डलिनी से ही उत्पन्न है।

५. चिदचिन्मिश्रः सूक्ष्मोनादः।

६. 'गुदे मेढ्रे च नाभौ च हृदये कण्ठदेशके। घण्टिकालम्बिका-स्थाने भ्रूमध्ये परमेश्वरम्।' इत्यादि के अनुरोध से ६ चक्र बताये। वस्तुतस्तु मतान्तरों में बारह, सोलह और इससे भी बहुत अधिक बताये गये ह। 'आधारांश्च विदुस्तत्र मतभेदादनेकधा' (शारदातिलके ९०२) देह में जहाँ भी नाडीसंघ है वहाँ ही सूक्ष्मचक्रस्थिति अवश्य है। प्रत्येक संघ में कार्य भेद होने से अनुभूति केन्द्र का भी भेद अवश्यं-भावी है। पर आध्यात्मिक साधक के उपयोगी चक्रों का यह संग्रह है।

सुषुम्ना मूलाधार से इन चक्रों में से होती हुई सहस्रार तक जाती है। यह सर्वत्र समान एकरूप लम्बी और सीधी है एवं योगियों के प्रत्यक्ष का विषय है। 'एकान्ते योगिवृन्दैः प्रशमितकरणैः क्षुत्पिपासानिवृत्तैः सानन्दंध्यानयोगाद्बिसगुणसदृशी दृश्यते चित्तमध्ये।' से भगवान भाष्यकार ने स्वयं उसका निरूपण किया है। नीचे चक्र निरूपण हैं:—

१. मूलाधार	गुदा	चतुर्दल कमल	तप्तसुवर्णाभं	लं	वं शं षं सं	सावित्री ब्रह्मा सरस्वती गणेश	पृथ्वीजय
२. स्वाधिष्ठान	उपस्थ	छै दल कमल	माणिक्यप्रभं	वं	वं भं मं यं रं लं	लक्ष्मी विष्णु	जल जय
३. मणिपूर	नाभि	दश दल कमल	विद्युत्प्रभं	रं	अ इ उ ऋ लृ ए औ अं अः क	पार्वती शंकर	तेज जय
४. अनाहत	हृदय	द्वादश दल कमल	धूम्रवर्णं	यं	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ	उमा महेश्वर	वायु जय
५. विशुद्ध	कण्ठ	षोडशदल कमल	श्वेतवर्णं	अं	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः	अर्द्धनारीश्वर	आकाश जय
६. आज्ञा	भ्रूमध्य	द्विदल कमल	मुक्तावर्णं	हं	हं लं	अविद्या जीव	मनो जय

इन चक्रों का सम्बन्ध धारणाध्यान और समाधि से है एवं इसका पूर्ण रहस्य गुरुगम्य ही है। आधुनिक पुस्तकज्ञानी और उस प्रकार के ग्रन्थों में प्रायः साधनांश छोड़ देते हैं। पर यहाँ भगवान वार्तिककार आगे भी इस विषय पर जोर देंगे। साधक को यह कर्तव्य है।

७. शिवदेवता वाली सुषुम्ना के बाद विष्णुदेवता वाली इडा, और ब्रह्मा देवता वाली पिङ्गला का वर्णन करते हैं। मूलाधार के त्रिकोण के दाएँ से पिङ्गला और बाएँ से इडा का निर्गमन है। वाम और दक्षिणमुष्क से क्रमशः निकलकर धनुराकार से दोनों ललाटमूल तक जाती हैं। इडा शंख और पिङ्गला गुलाबी रंग की हैं और इनमें चन्द्र और सूर्य का संचार है। कठिन काम के लिये पिङ्गला और सरल के लिये इडा का प्रयोग उत्तम है। कहा भी है 'इडायां सञ्चरेच्चन्द्रः पिङ्गलायान्दिवाकरः। इडा च शंखकुन्दाभा तस्याः सव्ये व्यवस्थिता ।। पिङ्गला सितरक्ताभा दक्षिणम्पार्श्वमाश्रिता। या वाममुष्कसम्बद्धा सा श्लिष्यन्ती सुषुम्णया ।। दक्षिणं वृक्कमाश्रित्य धनुर्वक्रा हृदिस्थिता। वामांशजत्र्वन्तरगा दक्षिणान्नासिकामियात् ।।' इति।

—१६—१८—

अब अन्य प्रधान नाडियों का वर्णन करने का उपक्रम करते हैं:—

नाडीचक्रमिति प्राहुस्तस्मान्नाड्यः समुद्गताः।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च नयनान्तम् प्रधावतः ।।१६।।

नाडीचक्रेण संस्यूते नासिकान्तमुभे गते।
नाभिमण्डलमाश्रित्य कुक्कुटाण्डमिव स्थितम् ।।१७।।

पूषा चालम्बुषा नाडी कर्णद्वयमुपाश्रिते।
नाडी शुक्लाह्वयातस्माद् भ्रूमध्यमुपसर्पति ।।१८।।

(पदच्छेदः)

नाडीचक्रम् इति प्राहुः तस्मात् नाड्यः समुद्गताः।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च नयनान्तम् प्रधावतः ।।१६।।

नाडीचक्रेण संस्यूते नासिकान्तम् उभे गते ।
नाभिमण्डलम् आश्रित्य कुक्कुटाण्डम् इव स्थितम् ।।१७।।
पूषा च अलम्बुषा नाडी कर्णद्वयम् उपाश्रिते ।
नाडी शुक्ला आह्वया तस्मात् भ्रूमध्यम् उपसर्पति ।।१८।।

(सान्वयार्थः)

तस्मात्	=मूलाधार से	इव	=तरह
नाड्यः	=सारी नाडियाँ	स्थितम्	=विद्यमान
समुद्गताः	=बाहिर निकली[१] हैं	नाभिमण्डलम्	=नाभिमण्डल[६] के (मणिपूर चक्र)
इति	=इसी से	आश्रित्य	=सहारे को लेकर
नाडीचक्रम्	=(उसको) नाडीचक्र	पूषा	=पूषा[७]
आहुः	=कहा गया[२] है।	च	=और
नाडीचक्रेण	=नाडीचक्र[३] से	अलम्बुषा	=अलम्बुषा[८]
संस्यूते	=निकली हुई	नाडी	=नाडी
नासिकान्तम्	=नाक के सिरे तक	कर्णद्वयम्	=दोनों कानों तक
गते	=गई हुई	उपाश्रिते	=जाती हैं ।
उभे	=दोनों (नाडियाँ)	तस्मात्	=उससे
गान्धारी	=गान्धारी[४]	शुक्ला	=शुक्ला[९]
च	=और	आह्वया	=नामकी
हस्तिजिह्वा	=हस्तिजिह्वा[५]	नाडी	=नाड़ी
नयनान्तम्	=नेत्रकोण तक	भ्रूमध्यम्	=भौहों के बीच को
प्रधावतः	=फैलती हैं।	उपसर्पति	=जाती है ।
कुक्कुटाण्डम्	=मुर्गे के अण्डे की		

व्याख्या

१. समुद्गताः विभक्ता जायन्त इत्यर्थः। इडा पिंगला और सुषुम्ना का केन्द्र ही सारी नाडियों का पुञ्जी भूत भाव है। वही तत्तत्-स्थलों में व्यक्त होती है यही उनका विभक्त या उत्पन्न होना है ।

२. तन्त्रशास्त्रों में योगविद्या के आद्याचार्य भगवान शंकर द्वारा कहा गया है ।

३. मूलाधार से या मतान्तर में स्वाधिष्ठान से।

४. 'गान्धारी सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवादिभिः ।' 'गान्धारी चन्द्रदेवता ।' 'इडापृष्ठेतु गान्धारी मयूरगलसन्निभा। सव्यपादादिनेत्रान्ता गान्धारी परिकीर्तिता ।।' आदि, पुराण आगम आदि गान्धारी के अधिष्ठाता चन्द्रदेव उद्गमस्थान इडा का पृष्ठ एवं मोर के गले की तरह रंग और वामभाग में नेत्र पर्यन्त जाना इत्यादि लक्षण बताते हैं।

५. हस्तिजिह्वा के देवता वरुण हैं । 'हस्तिजिह्वोत्पलप्रख्या सव्यभागस्य मूर्द्धादिपादांगुष्ठान्तमाश्रिता' आदि लक्षणों से इसका वर्णन किया गया है।

६. 'कन्दस्थानम्मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवाङ्गुलम्। चतुरंगुलमायामविस्तरं मुनिसत्तम ।। कुक्कुटाण्डवदाकारं भूपितञ्च त्वगादिभिः। तन्मध्यन्नाभिरित्युक्तम्मुने वेदान्तवेदिभिः ।।' इत्यादि पुराण इसको मूलाधार से नव अंगुल ऊपर, चार अंगुल चौड़ा और चमड़े से ढका बताते हैं।

७. 'पूषा याम्याक्षिपर्यन्तम्पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः' 'नीलजीमूतसन्निभा' 'पूषा दिग्देवता प्रोक्ता' इत्यादि पूषा के लक्षण इसे नीले बादल के रंग की और पिङ्गला के पीछे से निकलकर दक्षिण नेत्र और कर्ण सन्निधि तक जाती हुई बताते हैं। इसके देवता दिक् हैं।

८. 'अलम्बुषा पीतवर्णा कण्ठमध्ये व्यवस्थिता' इत्यादि इसे पीले रंग और वरुणाख्य देवता वाली एवं कण्ठ मध्य में रहती हुई बताते हैं।

९. पूषा और अलम्बुषा के बीच से नाभिमण्डल से निकली नाडी सफेद रंग की है।

—१९—

सरस्वत्याह्वया नाडी जिह्वान्ता वाक्प्रसारिणी।
नाडी विश्वोदरी नाम भुङ्क्तेऽन्न सा चतुर्विधम् ।।१९।।

(पदच्छेदः)

सरस्वती आह्वया नाडी जिह्वान्ता वाक्प्रसारिणी।
नाडी विश्वोदरी नाम भुङ्क्ते अन्नम् सा चतुर्विधम् ।।१९।।

(सान्वयार्थः)

सरस्वती	=सरस्वती[1]	सा	=वह प्रसिद्ध
आह्वया	=नाम की	विश्वोदरी	=विश्वोदरी[3]
नाडी	=नाडी	नाम	=नाम की
जिह्वान्ता	=जीभ के अन्त तक जाती हुई	नाडी	=नाडी
		चतुर्विधम्	=चार प्रकार[4] के
वाक्प्रसारिणी	=वाणी का प्रसार करती[2] है।	अन्नम्	=भोजन को
		भुङ्क्ते	=ग्रहण[5] करती है।

व्याख्या

१. 'सरस्वत्या विराट्' 'सुषुम्नापूर्वभागस्था जिह्वान्तस्था सरस्वती' आदि सूतसंहिता के वचनों से इसके देवता विराट् हैं एवं सुषुम्ना के आगे के पूर्व भाग से निकलती है।

२. इस नाड़ी से ही जीभ के द्वारा वाणी उच्चरित होकर फैलती है। अन्यथा गूंगे की तरह मानसिक वाणी ही रह जाती है।

३. विश्व के उदररूप को धारण करने वाली होने से ही इसका योगरूढ नाम विश्वोदरी है यह निर्देश करने के लिये ही 'सा' पद दिया गया है। 'विश्वोदराभिधा नाड़ी तुण्डमध्ये व्यवस्थिता।' 'हस्तिजिह्वा मध्ये विश्वोदरी स्थिता।' 'विश्वोदराभिधायास्तु भगवान्पावकः पतिः।' इत्यादि सूतसंहिता से इसका लक्षण और स्वरूप सिद्ध है। अग्नि देवता वाली और हस्तिजिह्वा के बीच से विश्वोदरी जाती है। पेट में रहती है।

४. भक्ष्य अर्थात् रोटी, चावल आदि; भोज्य अर्थात् हलुआ, पायस आदि जहाँ चबाना न पडे; लेह्य अर्थात् चटनी आदि जो चाटी जाय; एवम् चोष्य अर्थात् जो चूसा जाय जैसे लेमनचूस आदि। यह चार प्रकार के खाद्यपदार्थ हैं।

५. जाठराग्निद्वारा पके हुये रस को लेती हुई यह नाड़ी अपना कार्य करती है।

—२०-२१—

पीत्वा पयस्विनो तोयं कण्ठस्था कुरुते क्षुतम् ।
नाडी चक्रात्समुद्भूता नाड्यस्तिस्रस्त्वधोमुखाः ॥२०॥
राका शुक्लं सिनीवाली मूत्रं मुञ्चेत्कुहूर्मलम् ।
भुक्तान्नरसमादाय शङ्खिनी धमनी पुनः ।
कपालकुहरं गत्वा मूर्ध्नि सञ्चिनुते सुधाम् ॥२१॥

(पदच्छेदः)

पीत्वा पयस्विनी तोयम् कण्ठस्था कुरुते क्षुतम् ।
नाडीचक्रात् समुद्भूता नाडयः तिस्रः तु अधोमुखाः ॥२०॥
राका शुक्लम् सिनीवाली मूत्रम् मुञ्चेत् कुहूः मलम् ।
भुक्तान्नरसम् आदाय शखिनी धमनी पुनः ।
कपालकुहरम् गत्वा मूर्ध्नि सञ्चिनुते सुधाम् ॥२१॥

(सान्वयार्थः)

कण्ठस्था	=कण्ठ में रहने वाली
पयस्विनी	=पयस्विनी[1]
तोयम्	=जल को
पीत्वा	=पीकर[2]
क्षुतम्	=छींक
कुरुते	=करती है ।
नाडीचक्रात्	=नाडीचक्र[3] से
अधोमुखाः	=नीचे की तरफ मुंह वाली
तु	=तो
तिस्रः	=तीन
नाड्यः	=नाडियाँ
समुद्भूता	=प्रकट होती हैं ।
राका	=राका
शुक्लम्	=वीर्य को,
सिनीवाली	=सिनीवाली
मूत्रम्	=मूत को
कुहूः	=(और) कुहू
मलम्	=विष्ठा को
मुञ्चेत्	=छोड़ती है ।
पुनः	=और
शङ्खिनी	=शङ्खिनी[4]
धमनी	=नाड़ी
भुक्तान्नरसम्	=खाये हुये अन्न के रस को
आदाय	=ग्रहण करके
कपालकुहरम्	=कपाल के छिद्र को
गत्वा	=जाकर
मूर्ध्नि	=मूर्धा में (सहस्रार में)
सुधाम्	=अमृत
सञ्चिनुते	=सींचती है ।

व्याख्या

१. 'पयस्विन्याः प्रजापतिः' 'पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता पयस्विनी' आदि से इस नाड़ी के देवता प्रजापति, और इसे पूषा एवं सरस्वती के बीच में से जाने वाली बताया गया है।

२. यहाँ जल पीती है और छींक करती है ऐसा भाव है। तोयम्पीत्वा कण्ठस्थाने स्थितासति क्षुतं कुरुत इत्यन्वयः ।

३. ऊपर की तरफ जाने वाली प्रधान नाड़ियों को बता कर नीचे की तरफ जाने वाली प्रधान नाडियों का वर्णन करते हैं।

४. 'गान्धारायाः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी' 'शङ्खिन्याश्चन्द्रमाः' आदि सूत संहिता वचनों से इसके देवता चन्द्रमा और स्थान गान्धारी और सरस्वती के मध्य में सिद्ध होते हैं । इसका सिञ्चित अमृत लम्बिकायोग से योगी प्राप्त करते हैं ।

—२२—

इस नाडी विचार में काठकसंहितोपनिषद् ६·१६ का निर्देश देते हैं:—

शतं चैका च नाड्यस्स्युस्तासामेका शिरोगता ।
तयोर्ध्वमायन्मुक्तस्स्यादिति वेदानुशासनम् ॥२२॥

(पदच्छेदः)

शतम् च एकाच नाड्यः स्युः तासाम् एका शिरोगता ।
तया ऊर्ध्वम् आयन् मुक्तः स्यात् इति वेदानुशासनम्* ॥२२॥

(सान्वयार्थः)

शतम्	=सौ	शिरोगता	=सिर को गई है ।
च	=और	तया	=उस के द्वारा
एका	=एक	ऊर्ध्वम्	=ऊपर (ब्रह्मलोक)
च	=भी	आयन्	=आनेवाला
नाड्यः	=नाडियाँ	मुक्तः	=मुक्त
स्युः	=होती हैं ।	स्यात्	=होता है
तासाम्	=उनमें से	इति	=ऐसा
एका	=एक'	वेदानुशासनम्	=वेद का उपदेश है ।

व्याख्या

१. सुषुम्ना नाडी। मूल मंत्र है

'शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासाम्मूर्धानमभिनिस्सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति।।'

*वेदान्तशास इति पाठान्तरम्।

—२३—

अब नाडी भेद वर्णन की उपादेय अवस्थात्रय बताते हैं:—

यदा वुद्धिगतैः पुण्यैः प्रेरितेन्द्रियमार्गतः।
शव्दादीन् विषयान् भुङ्क्ते तदा जागरितं भवेत्।।२३।।

(पदच्छेदः)

यदा बुद्धिगतैः पुण्यैः प्रेरितेन्द्रियमार्गतः।
शब्दादीन् विषयान् भुङ्क्ते तदा जागरितम् भवेत्।।२३।।

(सान्वयार्थः)

यदा	=जब[1]	शव्दादीन्	=शव्द आदि
वुद्धिगतैः	=अन्तःकरण[2] में स्थित	विषयान्	=विषयों को
पुण्यैः	=पुण्यों[3] के द्वारा	भुङ्क्ते	=अनुभव[4] करता है
प्रेरितेन्द्रियमार्गतः	= प्रेरित[5] इन्द्रियों के रास्ते से	तदा	=तब
		जागरितम्	=जागृदवस्था
		भवेत्	=होती है।

व्याख्या

१. जिस देश, काल या देह विशेष में।

२. अन्तःकरण में रहने वाले चिदाभास के द्वारा ही उससे तादात्म्यापन्न चिदात्मा कर्मों का आचरण करता है, यह निर्विवाद सिद्ध कर आये हैं। अतः सारे कर्मों से होने वाला अतिशय भी अन्तःकरण में ही रहेगा।

३. यहाँ पुण्यों से पाप भी उपलक्षित है। श्रेष्ठ होने से पुण्य का नाम ग्रहण है। इसीलिये श्रुति में 'पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्

स एवजीवः स्वपितिप्रबुद्धः' (कै० उ० १·१४) एवं 'तस्मात्तेनोभयम् पश्यति' (छा० १.२.४) इत्यादि कहा है।

४. पूर्व कृत कर्म से ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति बताकर जीव को प्रवृत्ति में वासना व कर्मपरतन्त्र बताया है। मार्ग अर्थात् पूर्वोक्त गोलकों पर्यन्त फैली हुई नाडियाँ।

५. प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अपने अन्तःकरण में विषयों को खचित करते हुये उनका प्रकाश करता है।

—२४—

संहृतेष्विन्द्रियेष्वेषु जाग्रत्संस्कारजान्पुमान्।
मानसान्विषयान्भुङ्क्ते स्वप्नावस्था तदा भवेत् ॥२४॥

(पदच्छेदः)

संहृतेषु इन्द्रियेषु एषु जाग्रत्संस्कारजान् पुमान्।
मानसान् विषयान् भुङ्क्ते स्वप्नावस्था तदा भवेत् ॥२४॥

(सान्वयार्थः)

एषु	= इन
इन्द्रियेषु	= इन्द्रियों के[1]
संहृतेषु	= लीन[2] हो जाने पर
पुमान्	= जीव
जाग्रत्संस्कार-जान्	= जाग्रत् अवस्था के संस्कारों से उत्पन्न
मानसान्	= मनः परिणामरूप[3]
विषयान्	= विषयों का
भुङ्क्ते	= अनुभव करता है;
तदा	= तो वह
स्वप्नावस्था	= स्वप्न[4] की अवस्था
भवेत्	= होती है।

व्याख्या

१. देहगत नाडी छिद्र रूप करणसमुदाय। इन्द्रियाँ देहस्थ नाडियों के भीतर खींच ली जाती हैं।

२. जब नाडीसंस्थान, जिसके द्वारा इन्द्रियाँ बाहिर जाती हैं गोलकों से अन्तःकरण के अन्दर खींच लिया जाता है तब आत्मा बहिर्जगत् के भान में समर्थ नहीं रहता। उस काल में गोलकों

से इन्द्रियाँ अन्तर्ध्यान हो जाती हैं। उस में फिर अन्तःकरण तो रह ही कैसे सकेगा?

३. प्रत्येक जाग्रतकालीन अनुभव एक छाया को छोड़ देता है। वह फिर मन में परिणाम को उत्पन्न करता है। यह अनुभव जन्मान्तर का भी हो सकता है। पर यहाँ विषय के अभाव में केवल मन का परिणाम मात्र ही विषयवत् प्रतीत होता है।

४. स्वप्न में भेदानुभव प्रत्यक्ष की तरह है और विषयाभाव सुषुप्ति की तरह है। अतः यह सन्धि अवस्था भी कही जाती है।

—२५—

मनसोप्युपसंहारस्सुषुप्तिरिति कथ्यते।
तस्मान् मायासमाच्छन्नस्सन्मात्रो वर्तते पुमान् ॥२५॥

(पदच्छेदः)

मनसः अपि उपसंहारः सुषुप्तिः इति कथ्यते।
तस्मात्* मायासमाच्छन्नः सन्मात्रः वर्तते पुमान् ॥२५॥

(सान्वयार्थः)

मनसः	=मन का[1]	तस्मात्	=इसलिये[3]
अपि	=भी	सन्मात्रः	=सत्ता मात्र[4]
उपसंहारः	=लय[2] हो जाना	पुमान्	=आत्मा
सुषुप्तिः	=सुषुप्ति	मायासमाच्छन्नः	=माया से ढका हुआ
इति	=इस प्रकार से	वर्तते	=रहता है।
कथ्यते	=कहा जाता है।		

व्याख्या

१. वासनाओं के सहित मन यहाँ समझना चाहिये। अर्थात् सारी ही कार्योपाधि का संग्रह यहाँ इष्ट है।

२. कारणावस्था में जाना ही उपसंहार शब्द का भाव है।

३. उपाधिगत विशेषावस्था वाली उपाधियों से युक्त होकर प्रतीत होना ही चिदात्मा की जाग्रदादि अवस्था हैं। उपाधियों का

चिदात्मा से सम्बन्ध माया के बिना होना संभव नहीं है। अतः माया से समाच्छन्न चिदात्मा ही उपाधियों के कारण जाग्रत्स्वप्न भाव को प्राप्त करता है। इन उपाधियों के लीन होने पर केवल मायासमाच्छन्नचिदात्मा बच जाता है। समावृत ब्रह्मभाव वाला आत्मा केवल 'है' इतने ही व्यवहार के योग्य रह जाता है। अथवा निर्विकल्पसत्तामात्र वाला हुआ भी यह चिदात्मा मायासमाच्छन्न ही रहता है यह भाव है। सर्वथा विशेषाभावपूर्वक स्थिति है। उपाधियों के लय होने के कारण ही हेतु का अर्थ समझना चाहिये।

४. स्वरूपतः वह सन्मात्र है पर नामरूपात्मक भेद उसके गर्भ में है। अतः माया का योग स्वीकार करना पड़ता है।

*तत्र इति पाठभेदः।

—२६—२८—

सुषुप्ति स्थिति में माया और मायाच्छन्न चिदात्मा का परामर्शस्थल बताते हैं:—

मूढ़ो मत्तोऽज्ञ इत्येवं मायावेशात्प्रकाशते।
सुखमस्वाप्समित्येवं प्रबोधसमये पुमान्॥२६॥
सच्चिदानन्दरूपञ्च सम्यगेव प्रकाशते।
इत्थं जगत्समाविश्य भासमाने महेश्वरे॥२७॥
सूर्यादयोऽपि भासन्ते किमुतान्ये घटादयः।
तस्मात्सत्ता च भावानामीश्वराश्रयणाश्रया॥२८॥

(पदच्छेदः)

मूढः मत्तः अज्ञः × इति एवम् मायावेशात् प्रकाशते।
सुखम् अस्वाप्सम् इति एवम् प्रबोधसमये पुमान्॥२६॥
सच्चिदानन्दरूपम् च* सम्यक् एव प्रकाशते।
इत्थम् जगत् समाविश्य भासमाने महेश्वरे॥२७॥
सूर्यादयः अपि भासन्ते किम् उत अन्ये घटादयः।
तस्मात् सत्ता च भावानाम् ईश्वराश्रयणाश्रया + ॥२८॥

(सान्वयार्थः)

मायावेशात्	= माया[1] के सम्बन्ध से	इत्थम्	= इस प्रकार[7]
मूढः	= मूर्ख,	महेश्वरे	= महेश्वर के
मत्तः	= पागल,	जगत्	= विश्व[8] में
अज्ञः	= (और) अज्ञानी	समाविश्य	= प्रविष्ट होकर
इति एवम्	= इस प्रकार से	भासमाने	= प्रकाशित होने पर
प्रकाशते	= प्रतीत होता है।	सूर्यादयः	= सूर्य[9] आदि
पुमान्	= आत्मा	अपि	= भी
प्रबोधसमये	= जगने[2] के काल में	भासन्ते	= प्रकाशित होते हैं,
सुखम्	= सुखपूर्वक[3]	उत	= तो
अस्वाप्सम्	= सोया[4] था	अन्ये	= दूसरे
इति एवम्	= इस प्रकार से	घटादयः	= घट[10] आदि पदार्थों का
सच्चिदानन्दरूपम्	= सत्य, ज्ञान और आनन्द-रूप को	किम्	= क्या (कहना)
च	= भी	च	= और[11]
सम्यक्	= अच्छी तरह[5] से	तस्मात्	= इसलिये[12]
एव	= ही	भावानाम्	= पदार्थों की
प्रकाशते	= प्रकाशित[6] करता है।	सत्ता	= सत्ता
		ईश्वराश्रयणाश्रया[13]	= ईश्वर के अन्दर अध्यस्त होने के सहारे से ही है।

व्याख्या

१. आत्मा सर्वदा नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव है। पर जीवरूप से उसका सन्देह-विपर्यास-अज्ञान के आश्रय रूप से अनुभव माया के कारण है। माया का रूप आगे बतावेंगे। इस अनुभव से ही माया का सम्बन्ध सिद्ध है।

२. सोकर उठने पर परामर्श काल में। यह ज्ञान न हो तो आत्मा की आनन्दरूपता में कोई अनुभव प्रमाण नहीं हो सकता था।

३. सुख शब्द से यहाँ स्वरूप सुख को, जो आगन्तुक नहीं वरन् स्वप्रकाश सदानन्द रूप है, कहा जा रहा है।

४. सोना अर्थात् कार्य रूप अन्तःकरणादि उपाधियों की उपशान्ति होना।

५. सुषुप्ति में किसी निमित्त से होने वाले सुख की उत्पत्ति तो मान नहीं सकते क्योंकि सभी निमित्तों का (विषयों का और तदनुभवसाधन इन्द्रिय मन आदि का) अभाव है। व्यापार से उपरामता रूपी उपाधियों की निवृत्ति को निमित्त मानने पर तो अभाव से भावोत्पत्तिरूप दोष स्वीकार करना होगा। किसी के न होने मात्र से किसी और की उत्पत्ति कहीं भी देखने में नहीं आती।

सुषुप्ति में अनुभूत सुख को दुःखाभावरूप भी नहीं मान सकते क्योंकि अभाव प्रत्यक्ष के साधन, जो भाव प्रत्यक्ष के साधनों से सर्वथा अभिन्न हैं, भी वहाँ नहीं हैं। अनुभव न हो तो उसका परामर्श सर्वथा नहीं हो सकता।

सौषुप्त दुःखाभाव स्मरण का विषय नहीं है वरन् अनुमानगम्य है इस प्रकार से मानना तो अस्मर्यमाणत्वादि से व्यभिचार होने के कारण अतितुच्छ युक्ति है। सुखमस्वाप्सम् स्पष्ट ही स्मरण है अन्यथा सुखमनुमिनोमि अनुभव होता। दर्शन शास्त्र अनुभव की व्यवस्था बनाने के लिये है, अनुभव का अपलाप करने के लिये नहीं। अनुमान की सामग्री भी तो सुषुप्ति में सिद्ध नहीं है। अतः यथावस्थित ही सुषप्ति में स्वरूपसुख सिद्ध होता है।

६. चूँकि निरंश निष्क्रिय अखण्ड सदाशिव में शयन, गमन स्वप्न, उद्बोधन आदि सभी स्वरूप से असंभव हैं, इस लिये यह सब उपाधिकृत हैं। उपाधि की उपशान्ति को ही अस्वाप्सम् से परामृष्ट करके स्वरूप सुख का उल्लेख ही आत्मा की आनन्दरूपता को प्रकाशित करता हुआ उसकी सभी अवस्थाओं में नित्य आनन्दरूपता को बताता है।

७. 'तमेव भान्तमनुभाति' इत्यादि तृतीयपाद के साथ विवेचित अर्थ का सामरस्य दिखाते हैं।

८. विश्व अर्थात् कार्यकारणात्मक समस्त ब्रह्माण्ड। अज्ञान-रूपी कारण से सूक्ष्म और स्थूल शरीर एवं उसकी तीन अवस्थाएँ व्यष्टि भावापन्न महेश्वर से प्रकाश पाती हैं। मायारूपी कारण से सूक्ष्म और स्थूल भौतिक प्रपंच और उसकी तीन अवस्थाएँ समष्टि भावापन्न महेश्वर से प्रकाशित हैं। हर हालत में महेश्वर के प्रकाश के बिना विश्व में कहीं भी प्रकाश संभव नहीं। इस ब्रह्माण्ड के भेद को नीचे स्पष्ट करके दिखाते हैं। इसको देखने से किस उपाधि वाले परमेश्वर किस नाम से प्रकाशक कहा जाता है यह स्पष्ट हो जाएगा।

अधिदैव या समष्टि। कारणात्मक		अध्यात्म या व्यष्टि। कार्यात्मक		अवस्था
उपाधि	महेश्वर का नाम	उपाधि	महेश्वर का नाम	
अव्याकृत या अव्यक्त	अक्षर (पौराणिक शंकर)	कारण शरीर या आनन्दमय कोश	प्राज्ञ	सुषुप्ति
हिरण्यगर्भ	सूत्रात्मा (पौराणिक विष्णु)	लिंग शरीर या विज्ञानमय, प्राणमय और मनोमय कोश	तैजस	स्वप्न
विराट्	वैश्वानर (पौराणिक ब्रह्मा)	स्थूल शरीर या अन्नमय कोश	विश्व	जाग्रत्

यह संक्षेप से कहा गया है। वस्तुतस्तु प्रत्येक उपाधि के प्रकाशक रूप से उसके भिन्न नाम हो जाते हैं। प्रत्येक देह, प्रत्येक अवयव, प्रत्येक अणु का वही प्रकाशक बनता जाता है। पदार्थ शक्तिरूप है, उसका वह अंश जिससे प्रकाशित हो वह शिवरूप है। यहीं शिवशक्ति सर्वरूप है।

९. सूर्य को भी जानने वाला होने से वह उसका भी प्रकाशक है। 'तमेव भान्तं' इत्यादि श्रुतियाँ व 'न तद्भासयते सूर्यः' इत्यादि स्मृतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

१०. जब सूर्य आदि की स्वतंत्र सत्ता और प्रतीति नहीं सिद्ध होती तो सभी घटादि पदार्थों में स्वतः सत्ता और प्रतीति मानने वाला वादी सर्वथा भ्रान्त है यह तो कैमुतिक न्याय से सिद्ध ही हो गया।

११. 'च' कार पूर्वप्रकृत प्रकाशरूपता के संग्रहणार्थ है।

१२. सदाशिव में स्वतंत्र सता और स्फुरत्ता एवं अन्यत्र उसीके संक्रमण से इनका होना सिद्ध हो जाने से।

१३. ईश्वरमाश्रयन्त इतीश्वराश्रयणा ईश्वरव्याप्ता आश्रयो यस्याः सा ईश्वराश्रयणाश्रया, ईश्वराध्यस्तविषयाश्रया, न स्वरूपसद्विषयगतेत्यर्थः।

× जडोऽज्ञ इति पाठान्तरम्।

*रूपस्सन् सम्यक् इति पाठान्तरम्।

+सत्ता स्फुरत्ता च भावानामीश्वराश्रयात् इति पाठान्तरम्।

—२९—

महेश्वर के सत्ता ज्ञानरूपता को युक्ति से सिद्ध करके उस युक्ति को श्रौत बताते हैं:—

सत्यंज्ञानमनन्तं च श्रुत्या ब्रह्मोपदिश्यते।
जाग्रत्स्वप्नोद्भवंसर्वमसत्यं जडमन्धवत् ॥२९॥

(पदच्छेदः)

सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् च श्रुत्या ब्रह्म उपदिश्यते।
जाग्रत्स्वप्नोद्भवम् सर्वम् असत्यम् जडम् अन्धवत् ॥२९॥

(सान्वयार्थः)

श्रुत्या	=वेद[1] के द्वारा	ज्ञानम्	=ज्ञान,
ब्रह्म	=महेश्वर	अनन्तम्	=व्यापक रूप[3]
सत्यम्	=सत्य[2],	च	=और

जाग्रत्स्वप्नोद्भवम् =	जाग्रत्स्वप्न में उत्पन्न	असत्यम्	= मिथ्या और
		जडम्	= अचेतनरूप
सर्वम्	= सारा (संसार)	उपदिश्यते	= बताया जाता है
अन्धवत्	= अन्धकार की तरह		

व्याख्या

१. अतीन्द्रियार्थ में वेद ही परम प्रमाण है। स्मृतियाँ और अन्य सारे ही पौरुषेय शास्त्र भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से ग्रस्त होने के कारण निःसन्दिग्ध प्रमाण नहीं हो सकते। 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (पूर्वमीमांसा १.३.३) के द्वारा शास्त्रों का वेदाविरुद्धांश ही प्रमाण हो सकता है। आचार्य विद्यारण्य लिखते हैं 'मूलभूतवेदानुमानेन स्मृत्यादेः प्रामाण्यम्। तद्विरोधे त्वनुमानमेव नोदेतीति मूलाभावादुपेक्षणीयम्। अथवा यावन्मूलोपलम्भम्प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धस्मृत्याद्यर्थो नानुष्ठेय इति सूत्रार्थः।' अतः भेदवादियों के तन्त्रागमस्मृतिपुराण प्रसिद्ध अन्यथा वचन साक्षात् भगवती श्रुति से ही निराकृत हैं।

२. तैत्तिरीय शाखाप्राङ्कृष्णयजुर्वेदे आनन्दवल्लीप्रथममन्त्रे।

३. यह महेश्वर का स्वरूप लक्षण है। यद्यपि परवर्ती कतिपय वेदान्ती इसको भी निषेधरूपता में घटाते हैं पर इस प्रकार तो समग्र साधना को ही अन्दर से वे खोखला बना देते हैं। भगवान भाष्यकार अभावाद्वैत के समर्थक तो कभी नहीं रहे। वेदान्तसूत्रकार भगवान बादरायण तो प्रतिज्ञा करके ही जगत्कारणरूप से ब्रह्म के लक्षण का निर्देश कर अभावाद्वैत को उत्पन्न होने के पहले ही समाप्त कर देते हैं।

न्यायशास्त्रकार 'असाधारणो धर्मो लक्षणम्' कहकर स्वरूप लक्षण का सूक्ष्म निर्देश करते हैं। असाधारण अर्थात् सजातीयविजातीय का व्यावर्तक। जगत्कारणरूप से निर्दिष्ट ब्रह्म को वादियों द्वारा स्वकपोलकल्पित प्रधान, परमाणु आदि की प्राप्ति होने पर उसका निषेध करते हैं स्वरूपलक्षण से कि यह जड और परिणामी होने के कारण ब्रह्म नहीं। अथवा जगत्कारणरूप से प्रधान परमाणु आदि

ब्रह्म के सजातीय और भूतभौतिक प्रपंच कार्यरूप से विजातीय हैं। इन दोनों अनृतजड़परिच्छिन्न स्वभाव वालों से व्यावृत्त करके ब्रह्म का स्वरूप बोधक वाक्य सत्यंज्ञानमनन्तं सिद्ध हुआ। अतः यह ब्रह्म का असाधारण धर्म हुआ।

४. 'पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तञ्च बुद्धान्तञ्च' (बृ० ४.३.१८) इत्यादि श्रुति के अनुरोध से विषयानुभव के जाग्रत् और स्वप्न दो ही स्थान हैं। 'नान्यदतोऽस्तिदृष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ' (बृ ३.८.११) 'क्षरम्प्रधानममृताक्षरंहरः' (श्वे० १.१०) 'नेहनानास्ति किंचन' 'नानेव पश्यति' इत्यादि श्रुतियाँ इन दोनों ही को मिथ्या और जड बताती हैं। अतः महेश्वर के विना सब कुछ अन्धेरा ही सिद्ध होता है।

—३०—

सारे जगत् के अधिष्ठानस्वरूप, सब मे अनुस्यूत, सत्ता और प्रतीति के एकमात्र आश्रय सदशिव को ही प्रत्यगात्मा से अभिन्न-रूपेण निर्देश करते हैं :—

ईश्वरश्चाहमित्येवं भासते सर्वजन्तुषु।
निर्विकल्पश्च शुद्धश्च मलिनश्चेत्यहं त्रिधा ॥३०॥

(पदच्छेदः)

ईश्वरः च अहम् इति एवम् भासते सर्वजन्तुषु।
निर्विकल्पः च शुद्धः च मलिनः च इति अहम् त्रिधा ॥३०॥

(सान्वयार्थः)

च	=और	अहम्	='मैं'
सर्वजन्तुषु	=सारे प्राणियों में	निर्विकल्पः	=निर्विकल्प
अहम्	='मैं'	च	=और
इति एवम्	=इस प्रकार से	शुद्धः	=शुद्ध
		च	=और
ईश्वरः	=ईश्वर	मलिनः	=मलिन
भासते	=प्रतीत होता है।	इति	=इस प्रकार
च	=और	त्रिधा	=तीन प्रकार का होता है।

व्याख्या

१. मैं इस अनुभूति में चेतन का भान होता है और चेतन ही ईश्वर का रूप है। अतः सारे प्राणियों में ईश्वर इस प्रकार से प्रतीत होता है। गीता में भी 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' (गी० १०.२०) में आत्मा को मैं रूप से सारे प्राणियों में स्थित बताया गया है। श्रुतियों का तो महावाक्यों में इसी का उद्घोष है।

—३१—

तीनों प्रकार के अहङ्कार का निरूपण करते हैं:—

निर्विकल्पं परं ब्रह्म निर्धूताखिलकल्पनम्।
धूल्यन्धकारधूमाभ्रनिर्मुक्तगगनोपमम् ॥३१॥

(पदच्छेदः)

निर्विकल्पम् परम् ब्रह्म निर्धूताखिलकल्पनम्।
धूल्यन्धकारधूमाभ्रनिर्मुक्तगगनोपमम् ॥३१॥

(सान्वयार्थः)

धूल्यन्धकारधूमाभ्रनिर्मुक्तगगनोपमम्	= धूल, अन्धेरा, धुंआ, और बादल से रहित 'आकाश की तरह	निर्विकल्पम्	= समस्त भेदों से रहित
निर्धूताखिलकल्पनम्	= सारी कल्पनाओं से निर्मुक्त	परम्	= पर'
		ब्रह्म	= ब्रह्म (निर्विकल्प अहं का विषय है।)

व्याख्या

१. आकाश स्वरूप से इन सभी से अस्पृष्ट है। पर बालबुद्धिवालों को इनसे अशुद्ध प्रतीत होता है। इन सबसे रहित आकाश का अनुभव ही आकाश के स्वरूप का अनुभव है।

धूल नीचे से उड़ती है और आकाश को घेरती है। इसी प्रकार विषय अनृत माया से उड़ते हैं और ब्रह्म को घेरते हैं। विषयों के

नाम रूप से ब्रह्म पूर्ण तरह से ढंक जाता है और नामरूप ही दिखते हैं। यह विक्षिप्तावस्था है।

धुँआ आकाश के स्वरूप को कुछ दिखाता हुआ ढंकता है अतः स्वप्न के जैसी अवस्था है।

अन्धेरा आकाश को बिल्कुल ढंक देता है। यह सुषुप्ति के जैसी अवस्था है।

बादल से ऊपर का आकाश ढंकता है पर मैलापन नहीं होता इसी प्रकार माया से ब्रह्म का स्वरूप ढंकता है पर शुद्धसत्व होने से रजतम के दोष नहीं होते।

इन माया, अज्ञान, वासना और विक्षेप चारों दोषों से रहित बताने के लिए चार दृष्टान्त दिये गये हैं।

२. समस्त विशेष वस्तुतः ब्रह्म में कल्पित हैं। जब अहं में किसी भी विशेष का भान न हो केवल 'अहमस्मि' का भान हो और परिच्छेद रहित अर्थात् भेद का भी भान न हो, अर्थात् अहं से भिन्नता का भी भान न रहे तो यह निर्विशेष परिच्छेदहीन अवस्था ही परब्रह्म है एवं निर्विकल्प अहं का विषय है।

३. परापरभेद से ब्रह्म के दो भेदों में से अपर ब्रह्म को व्यावृत्त करते हैं। अपर-ब्रह्म अक्षर है। पर-ब्रह्म महेश्वर है। 'यः परः स महेश्वरः' (तैत्तिरीय आ० १०·१७)।

—३२—

विवेकसमयेशुद्धं देहादीनां व्यपोहनात्।
यथाऽन्तरिक्षं संक्षिप्तनक्षत्रैः किञ्चिदीक्ष्यते ॥३२॥

(पदच्छेदः)

विवेकसमये शुद्धम् देहादीनाम् व्यपोहनात्।
यथा अन्तरिक्षम् संक्षिप्तनक्षत्रैः किञ्चित् ईक्ष्यते ॥३२॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	(तथा	=वैसे)
संक्षिप्तनक्षत्रैः	= छितरे[1] हुए तारों से	विवेकसमये	= विवेक करते समय[2] में
अन्तरिक्षम्	=आकाश	देहादीनाम्	=देह[3] आदियों के
किञ्चित्	=थोड़ा थोड़ा	व्यपोहनात्	=हटाने[4] पर
ईक्ष्यते	=दिखाई देता है	शुद्धम्	=शुद्ध (अहंकार)है[5]।

व्याख्या

१. जब सूर्य चन्द्र आदि का प्रकाश शान्त हो चुकता है तब साफ रात्रि में तारों के प्रकाश से आकाश की कुछ प्रतीति होती है। प्रत्येक तारा अपने आसपास के आकाश को प्रकाश देता है पर तारों की अधिकता के कारण काफी आकाश प्रताशित हो जाता है वैसे ही प्रत्येक विवेक जन्य ज्ञान अल्प या परिच्छिन्न ब्रह्म को ही प्रकाशित करता है क्योंकि जितने अनात्म अंश को हटाया गया है उतने ही उपाधि से रहित का भान है, शेष उपाधियों की सत्ता तो रहती ही है। अत्यधिक विवेक से काफी प्रकाश हो जाता है। छितरे हुए कहने में तात्पर्य है कि विवेकज ज्ञान दीर्घकालीन स्थिरता को कभी प्राप्त नहीं होता। 'अविशेषात्' से भाष्यकार भी यही कहते हैं।

२. विवेक काल में शुद्ध आत्मा प्रतीत होने पर भी पुनः पूर्ववत् संसार का भान है और अहंता में विशिष्टता का बोध है।

३. देह, मन, प्राण, भूख, प्यास, मूर्खता, पाण्डित्य, सुख, दुःख आदि धर्म अनात्मा हैं अतः उनसे आत्मा को अलग करना ही विवेक है। उपाधि विशिष्ट में से उपाधि को निकालना धैर्य पूर्वक ही सम्भव है।

४. हटाने से यहाँ अलग करके अनुभव में लाना ही समझना चाहिए। स्वरूपतः उपाधि के सम्बन्ध का नित्य ही अभाव है।

५. स्वभावतः आत्मा सभी को मलिन रूप से भान न होकर

शुद्धरूप से भान क्यों नहीं होता इसके जवाव में उसकी शुद्धता का कारण विवेक को वताया। जैसे कपड़ा धोने पर ही मैल दूर हो जाने के कारण साफ प्रतीत होता है ऐसे ही आत्मा विवेक हो जाने पर शुद्ध प्रतीत होता है। तत्त्वम्पदार्थ का विचार किया हुआ नर ही यहाँ विवेकी है। विवेक से देहादि में दृश्यधी उत्पन्न होकर उसमें अहं पदार्थ आत्मत्व का भान नहीं रहता। देहादि परिच्छेद के अभाव में शुद्ध ही ब्रह्मा-भिन्न आत्मतत्त्व का भान होता है।

निर्विकल्प में सूर्य प्रकाश की तरह स्पष्ट भान है। उसकी अपेक्षा कम प्रकाश होने से यह शुद्ध कहा गया है। यहाँ परिच्छेद के अभाव का भान रहता है। निर्विकल्प में तो भावाभाव, द्वैताद्वैत सभी का सामरस्य है। यह ब्रह्मज्ञान है जो यद्यपि ब्रह्म से अभिन्न है पर वह ब्रह्मसंस्थता या सहजावस्था है। पूर्वोल्लास में भी इन दोनों का भेद वताया था, पर वहाँ साधक की दृष्टि से कहा था, यहाँ साध्य के स्वरूप दृष्टि से कहा है। इस अवस्था में निवृत्ति स्वभावतः है। निर्विकल्प में तो 'न प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा कटाक्षेणापि वीक्षते'। (नै० सि० ४.५४)

—३३—

सर्व प्राणि साधारण तृतीय अहन्ता का निरूपण करते हैं:—

देहेन्द्रियादिसंसर्गान्मलिनङ्कलुषीकृतम्।
यथाऽऽकाशन्तमोरूढंस्फुरत्यनवकाशवत् ॥३३॥

(पदच्छेदः)

देहेन्द्रियादिसंसर्गात् मलिनम् कलुषीकृतम्।
यथा आकाशम् तमोरूढम् स्फुरति अनवकाशवत् ॥३३॥

(सान्वयार्थः)

यथा	= जिस प्रकार	अनवकाशवत्	= खाली स्थान न हो ऐसा
तमोरूढम्	= अंधकार से ढका हुआ	स्फुरति	= प्रतीत होता है,
आकाशम्	= आकाश (खाली स्थान)	तथा	= वैसे
		देहेन्द्रियादि-संसर्गात्	= शरीर, इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से

कलुषीकृतम् = {कालिख[१] लगा हुआ (और)
मलिनम् =मैला[४]

(आत्माभाति = {आत्मा प्रतीत होता है।)

व्याख्या

१. रात्रि के घनान्धकार में खाली जगह भी भरी हुई मालूम पड़ती है, मार्ग में पद पद पर काली दिवाल प्रतीत होती है, इसी को यहाँ कहा गया है कि अन्धकार रूपी ढक्कन मानो आकाश को परिच्छिन्न कर रहा है जिससे आकाश अनाकाश हो रहा है। आकाश अवकाश स्वरूप है यह तो सर्ववादि सम्मत है। जैसे यहाँ विपरीत भान है वैसे ही आत्मा अनात्म रूप से भासित है।

२. संसर्गाध्यास ही यहाँ संसर्ग है। परिच्छेदक रूपी उपाधि ही यहाँ ढंकती है।

३. अपरिच्छिन्न, चैतन्य, आनन्द, नित्य और सदाशिव का परिच्छिन्न, अज्ञानी, दुःखी और अस्थायी रूप सा बन जाना ही उसके कालिख लग जाना है। जिस प्रकार लोक में कहते हैं मुझे कलंक लग गया अर्थात् जैसा मैं वस्तुतः था उससे भिन्न समझा गया वैसे ही यहाँ भी तात्पर्य है।

४. देहादि परिच्छिन्न आत्मानुभूति के कारण रागद्वेष होते हैं जो जीव को नरक तिर्यक योनियों में ले जाते हैं और असीम दुःखों का अनुभव कराते हैं अतः इसे मलिन कहा। व्यावहारिक दृष्टि से परिच्छिन्न आत्मा में पापादि का सच्चा सम्बन्ध होने से उसे मलिन कहा गया। पुण्य भी आत्मदृष्टि से बन्धन का हेतु है अतः यहाँ उसे भी मलिन ही कहा गया है।

—३४—

तीनों प्रकार के अहङ्कारों के निरूपण के प्रयोजन का निर्देश करते हैं।

अहमित्यैश्वरं भावं यदा जीवः प्रबुध्यते।
सर्वज्ञस्सर्वकर्ता च तदा जीवो भविष्यति ।।३४।।

(पदच्छेदः)

अहम् इति ऐश्वरम् भावम् यदा जीवः प्रबुध्यते ।
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च तदा जीवः भविष्यति ॥३४॥

(सान्वयार्थः)

यदा	=जब[1]	तदा	=तब
जीवः	=जीव[2]	जीवः	=जीव
ऐश्वरम्	=ईश्वर रूप	सर्वज्ञः	=सब कुछ जानने वाला[4]
अहम्	=मैं	च	=और
भावम्	=भाव	सर्वकर्ता	=सब कुछ करने वाला[5]
इति	=इस का	भविष्यति	=हो जायगा ।
प्रबुध्यते	=अनुभव[3] कर लेता है		

व्याख्या

१. यदा पद से दुर्लभता का सूचन है । असंख्य जन्मों के पुण्य-पुंजों के परिपाक से, गुरु की अहैतुकी कृपा से और निरन्तर योगाभ्यास से ही इसकी प्राप्ति संभव है ।

२. दोनों जगह जीव शब्द के प्रयोग से उसका सर्वथा अभेदत्व प्रतिपादन किया गया है ।

३. साक्षात्कार से तात्पर्य है न कि मानसिक अवगति से ।

४. सर्वज्ञत्वादि परमेश्वर के स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है । सर्वज्ञत्वादि प्राप्त होने की विधि में तात्पर्य नहीं समझना चाहिये ।

५. यद्यपि प्रायः अनेक नवीन वेदान्ती सर्व और ज्ञ रूपता मात्र को ब्रह्मनिष्ठ में अभिव्यक्त मानकर सर्वत्र श्रुतियों का अर्थ लगाने का प्रयत्न करते हैं पर यह पाक्षिक मत है । सर्वकर्तृत्व भी यहाँ स्पष्टरूप से भगवान सुरेश्वराचार्य बता रहे हैं । अतः ब्रह्मनिष्ठ में सभी माहेश्वरभावों की स्थिति है । यद्यपि पंचदशी कार ने विशेष शक्तियाँ तप के प्रभाव से मानी हैं परन्तु मन और इन्द्रियों का निग्रह जो ज्ञान साधना का प्रधान अङ्ग और ज्ञानी का स्वभाव है तपों में सर्वश्रेष्ठ है और

फलस्वरूप ज्ञानी का महातपस्वी होना तो स्वयंसिद्ध है। आचार्य विद्यारण्य का तात्पर्य केवल इतने से है कि ज्ञान का साक्षात्फल अज्ञान नाश है, ज्ञानी में सर्वशक्तिमत्त्व आदि अवान्तर फल का निषेध करना नहीं। 'एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः' (ब्र. सू. ४. ४. ७) 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७.२५.२) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः……आप्नोति सर्वांश्च कामान् (छ० ८.७.१) 'जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा' (छा.८.१२.३) 'सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च तेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादि श्रुति, सूत्र, भाष्य आदि में स्पष्ट ही उसमें सर्वशक्तिमत्त्व का प्रतिपादन है। यह दूसरी बात है कि ऐसा ब्रह्मसंस्थ अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं करता क्योंकि प्रदर्शन का उद्देश्य लौकिक सम्पत्ति और ख्याति होती है जो उसको इष्ट नहीं। राजा अपने नौकर के सामने क्या प्रदर्शन करे। पर जिस पर प्रसन्न हो उसको असीम धन देने की सामर्थ्य तो उसमें स्वीकार करनी ही पड़ेगी। इस बात को अन्तिम श्लोक व्याख्यान में विस्तार से प्रतिपादित किया जायगा।

—३५—

जीव का अर्थ है अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान्। फिर वह ईश्वरभाव को कैसे प्राप्त कर सकेगा। औडुलोमि और अन्य वेदान्ती परम्परा के आचार्य इसीलिये केवल शक्तिरूप रहित शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा में स्थिति ही मोक्षस्वरूप से स्वीकार करते हैं। उनके मत में ब्रह्म और शक्ति पदार्थद्वय हैं। पर शक्ति अनिर्वचनीय व्यावहारिक सत्ता वाली और ब्रह्मज्ञान से निवर्त्य है, ब्रह्म किसी भी उपाय से निवर्त्य नहीं अतः पारमार्थिक है। इस प्रकार पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की होने से तात्त्विक अद्वैत उन्हें भी स्वीकृत है। पर जितना भी सत्ताद्वैविध्य लाया जाय, जितना भी ब्रह्म का उत्कर्ष दिखाया जाय द्वैत का आभास तो रह ही जाता है। उत्कृष्ट की सत्ता अपकृष्ट की अपेक्षा रखती ही है। अतः अद्वैत के सम्प्रतिष्ठाता भगवान शंकर भगवत्पादाचार्य एक ही तत्त्व को स्वीकार करते हैं। वह महेश्वर ही अपने मायाशक्ति के

प्रयोग काल में संसारी जीव कहा जाता है और विद्याशक्ति प्रयोग काल में असंसारी मुक्त माना जाता है। वह ही सर्वरूप है। उसकी दोनों शक्तियों को बताते हैं :—

माययाऽधिकसम्मूढ़ो विद्ययेशः प्रकाशते।
निर्विकल्पानुसन्धाने सम्यगात्मा प्रकाशते ॥३५॥

(पदच्छेदः)

मायया अधिकसम्मूढः विद्यया ईशः प्रकाशते।
निर्विकल्पानुसन्धाने सम्यक् आत्मा प्रकाशते ॥३५॥

(सान्वयार्थः)

ईशः	= ईश्वर	आत्मा	= महेश्वर[२]
मायया	= माया शक्ति के द्वारा	निर्विकल्पानुसन्धाने	= निर्विकल्प के अनुसन्धान से
अधिकसम्मूढ़ः	= अधिक मूढ[१] हुआ हुआ (पुनः)	सम्यक्	= पूरी तौर से
विद्यया	= विद्याशक्ति के द्वारा	प्रकाशते	= प्रकाश को प्राप्त होता है।
प्रकाशते	= स्वरूप से प्रतीत होता है।		

व्याख्या

१. मोह से अर्थात् अविवेक से ग्रस्त होना ही मूढ़ता है। देहादि के साथ तादात्म्यापत्ति ही मोह है। यह भ्रम-निवन्धन-शक्ति ईश्वर की ही है। 'वलादाकृष्य मोहाय महामाया' इत्यादि शास्त्र इसी शक्ति के निर्देशक हैं। इस शक्ति से स्वयं श्रीराम ने अपने में मोह लाया था इस बात को सर्वज्ञात्म महामुनि ने स्पष्ट कहा है :—'सङ्कल्पपूर्वकम भूद्रघुनन्दनस्य नाहं विजान इति कञ्चन कालमेतत्।' (सं० २·१८२) एवं इसका परामर्श 'आत्मानं मानुषं मन्ये' इत्यादि से वाल्मीकि महर्षि ने भी किया है। एवं विद्याशक्ति के प्रयोग से पुनः स्वरूप प्राप्ति भी वहीं बताई है :—'ब्रह्मोपदेशमुपलभ्य निमित्तमात्रं तच्चोत्सर्जं स कृते सति देवकार्ये'। अतः 'ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च' यह सिद्धान्त है।

२. वही महेश्वर दोनों शक्तियों के लीन होने पर स्वरूप मात्र रह जाता है । 'विकल्पो यदि वर्तेत निवर्तेत न संशयः ।' के द्वारा वेदान्तदर्शन के आचार्य प्रवर भगवान गौडपाद इसी अजातवाद को बताते हैं । यह संसार की प्रतीति और अप्रतीति दोनों से भिन्न पूर्णाहन्ता की वह अवस्था है जहाँ सभी एकरस अखण्ड आनन्द सदाशिव ही है । 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् । निष्कलन्निष्क्रियं शान्तन्निरवद्यन्निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुन्दग्धेन्धनमिवानलम् ।। भावग्राह्यमनीडाख्यम्भावाभावकरं शिवम् । कलासर्गकरन्देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ।।' (श्वेता०) इत्यादि से श्रुति इसी स्थिति का निर्देश कर रही है । अखण्ड निर्विकल्प समाधि के निरन्तर और दीर्घकाल के अभ्यास से ही इसकी प्राप्ति संभव है । इस सहजावस्था को प्राप्त कर फिर कभी भी मोह में पड़ना संभव नहीं ।

—३६—

निर्विकल्पानुसन्धान के फलस्वरूप ही जो स्वरूप प्राप्ति है वही भगवान दक्षिणामूर्ति है । श्री दक्षिणामूर्ति ही सारे शास्त्रों का लक्ष्य है अतः—

अविद्याख्यतिरोधानव्यपायेपरमेश्वरः ।
दक्षिणामूर्तिरुपोसौ स्वयमेव प्रकाशते ।।३६।।

(पदच्छेदः)

अविद्याख्यतिरोधानव्यपाये परमेश्वरः ।
दक्षिणामूर्तिरूपः असौ स्वयम् एव प्रकाशते ।।३६।।

(सान्वयार्थः)

अविद्या-ख्य-तिरोधान-व्यपाये	= अज्ञान रूपी आवरण के सर्वथा हट जाने पर	दक्षिणा-मूर्तिरूपः	= दक्षिणामूर्ति के आकार से
असौ	= यह	स्वयम्	= खुद
परमेश्वरः	= परमेश्वर[1]	एव	= ही
		प्रकाशते	= प्रकाश[2] स्वरूप से रहता है ।

व्याख्या

१. परमेश्वर का मायाच्छादित रूप जीव शब्द से कहा जाता है। उसी परमेश्वर का मायारहित रूप महेश्वर कहा जाता है। यह शुद्ध अहंकार से वाच्य है। पुनः सर्वविकल्पहीनावस्था में वही दक्षिणामूर्ति का वाच्य है। स्वयं कृष्णयजुर्वेद कहता है 'शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्। दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोसौ ब्रह्मवादिभिः॥' इसीलिये सभी ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त करने की कामना से निर्विकल्प अनुसन्धान में प्रवृत्त पुरुषों को इसकी उपासना ही कर्तव्य है। ये ही अद्वैत दर्शन के आदि प्रवर्तक हैं और ब्रह्माकार वृत्तिकाल में सभी साधकों के अन्तःकरण में स्पष्टरूप से प्रकट होते हैं। ब्रह्माकारवृत्ति-विशिष्टान्तःकरण प्रतिफलित चैतन्य के वृत्तिहीनावस्था में स्वरूप का अखण्ड निरन्तर प्रवाह करना ही उनका एकमात्र तटस्थ लक्षण है। और यही उनका स्वरूप है।

२. भगवान दक्षिणामूर्ति सर्व भावाभाव विकल्प निवृत्ति स्वरूप अधिष्ठान होने से किसी से भी प्रकाशित नहीं होते। उनका स्वयं प्रकाश है। जीव अपने जीवत्व की निवृत्ति के द्वारा उनम स्थित होता है, उनको जानना संभव नहीं। वे स्वयं स्वयं को ही जानते हैं। वृत्त्यभाव और वृत्ति दोनों ही उन्हें नहीं पा सकतीं।

—३७—

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।
प्रबन्धे मानसोल्लासे चतुर्थोल्लाससंग्रहः॥३७॥

इस प्रकार श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लास नामक प्रबन्ध का चतुर्थोल्लास संक्षेप से समाप्त हुआ।

प्राचीनकाल में भी अनेक तन्त्र मन्त्रवादी अपने चमत्कार से जनता को मुग्ध कर भ्रान्त पथों में ले जाते थे। आज के वैज्ञानिक भी ऐसा ही कर रहे हैं। प्राचीनकाल में भी स्वयं भगवान भाष्यकार को मारने का उपक्रम भी बना दिया गया था। आज भी वैज्ञानिक सभ्यता की आड़ में समष्टि मृत्यु का आयोजन कर रहे हैं और उनके अनुयायी अपने देशों के तत्वविचारकों को नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। पर न वे सफल हो पाये थे और न भगवान दक्षिणामूर्ति के उपासकों को इनसे भय है। अन्तिम विजय तो सत्य की निश्चित है।

२. आकाश अप्रत्यक्ष होने से तत्त्व नहीं स्वीकार किया गया। वायु तो त्वाच प्रत्यक्ष का विषय है। तेज, जल और पृथ्वी की प्रत्यक्षता तो निर्विवाद हैं। इन महाभूतों के भिन्न मिश्रणों से ही जगन्निर्माण में भिन्नता है।

यद्यपि आज भूतचतुष्टय वाद की कमर टूट चुकी है पर इसका मूल सिद्धान्त है चेतन को तत्त्व स्वीकार न करना। जड़ से चेतन की उत्पत्ति दर्शन का एक सिरा है और चेतन से जड़ की उत्पत्ति दूसरा सिरा। बीच के सभी दार्शनिक दोनों में कारणता स्वीकार करते हैं। जो जितना जिसके अधिक समीप है वह उतना ही किसी एक को प्रधान मानता है। आज भी लोकायतों का नव्य आसुर सम्प्रदाय जड़ से ही समुद्र के बुलबुले के रूप में प्राथमिक जीव की उत्पत्ति मानकर सृष्टि के चेतन तत्त्व का निराकरण करता है अतः दोनों के आधारभूत सिद्धान्तों में एकता है। वेदान्ताचार्यों का जो खण्डन प्राचीन आसुरों के प्रति था वह आज भी उतना ही सत्य है। चेतन को ही एक तत्त्व मानने से वैदिक धर्म ही इस जडवाद का प्रधानविरोधी है।

३. मोक्ष अर्थात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति। जब तक देह है तब तक देह को मछली में काँटे की तरह सुख दुःख दोनों का अनुभव अवश्यंभावी है। देह से भिन्न आत्मा है नहीं जो दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति को देह के बिना प्राप्त करे। अतः देह की मृत्यु से ही दुःख की पूर्णनिवृत्तिरूप मोक्ष है।

४ पुरुषेणाभिलषणीयौ सम्पाद्यौ च पुरुषार्थौ । अल्पार्थक प्रत्यय से सिद्धान्ती इन्हें धर्म और मोक्ष की अपेक्षा निकृष्ट बता रहा है । वस्तुतस्तु चार्वाक काम को ही पुरुषार्थ स्वीकार करता है एवं अर्थ को उसके साधन रूप से ही मानता है ।

—२—

भूत चतुष्टय को ही प्रमेय स्वीकार करने से उनके परिणाम कराने वाले सर्व लोक प्रसिद्ध परमेश्वर का क्या होगा ? प्राणियों में जन्म से ही सुख दुःख की प्राप्ति में भिन्नता देखी जाती है । कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना मानना असंगत है । देहोत्पत्ति के पूर्व जीव-चैतन्य का अभाव मानने से उस जीवचैतन्य के सुख दुःख के कारण का निरूपण असंभव है । देहोत्पत्ति के पूर्व चैतन्य मानने पर तो देहातिरिक्त आत्मा की सिद्धि हो जायगी ! पूर्वक्त धर्म अधर्म रूपी कारण वैचित्र्य से सुख-दुःखात्मक कार्य वैचित्र्य की सिद्धि ही व्यवस्था में हेतु हो सकती है । अतः भूतों के अधिष्ठाता रूप से ईश्वर, और सुख-दुःखानुभूता एवं धर्माधर्मकर्तारूप से जीव, भी पदार्थ स्वीकर्तव्य हैं । ऐसी शङ्का प्राप्त होने पर कहते हैं:—

नहि खल्वीश्वरः कर्ता परलोककथावृथा ।
देहं विनाऽस्ति चेदात्मा कुम्भवद्दृश्यताम्पुरः ॥२॥

(पदच्छेदः)

न हि खलु ईश्वरः कर्ता परलोककथा वृथा ।
देहम् विना अस्ति चेत् आत्मा कुम्भवत् दृश्यताम् पुरः ॥२॥

(सान्वयार्थः)

हि	=जिस कारण[1] से	परलोक-कथा	= दूसरे जन्म में भोगने की और अन्य लोकों में मरणानन्तर[4] जाने की बातें
ईश्वरः	=ईश्वर[2]		
खलु	=निश्चितरूप[3] से		
कर्ता	=(संसार) बनाने वाला		
न	=नहीं है ।	वृथा	=फालतू हैं ।

आत्मा	= आत्मा (चेतन तत्त्व)	अस्ति	= है (तो)
चेत्	= यदि	कुम्भवत्	= घड़े की तरह
देहम्	= शरीर के	पुरः	= सामने
विना	= विना	दृश्यताम्	= दिखे ।

व्याख्या

१. भूतचतुष्टयों की ही तत्त्वता में युक्ति है और परलोक कथा में हेतु हैं।

२. परवादी कल्पित इतना वाक्य शेष समझना चाहिये। अन्यथा पक्ष ही असिद्ध हो जायगा।

३. प्रायः ईश्वरवादी परिवर्तन से ईश्वर की सिद्धि करते हैं। क्रिया के प्रति कर्ता की अपेक्षा मानना अनुभव विरुद्ध है। पदार्थों का स्वभाव ही है वदलते रहना। वेद में भी 'स्वभावमेके कवयो वदन्ति' (श्वे० ६·१) कहकर इसका परिमोदन किया है। स्वभाव से ही पदार्थ बढ़ते हैं और परिणाम को प्राप्त होते हैं। वृक्ष को बढ़ाने वाला कोई दिखता नहीं। दूध को रात में दहीरूप से कौन वदलता है? छूटने के वाद बाण को कौन चलाता रहता है? नदी को कौन प्रवाहित करता है? पहाड़ क्यों बढ़ते जा रहे हैं? खेत में वोये वीज को निरन्तर अंकुरादिरूप से कौन वदलता रहता है? सर्वत्र परिवर्तन के पीछे चेतन सत्ता की अनुपलब्धि क्रिया में चेतनता के अवश्यं भाविता के व्याप्तिग्रह की प्रतिवन्धिका है। अतः परिणमयिता की अनुभूति न होने के कारण अनुपलब्धि प्रमाण के बल से उसकी सत्ता भी सिद्ध नहीं हो सकती। फिर जगत्कर्ता रूप से ईश्वर की कल्पना की आवश्यकता ही सिद्ध नहीं होती।

इसी प्रकार सुखादि वैचित्र्य भी तत्तत्सङ्घात स्वभाव से ही उपपन्न हो सकता है। उसमें अलौकिक पुण्यपापादिकल्पना अनावश्यक है। जिस प्रकार पदार्थों का स्वभाव है वैसे ही संघात गत अवयवों के भेद से संघात स्वभाव भी भिन्न भिन्न है। अतः कहा गया है 'स्वर्गः

कर्तृक्रियाद्रव्यनाशेपि यदि यज्वनाम् । भवेद्दावाग्निदग्धानाम्फलं स्याद्भूरि भूरुहाम् ।।'

४. आत्मा की सिद्धि न होने पर दूसरा जन्म स्वतः असिद्ध है। यदि जन्मान्तर होता तो किसी को स्मरण भी होता और अपने घर-वालों को सान्त्वना देने भी आता। लोक तो कहाँ हैं इसी का निर्णय नहीं। अतः ये सब तो 'त्रिदण्डम्भस्मगुण्ठनम् । बुद्धिपौरुषहीनानाञ्जीविकेति बृहस्पतिः।' हमें तो काम के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

५. जो पदार्थ होता है, उसका प्रत्यक्ष होता है, घड़े की तरह, अतः अप्रत्यक्ष होने के कारण आत्मा पदार्थ नहीं है। अमूर्तद्रव्य के सद्भावसाधक का कोई प्रमाण ही नहीं है। अतः प्रत्यक्ष विरुद्ध आत्मा स्वीकार न करे।

--३—४--

देह की आत्मरूपता में प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं :—

ह्रस्वो दीर्घो युवा बाल इति देहोभिदृश्यते ।
अस्ति जातः परिणतो वृद्धः क्षीणो जरन्मृतः ।।३।।
इत्येवमुक्ताष्षड्भावविकारा देहसंश्रयाः ।
वर्णाश्रमविभागश्च देहेष्वेव प्रतिष्ठितः ।।४।।

(पदच्छेदः)

ह्रस्वः दीर्घः युवा बालः इति देहः अभिदृश्यते ।
अस्ति जातः परिणतः वृद्धः क्षीणः जरत् मृतः ।।३।।
इति एवम् उक्ताः षट् भावविकाराः देहसंश्रयाः ।
वर्णाश्रमविभागः च देहेषु एव प्रतिष्ठितः ।।४।।

(सान्वयार्थः)

ह्रस्वः	=नाटा,	इति	=इन प्रकारों से
दीर्घः	=लम्बा,	देहः	=शरीर
युवा	=जवान,	अभिदृश्यते	=दिखता है।
बालः	=बच्चा,	अस्ति	=सत्ता,

जातः	=जन्म,	षट्	=छै
परिणतः	=बढ़ना, (जवानी)	भावविकाराः	=भाव विकार
वृद्धः	=आकार में परिवर्तन, (बुढ़ापा)	उक्ताः	=कहे गये हैं ।
क्षीणः	=घटना, (दुर्बल)	च	=और
जरत्	=जीर्ण होते हुये	देहेषु	=शरीर में
मृतः	=मरना,	एव	=ही
इति एवम्	=इन प्रकारों[२] से	वर्णाश्रम-विभागः	=वर्ण[३] और आश्रम[४] का भेद
देहसंश्रयाः	=देह को आश्रय करके ही	प्रतिष्ठितः	=प्रतिष्ठा[५] को प्राप्त करता है ।

व्याख्या

१. आत्मा अहम्पद का वाच्य है । ये सारे गुण देह में प्रत्यक्ष होते हैं और आत्मा के कहे जाते हैं अतः आत्मा और देह की एकता सिद्ध हो रही है । जैसे जो सास्ना वाली है वह गाय है यह लक्षण समझकर जहाँ सास्ना देखे वहाँ गाय मानना पड़ता है वैसे ही मैं यह आत्मा है । मैं नाटा, दुवला आदि कहकर आत्मा में इनका अभेद वताया और नाटा आदि को देह में देख आत्मा और देह में अभेद वताया ।

२. सारे पदार्थ इन छै विकारों से युक्त होते हैं । प्रत्येक घटादि में सत्ता है, उत्पन्न हुआ है । पहले कपालाकार था फिर पूर्णाकार हुआ। पुराना होकर छेदवाला होता है । अन्त में टुकड़े होकर चूर्ण रूप मिट्टी बन जाता है । इसी प्रकार देह भी रजवीर्य के मिश्रण से उत्पन्न होता है, स्थित है, बुलबुल आदि आकारों को प्राप्त कर बालक युवा होता हुआ वृद्धत्व एवं मृत्यु को प्राप्त होता है । इन विकारों से युक्त देह ही है, आत्मा नहीं अतः विकारवाला देह है आत्मा नामक भिन्न पदार्थ नहीं । कोई भी वादी इन विकारों का आत्मा से सम्बन्ध स्वीकार करता नहीं और इनके अनुभूता रूप से उसके मानने की आवश्यकता नहीं । अतः आत्मा असिद्ध है ।

३. ब्राह्मणी में ब्राह्मण से उत्पन्न ब्राह्मण वर्ण । क्षत्राणी में क्षत्रिय

से उत्पन्न क्षत्रिय वर्ण इत्यादि लक्षण वर्ण को देहाश्रित ही मानते हैं। सूक्ष्म शरीर या आत्मा में तो ब्राह्मणत्वादि धर्म वैदिक भी स्वीकार करते नहीं। ऐसा मानने पर तो वर्ण की नित्यता स्वीकार करनी होगी जो शास्त्र विरुद्ध है।

४. अविप्लुत-वीर्यवान् ब्रह्मचारी, समान वर्ण वाली असगोत्र सलक्षण अक्षतयोनि कुमारी को ब्राह्मादि विधि से पत्नी बनावे तो गृहस्थ, तप:प्रधान होकर अग्नि सेवनादि करते हुये वन में रहे तो वानप्रस्थ और शमदमादि का अभ्यास करते हुये अपरिग्रही होकर विरजा होमादि से संस्कृत श्रवणमननयोग तत्पर संन्यासी होता है। ये सभी धर्म देहाश्रित ही हैं।

५. आस्तिकों का सारा शास्त्रीय व्यवहार वर्णाश्रमविभाग पर ही स्थित है। जब यह विभाग ही देह में है तो उनका व्यवहार भी देह को ही विषय करता है। उस व्यवहारार्थ भी आत्मा को मानना अनावश्यक है। अत: आस्तिक मत ठीक हो तो भी आत्मा सिद्ध नहीं होता।

—५—

जातकर्मादिसंस्कारो देहस्यैव विधीयते।
शतंजीवेतिदेहस्य प्रयुञ्जन्त्याशिषं शुभाम्।
इति प्रपंचं चार्वाको वाचयत्यल्पचेतनः ॥५॥

(पदच्छेद:)

जातकर्मादिसंस्कार: देहस्य एव विधीयते।
शतं जीव इति देहस्य प्रयुञ्जन्ति आशिषम् शुभाम् ॥
इति प्रपञ्चम् चार्वाक: वाचयति अल्पचेतन:* ॥५॥

(सान्वयार्थ:)

जातकर्मादिसंस्कार:	= जातकर्म वगैरह संस्कार[1]	विधीयते	= विहित हैं।
		शतम्	= सौ बरस
देहस्य	= शरीर सम्बन्धी	जीव	= जीओ[2]
एव	= ही (निमित्त)	इति	= इस प्रकार से

शुभाम् =अच्छा
आशिषम् =आशीर्वाद
देहस्य ={ शरीर सम्बन्धी (निमित्त)
प्रयुञ्जन्ति =प्रयोग करते हैं।
इति =ऐसी

प्रपञ्चम् =प्रपंच रचना को
अल्पचेतनः ={ अत्यन्त मोटी बुद्धि वाला[३]
चार्वाकः =चार्वाक
वाचयति =बांचता[४] है।

व्याख्या

१. अड़तालीस या सोलह सभी संस्कार देह के लिये ही हैं। वैदिकों के यहाँ संस्कारों से ही मानव की शुद्धि और अभ्युदय निःश्रेयस् स्वीकृत है। यह संस्कार देह के ही हैं और उसे ही शुद्ध करते हैं। मनु ने कहा भी है 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयङ्क्रियते तनुः।' अतः वैदिक भी देहात्मवादी ही हैं। अशरीरी के संस्कार असंभव हैं।

२. जीने का आशीर्वाद नित्य आत्मा को तो दिया नहीं जा सकता अतः देहसंबंधी ही मानना पड़ेगा। यदि आत्मा देह से भिन्न होता तो उसके भी संस्कार, वर्ण आश्रम, आशीर्वचन आदि कहीं देखे जाते। अतः आत्मा केवल दार्शनिकों की निरर्थक कल्पना है। वास्तविक तो वेदानुयायी भी देह को ही मानते हैं और उसके निमित्त ही उनके कपोलकल्पित शास्त्र हैं। उससे श्रेष्ठ हैं युक्ति अनुभव से सिद्ध देह को पुष्ट, युवा, भोगसामर्थ्य वृद्धि करने वाले वैज्ञानिक योग। आज का चार्वाक सम्प्रदाय भी इसी से भोजनादि में सारे नियन्त्रणों को तोड़, शौचाचारविहीन होकर केवल देह पुष्टि में लगा हुआ सारे मानव समाज को पशुता से भी अधिक विकृत बनाने के गौरव को प्राप्त करने का यत्न कर रहा है।

३. सूक्ष्म पदार्थों को अनुभव करने के लिये बुद्धि की सूक्ष्मता आवश्यक है। कविता, संगीत आदि को समझने के लिये भी पाद-पांसु कृषक समर्थ नहीं हो पाता। आज केवल सिनेमा के गन्दे दृश्यों को कला, अश्लील शब्द समुदाय को संगीत, अखबारों में मानवता के पतनस्तर की सीमानिर्देशकों को संस्कृति समझने वाले यदि आत्मा

के विषय में सन्देह करते हैं तो आश्चर्य नहीं। साम्यवाद के प्रधान नेता ने ताजमहल देखकर कहा था यह तो गरीबों की चूस का प्रतीक है। आज तो भीषण बाँधों को मन्दिर मानने को कहा जा रहा है। ऐसे व्यक्तियों में सूक्ष्मभावनाओं का अत्यन्त अभाव होना स्वाभाविक है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के विज्ञान विभाग के अध्यक्ष ने कहा था कि शरीर की प्राकृतिक खुजलाहट मिटाना ही प्रेम करना है। ऐसे व्यक्तियों से आत्मा के विषय में विचार कराना आकाशपुष्प है। पर अति दीर्घकालीन जीवन के दुःखों का अनुभव अन्त में पुण्यपुंजों के परिपाक से जीव को विवेक में प्रवृत्त करता है। हमें परमेश्वर की तरह ही अत्यधिक धैर्य से उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये। यहाँ उन्हें स्थूल पदार्थों में आसक्त होने के कारण स्थूलधी कहा है कोई आक्षेपार्थ नहीं।

४. अपने शिष्यों के सामने इसी प्रकार की बातों को बढ़ा-चढ़ा कर कहने वाले ग्रन्थों को सुनाता है।

*वंचयत्यल्पचेतनः इति पाठान्तरम्।

—६—

भूतसंघातमात्र देह को आत्मा मानने पर मृतदेह में कोई भी भेद दृष्टिगोचर न होने के कारण चेतनता होनी चाहिये। पर किसी भी प्रत्यक्ष प्रमाण से उसमें चेतनता या चैतन्यनिमित्तक क्रियाओं की अनुपलब्धि के कारण उससे भिन्न चेतन मानना पड़ता है। प्रत्यक्ष से यह भी सिद्ध होता है कि जहाँ जहाँ प्राण है वहाँ चेतनता भी है। अतः प्राण को ही आत्मा स्वीकारना चाहिये। मृत देह में प्राणाभाव से चेतनाभाव भी है। प्राणों को आत्मा मानने के कारण ये देहात्मवादी चार्वाकों से भिन्न हैं। प्राणोपस्थिति से देह चैतन्य और प्राण निर्गमन से जड़ है। आज कल भी फ्रांस देश के विद्वान् हेनरी बर्गसान (elan vital) प्राणात्मवादी ही हैं। स्वयं डार्विन भी प्रायः इसी सिद्धान्त को मानता था। इस वाद का निरूपण करते हैं:—

केचिच्छ्वसिमि जीवामि क्षुधितोस्मि पिपासितः।
इत्यादिप्रत्ययबलात् प्राणमात्मेति मन्वते ॥६॥

(पदच्छेदः)

केचित् श्वसिमि जीवामि क्षुधितः अस्मि पिपासितः ।
इत्यादि प्रत्ययबलात् प्राणः आत्मा इति मन्वते ।।६।।

(सान्वयार्थः)

केचित्	=कुछ लोग[1]	इत्यादि	=वगैरह
श्वसिमि	=साँस लेता हूँ,	प्रत्ययबलात्	=अनुभव के कारण
जीवामि	=जीता हूँ,	प्राणः	=प्राण
क्षुधितः	=भूखा[2]	आत्मा	=आत्मा है
पिपासितः	=प्यासा	इति	=इस प्रकार
अस्मि	=हूँ,	मन्वते	=मानते हैं ।

व्याख्या

१. ये भी अनात्मवादी होने से चार्वाक ही हैं, पर पूर्वापेक्षया भिन्न हैं ।

२. भूख, प्यास प्राणों के धर्म हैं । जीवन प्राण का चिह्न है ।

—७—

इनसे भिन्न चार्वाकों के इन्द्रियात्मवाद का निरूपण करते हैं :—

केचिच्छृणोमि पश्यामि जिघ्रामि स्पन्दयाम्यहम् ।
इतीन्द्रियाणामात्मत्वं प्रतियन्ति ततोधिकम् ।।७।।

(पदच्छेदः)

केचित् शृणोमि पश्यामि जिघ्रामि स्पन्दयामि* अहम् ।
इति इन्द्रियाणाम् आत्मत्वम् प्रतियन्ति ततः अधिकम् ।।७।।

(सान्वयार्थः)

केचित्	=कुछ लोग[1]	इति	=इस प्रकार से
अहम्	=मैं	ततः	=उससे[2]
शृणोमि	=सुनता हूँ,	अधिकम्	=ज्यादा
पश्यामि	=देखता हूँ,	इन्द्रियाणाम्	=इन्द्रियों की
जिघ्रामि	=सूँघता हूँ,	आत्मत्वम्	=आत्मता को
स्पन्दयामि	=हिलता हूँ,	प्रतियन्ति	=मानते हैं ।

व्याख्या

१. चार्वाकों में ही कुछ लोग इन्द्रियों के क्रियावान होने पर ही स्वचैतन्य का भान होने के कारण आत्मा को इन्द्रियों से अभिन्न मानते हैं। इन्द्रियों से भिन्न प्राण सत्ता अप्रामाणिक है। चूंकि प्रत्येक इन्द्रिय केवल एक विषय को प्रत्यक्ष करती है और इन्द्रियाँ अनेक हैं अतः आत्माएँ भी एक ही देह में अनेक स्वीकार्य हैं।

वस्तुतस्तु इन्द्रियों को भिन्न आत्मा मानने पर सभी इन्द्रियों को भिन्न विषयों में युगपत् प्रवृत्तिकी सामर्थ्य भी होनी चाहिये और अनेक ज्ञान एक साथ संभव नहीं होते। सुषुप्ति में इन्द्रियों की गति न होने पर भी प्राण क्रियाशील रहते हैं। अतः इन्द्रियात्मवाद इष्ट नहीं है।

२. भूतसंघात से अधिक।

*जिघ्राम्यास्वादयाम्यहम् इतिपाठभेदः।

श्लोक क्रम भी यहाँ भिन्न मिलता है। श्लोक पाठानुसार क्रम में यह श्लोक पीछे आता है। अर्थक्रम से पहले आता है।

—८—

अब गौतम बुद्ध के मत को बताते हैं:—

जानामि प्रत्ययबलाद् बुद्धिरित्यपरे जगुः।
मायाव्यामूढचित्तानां तेषां दूषणमुच्यते ॥८॥

(पदच्छेदः)

जानामि प्रत्ययबलात् बुद्धिः इति अपरे जगुः।
मायाव्यामूढचित्तानाम् तेषाम् दूषणम् उच्यते ॥८॥

(सान्वयार्थः)

अपरे	=अन्य लोग	तेषाम्	=इन सब
जानामि-प्रत्यय-बलात्	=‘मैं जानता हूँ’ इस ज्ञान[१] के आधार से	माया-व्या-मूढचित्ता-नाम्	=अज्ञान[२] से अत्यन्त अवि-वेकी चित्तवालों के
बुद्धिः	=बुद्धि	दूषणम्	=दोषों को
इति	=(आत्मा है) ऐसा	उच्यते	=बताया जाता है।
जगुः	=कहते हैं।		

व्याख्या

१. स्वप्न में इन्द्रिय और प्राणों का अभाव होने पर भी जानने वाली बुद्धि अविकल रूप से विद्यमान रहती है। जागृत् काल में भी बुद्धि यदि विषयानुभव में लगी न हो तो विषयेन्द्रियस्पृष्ट अवस्था में भी व्यवहार का उदय नहीं होता अतः इन्द्रिय और प्राणों से भिन्न बुद्धि को स्वीकार करना पड़ता है और वही बुद्धि आत्मा है। ऐसा बौद्धों के विज्ञान वादियों की मान्यता है। इनके मत में विज्ञान क्षणस्थायी है। अतः आत्मा भी क्षणिक है। इसीलिये भाष्यकारों ने 'चला' विशेषण लगाया है। प्रत्येक बार विशिष्ट चेतन जिसमें सारे पूर्वानुभव संस्कार रूप से मौजूद हैं, पैदा होकर अगले क्षण में नष्ट होते हैं। पूर्वानुभवसंस्कार विद्यमानता विशिष्ट अखण्ड प्रवाह ही इसके चिरस्थायित्व की भ्रान्ति का कारण है।

इससे श्लोक में उक्त शून्यवादियों का भी उपलक्षण समझना चाहिये। सुषुप्ति में विज्ञानाभाव है एवं अन्य अवस्थाओं में आकस्मिक उदय है अतः अभाव रूप शून्य से ही विज्ञानोत्पत्ति होने से स्वरूप आत्मा तो अभाव रूप शून्य ही है।

अन्य नास्तिक मतों का भी यहाँ उपलक्षण है।

२. 'ज्ञानिनामपि चेतांसि' (दु० १.५५) 'मम माया दुरत्यया' (गी० ७.१४) इत्यादि शास्त्र से माया की प्रबलता स्पष्ट है। माया ही इन सब वादों के द्वारा लोगों को संसार चक्र में भ्रान्त करती रहती है। यही सदाशिव की बन्धन शक्ति है। इसके दूषणों को दिखाने का तात्पर्य किसी वादी का खण्डन करके जय करना नहीं है क्योंकि वैदिक सिद्धान्त प्रवर्तक भगवान दक्षिणामूर्ति ने मौन को ही उपदेश का श्रेष्ठतम ढंग माना है और भगवान शंकर भगवत्पादाचार्य के परम गुरु भगवान् गौडपादाचार्यों ने 'अनुमोदामहे वयम्' 'तेनायन्नविरुध्यते' इत्यादि उक्तियों से किसी का भी खण्डन करना उचित नहीं समझा है। स्वयं भाष्यकार भी सर्वतन्त्रसमन्वयाचार्य ही होकर जगद्गुरु इस यथार्थ पद को प्राप्त कर गये हैं। परन्तु जिस प्रकार मायाशक्ति उस

महेश्वर की है उसी प्रकार विद्याशक्ति भी है। विद्याशक्ति मायाशक्ति की विरोधिनी है क्योंकि वह मोचनशक्ति है। उस निर्विकार सदाशिव में तो दोनों ही शक्तियाँ सामरस्येन रहती हैं परन्तु जीव दृष्ट्या विचार प्रवृत्त होता हैं। अतः स्तोत्र का उद्देश्य केवल इस शक्ति का प्राकट्य है। उत्तम अधिकारी को यदि मतान्तर की कमजोरियों का पता न लगे तो वह ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकेगा? अतः किसी की निन्दा नहीं वरन् साधक को बन्धन मार्ग से बचाना ही उद्देश्य है। मायाशक्ति पर भी हमारी उतनी ही पूज्य दृष्टि है जितनी विद्याशक्ति पर। अतएव हम उसके द्वारा विलसित कल्पनाओं का विरोध करें यह असंभव है। पर उन सभी का संहार विद्याशक्ति में अधिष्ठित भगवान दक्षिणामूर्ति करें यह स्वाभाविक है।

देहम्प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्यं विदुः
स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमिति भ्रान्ता भृशं वादिनः।
मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

(पदच्छेदः)

देहं प्राणं अपि इन्द्रियाणि अपि चलां बुद्धिं च शून्यं विदुः
स्त्री-बाल-अन्ध-जड-उपमाः तु अहं-इति भ्रान्ताः भृशं वादिनः
माया-शक्ति-विलास-कल्पित-महाव्यामोह-संहारिणे तस्मै०

(सान्वयार्थः)

स्त्री-बाल-अन्ध-जड-उपमाः	= स्त्री, बालक, अंधे या जड़मूर्ख की विवेक रहितता के समान	अपि	= और
		इन्द्रियाणि	= इन्द्रियों को
		अपि	= और
		चलांबुद्धि	= क्षणिक विज्ञान को
भृशं	= अत्यन्त	च	= एवं
भ्रान्ताः	= भ्रम में पड़े हुए	शून्यं	= अभाव को (ही)
वादिनः तु	= वादी लोग तो	अहं-इति	= "मैं" इस रूप से (आत्मरूप से)
देहं	= स्थूल शरीर को,		
प्राणं	= प्राण को	विदुः	= समझते हैं, (पर)

माया-शक्ति-विलास-कल्पित-महा-व्यामोह-संहारिणे	= माया रूपी शक्ति के विस्तार से व्यक्त इस महान भ्रम को नाश करने वाले	तस्मै०	=	उस···भगवान को नमस्कार है

[आत्मा चेतन है। देह, इन्द्रिय, मन, अभाव आदि माया के कार्य होने के कारण जड हैं, अतः अनात्मा हैं। तथापि विचार न करने वाले विचाराभिमानी इन्हें आत्मा मान बैठते हैं। श्रीदक्षिणामूर्ति ही इस अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ हैं।]

इदमस्य तात्पर्यम्:— इस का यह भावार्थ है:—

—९—

देहादीनां जडार्थानां पाषाणवदनात्मनाम्।
कथं भवेदहम्भावः समावेशं विनेशितुः ॥९॥

(पदच्छेदः)

देहादीनाम् जडार्थानाम् पाषाणवत् अनात्मनाम्।
कथम् भवेत् अहम्भावः समावेशम् विना ईशितुः ॥९॥

(सान्वयार्थः)

ईशितुः	= महेश्वर[1] के	देहादीनाम्	= शरीर आदियों का
समावेशम्	= प्रवेश के	कथम्	= किस प्रकार
विना	= विना	अहम्भावः	= चेतन रूप मैं-पना[4]
पाषाणवत्[2]	= पत्थर की तरह	भवेत्	= हो सकता है।
अनात्मनाम्	= अचेतन		
जडार्थानाम्[3]	= जड पदार्थ		

व्याख्या

१. ऋग्वेद स्पष्ट बताता है कि सारे शरीर, इन्द्रियों, देवताओं आदि का निर्माण करने पर भी भौतिक प्रपंच में चैतन्य नहीं आया। उसमें सूंघना, देखना कुछ भी न हो पाया। 'स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यात्' (ऐ० ३.११) तब महेश्वर ने विचार किया यह सब

मेरे द्वारा ही हो सकता है क्योंकि एकमात्र चेतनसत्ता मैं ही हूँ। अतः उसने प्रवेश किया। उसके प्रवेश से ही सब चैतन्य हो गया। इस कथानक से श्रुति का प्रतिपादित अर्थ यही है कि संसार में एकमात्र चेतन सदाशिव हैं। उनके बिना यह जड़ प्रपंच कभी चेतन नहीं हो सकता। जड से चेतन की उत्पत्ति में सर्वथा दृष्टान्त का अभाव है। अतः सभी जड़वादियों के विरुद्ध यह युक्ति समझनी चाहिये।

२. देहादयो बुद्ध्यन्ता अनात्मानो, जडत्वात्, पाषाणवत्। जडत्वं दृश्यत्वात्तद्वदेवेत्यर्थः।

३. जडाश्च ते अर्थाश्चेति जडार्थाः। अर्था विषया दृश्या इत्यर्थः।

४. पान में लाल रंग या मादकता आदि चार्वाकों के दृष्टान्त दृश्य से दृश्योत्पत्ति में हैं, दृश्य से द्रष्टा की उत्पत्ति में नहीं। आधुनिक वैज्ञानिक भी चेतनोत्पत्ति में असमर्थ रहे हैं। मानववत् यंत्र में भी चेतनता का अभाव है। 'मैं पना' ही चेतनता है। यह स्वयं में ही अनुभूत है। अतः इसकी दृश्य से उत्पत्ति सर्वथा अनुपपन्न है। शालभंजिकावत् सर्वत्र समझना चाहिये।

—१०—

सभी मतवादियों में सामान्य दूषण देकर अब प्रत्येक पक्ष के विशेष दूषणों को बतलाते हैं :—

देहस्तावदयन्नात्मा दृश्यत्वाज्जाड्यवत्त्वतः।
रूपादिमत्त्वात्सांशत्वाद्भौतिकत्वाच्च कुम्भवत् ॥१०॥

(पदच्छेदः)

देहः तावत् अयम् न आत्मा दृश्यत्वात्* जाड्यवत्त्वतः।
रूपादिमत्त्वात् सांशत्वात् भौतिकत्वात् च कुम्भवत् ॥१०॥

(सान्वयार्थः)

तावत्	=पहले	कुम्भवत्	=घड़े की तरह
अयम्	=यह	जाड्यवत्त्वतः	= { अचेतनता[1] के कारण,
देहः	=शरीर		

रूपादिमत्त्वात्	= रूपादिमानता के कारण,	भौतिकत्वात्	= भूतविकारता के कारण
सांशत्वात्	= सावयवता के कारण,	दृश्यत्वात्	= दृश्य[२] होने के कारण,
च	= और	आत्मा	= आत्मा[३]
		न	= नहीं है[४]।

व्याख्या

१. जाड्यवत्त्वं स्फुरणभिन्नत्वम्। शरीर स्फुरणरूप तो स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि खम्भे की तरह अपनी सत्ता में स्फुरण का व्यभिचार देखा जाता है।

२. दृश्यत्वन्नाम पराधीनप्रकाशत्वम्। जो अपने सत्ता सिद्धि के लिये किसी दूसरे पर आधारित हो वह दृश्य कहा जाता है। संसार में स्वयं को छोड़ कर सभी सिद्धि के लिये पराधीन हैं अतः स्वयं को छोड़ सभी दृश्य हैं। वेदाभिगत आत्मा तो किसी भी ज्ञान का अविषय एवं स्वप्रकाश होने से दृश्य नहीं है अतः स्वयं सिद्ध है।

३. आत्मा रूपी साध्य ही अप्रसिद्ध होने के कारण अनुमान दुष्ट नहीं है क्योंकि अहम् की प्रतीति का विषय आत्मारूप से सर्ववादि-प्रसिद्ध है। और उस प्रतीति के अभाव रूप घटादि में अनात्मता भी स्वीकृत है।

४. यहाँ दिये हुये हेतुओं का प्रत्युत्तर आधुनिक पाश्चात्यदेशीय वैज्ञानिक भी नहीं दे पाये हैं। ये हेतु वस्तुतः श्रौत हैं अतएव नित्य हैं। अनेक हेतु स्पष्टार्थता के लिये हैं, पुनरुक्ति दोष की प्रसक्ति यहाँ नहीं।

*त्वाच्च जडत्वतः इति पाठान्तरम्।

—११—

उक्त अनुमान में अप्रयोजकत्व की शंका हटाने के लिये विपक्ष बाधक तर्क बताते हैं—

मूर्छासुषुप्तिमरणेष्वपिदेहः प्रदृश्यते।
देहादिव्यतिरिक्तत्वात्तदाऽऽत्मा न प्रतीयते ॥११॥

(पदच्छेदः)

मूर्च्छासुषुप्तिमरणेषु अपि देहः प्रदृश्यते* ।
देहादिव्यतिरिक्तत्वात् तदा आत्मा न प्रतीयते† ॥११॥

(सान्वयार्थः)

देहः = शरीर[1]	देहादिव्यतिरिक्तत्वात् = शरीर से भिन्न होने की वजह से ही
मूर्च्छा-सुषुप्ति-मरणेषु = मूर्च्छा, गहरी नींद और मरने पर	आत्मा = आत्मा
अपि = भी	न = नहीं
प्रदृश्यते = साफ दिखाई देता है ।	प्रतीयते = मालूम[2] होता है ।
तदा = (परन्तु) उस काल में	

व्याख्या

१. यदि शरीर और आत्मा अभिन्न माने जावें तो शरीर प्रतीत होने पर आत्मा की अप्रतीति संभव नहीं । मूर्च्छादि अवस्थाओं में तो आत्मा की अप्रतीति सभी को माननी ही पड़ेगी । अतः उन अवस्थाओं में 'अहम्' इस प्रकार से अननुभूत और अवस्थान्तर में अनुभूत आत्मा देह से भिन्न सिद्ध होता है ।

२. सभी को उस काल में देह चेतन प्रतीत नहीं होता वरन् जलाने आदि क्रिया के हेतु से अचेतन ही प्रतीत होता है ।

*प्रतीयते इति पाठान्तरम् ।

†प्रकाशते इति पाठान्तरम् ।

—१२—

यथा जगत्प्रवृत्तीनामादिकारणमंशुमान् ।
पुमांस्तथैव देहादिप्रवृत्तौ कारणं परम् ॥१२॥

(पदच्छेदः)

यथा जगत्प्रवृत्तीनाम् आदिकारणम् अंशुमान् ।
पुमान् तथा एव देहादिप्रवृत्तौ कारणम् परम् ॥१२॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	पुमान्	=आत्मा
अंशुमान्	=सूर्य	एव	=ही
जगत्प्रवृत्तीनाम्	= {संसार की क्रियाओं[1] का	देहादिप्रवृत्तौ	= {शरीर आदि की क्रियाओं[2] का
आदिकारणम्	=मूल कारण है;	परम्[3]	=परम
तथा	=वैसे	कारणम्	=कारण है।

व्याख्या

१. सामान्यदृष्ट्या सूर्योदय होने पर ही सारे मानव, पशु, पक्षी आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं अतः वही कारण है। सूर्य के प्रकाश में जो भी कार्य होगा उसमें सूर्य कारण होगा ही। इसी दृष्टि से चोरी, हत्या आदि का कारण भी सूर्य है ही और गंगास्नान, अश्वमेध का भी वही कारण है। इसी प्रकार आत्मा भी सभी कार्यों का हेतु है। पर जैसे सूर्य कारण होनें पर भी फल से असंस्पृष्ट है वैसे ही आत्मा भी नित्य अच्युत है।

पर विचारशील पाठक कहेंगे उल्लू के कार्य के प्रति तो सूर्य कारण नहीं। सूर्याभाव को कारण मानकर तत् प्रतियोगी रूप से सूर्य की कारणता मानना नैयायिकों को भले ही स्वीकार हो जावे बुद्धिगम्य नहीं है। अतः दृष्टान्त ही असंगत प्रतीत होता है।

आदि कारण में आदि पद से वस्तुतः यहाँ भगवान सुरेश्वराचार्य एक गंभीर वैज्ञानिक तत्त्व का निर्देश कर रहे हैं। संसार में सारी शक्तियों का मूल स्रोत सूर्य ही है। लकड़ी में भी सूर्य की क्लोरोफिल से एकत्रित शक्ति ही है, जल प्रपातों में सूर्य की जल द्वारा ली गई शक्ति ही है। यदि हम अणुस्तर तक भी चले जावें तो सूर्य से ही उन अणुओं का उद्गम है अतः वहाँ भी उसी की शक्ति है। शक्ति ही क्रिया का हेतु है। इसलिये सभी क्रियाओं में सूर्य शक्ति रूप से कारण है। ठीक इसी प्रकार से आत्मा ही सभी क्रियाओं के प्रति कारण है। हमारे दार्शनिकों ने गम्भीर समाधि द्वारा जिन तत्त्वों का स्पष्ट दर्शन

किया उसकी छायामात्र को प्राप्त कर आज विज्ञान अपनी ही तारीफ में उन्मत्त होता जा रहा है। समाधि के अभ्यास से जो नैतिकता की पूर्णता आती थी उसका आज के वैज्ञानिक प्रशिक्षण में कोई स्थान न होने से ही हम अपने ज्ञान से अपना सत्यानाश करने को तैयार हो रहे हैं।

जैसे सूर्य परम्परा से कारण है साक्षात् नहीं वैसे ही देह प्रवृत्तियों में इन्द्रियादि साक्षात्कारण होने पर भी परमकारण तो आत्मा ही है।

२. प्रत्यगात्मा के विचार प्रवृत्ति में उसको देहादि की क्रियाओं का कारण कहा है। वस्तुतः आत्मा तो सभी क्रियाओं का कारण है। श्लोक में पुमान् पद अवच्छिन्न आत्मा को ही ध्वनित करता है। साक्षात् उपाधि का उल्लेख उपाधि विचार के प्रकरण में असंगत है।

अथवा केवल देहविचार में प्रकरण समझ कर पुमान् को पुर्यष्टक अवच्छिन्न आत्मा स्वीकार कर देहादि में आदि शब्द अवयव परक समझना चाहिये।

३. यहाँ यह अनुमान समझना चाहिये 'गाढान्धकारव्याप्तगुहान्तस्स्थदेहव्यापारो देहातिरिक्तप्रकाशसंसर्गनिमित्तः, देहव्यापारत्वात्, दिवा बहिर्दिवाकरप्रकाशसान्निध्यनिमित्तदेहव्यापारवदिति।'

—१३—

मम देहोयमित्येवं स्त्रीबालान्धाश्च मन्वते।
देहोहमिति नावैति कदाचिदपि कश्चन ॥१३॥

(पदच्छेदः)

मम देहः अयम् इति एवम् स्त्रीबालान्धाः* च मन्वते‡।
देहः अहम् इति न अवैति कदाचित् अपि कश्चन ॥१३॥

(सान्वयार्थः)

च	=और[1]	इति	=इस प्रकार
मम	=मेरा	स्त्री-बाला-ऽन्धाः	=औरतें, बच्चे और अन्धे[2]
अयम्	=यह		
देहः	=शरीर है	मन्वते	=मानते हैं।

कश्चन	=कोई	इति	=इस प्रकार
कदाचित्	=कभी	न	=नहीं
अपि	=भी	अवैति	=अनुभव करता है।
अहम्	=मैं		
देहः	=शरीर हूँ		

व्याख्या

१. देहात्मभेद सिद्धि में और भी अनुमान दिखाते हैं:—'देहो नात्मा, ममप्रत्ययविषयत्वात्, वस्त्रादिवत् ।' अर्थात् 'मेरा' इस ज्ञान का विषय होने के कारण शरीर आत्मा नहीं है। यदि देह आत्मा होता तो 'मैं शरीर' ऐसा ज्ञान होता परन्तु ऐसा अनुभव सार्वजनीन अनुभव के विरुद्ध है। अतः आत्मा देह नहीं हो सकता।

'मैं मनुष्य हूँ' इस अनुभव को ही देहात्मानुभव मानने पर भी स्वप्न में अहमनुभव का व्यभिचार हो जायगा। जागृत्कालीन 'मैं मनुष्य हूँ' का अनुभूता स्वप्न में कभी 'मैं सिंह हूँ' ऐसा भी अनुभव करता है। यहाँ अहम् के अनुभव की समानता होने पर भी मनुष्यादि अनुभव की विषमता से मनुष्यत्वादि धर्म वाले देह से भिन्न ही अहम् इस ज्ञान के विषय रूप से आत्मा सिद्ध होता है। अतः देह और आत्मा का भेद सर्वथा युक्ति और अनुभव से पुष्ट है।

२. सामान्यतम अपठित और अविचारशील भी देह से अपना सम्बन्ध मानता है, अपने को देह रूप नहीं। अन्धा देह को न देखने पर भी उसे खुद से अलग ही मानता है।

३. किसी भी जागृत्स्वप्नादि अवस्थाओं में।

[अनुमान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाकों के प्रति अनुमान से दोष दिखाना असंगत है। और भगवान सुरेश्वराचार्यों ने प्रत्यक्षानुभव के साथ अनुमान भी दिखाया है। इससे उन्होंने चार्वाकों के अनुमान अस्वीकृति का खण्डन निर्दिष्ट कर दिया है।

प्रत्यक्ष की अबाधितता और अन्य प्रमाणों की प्रत्यक्षसम्प्रतिपन्नता पर्यन्त सन्दिग्धतारूपी दोष अति तुच्छ है। रस्सी में सर्प भ्रम प्रत्यक्ष

ही मानना पड़ेगा। वह बाधित है। प्रत्यक्ष से प्रतीत होने वाली मृगतृष्णा का बाध आप्तवाक्य या अनुमान से होता है। स्वयं प्रत्यक्ष से कभी भी उसका बाध संभव नहीं है। अपनी माता की प्रत्यक्षता सर्वथा असंभव है। और तो क्या अपनी पीठ भी शब्द, उपमान या अनुमान से ही सिद्ध होती है। अतः शब्द या अनुमान को प्रमाणस्वीकार न करना सर्वथा भ्रम है।

विवाद में प्रत्येक वादी का अभिप्राय प्रत्यक्ष से प्रतीत नहीं हो सकता। उसके वाक्य को स्वीकार करके ही आक्षेप के समाधान में प्रवृत्ति संभव है। यहाँ भी दूसरे प्रमाणों को स्वीकार करना पड़ता है। विरुद्ध अनुभवों की व्यवस्था बनाना भी प्रत्यक्ष से संभव नहीं। जो कुछ कल्पित करके उत्तर देने वालों के वाक्य तो विद्वानों द्वारा उपेक्षणीय ही हो सकते हैं।

इष्ट और अनिष्ट के साधनों में प्रवृत्ति या निवृत्ति भी पूर्वदृष्ट-सजातीयत्वादि चिह्नों से अनुभूतपदार्थों में अनुमानतः ही संभव है। अनुमान न मानने पर तो व्यवहार लोप होकर जीवन भी दुर्लभ हो जायगा। अनुमान वश से ही हम भोजन बनाने में प्रवृत्त होते हैं।

भ्रमसंभावना तो प्रत्यक्ष में भी है ही। सीप को चाँदी या पीतल को सोना प्रत्यक्ष के बल से ही मानकर नुक्सान उठाता है। अतः भ्रमसंभावना से यदि प्रमाणान्तर को अस्वीकार करोगे तो वह उष्ट्रन्याय से प्रत्यक्ष को भी ग्रस लेगा।

अनुमानादि से सामान्य ज्ञान होता है विशेष नहीं, इस प्रकार की मान्यता भी अति तुच्छ है। शब्द से ही दशमस्त्वमसि इत्यादि स्थलों में ज्ञान है। सारे ज्ञानों में प्रत्यक्ष मूलकता तो हमें भी इष्ट है। लेकिन इतने से वे प्रत्यक्ष के अन्तर्गत तो नहीं माने जा सकते।

स्वयं अपने सुख, दुःख, प्रेम, घृणा आदि भाव भी प्रत्यक्ष नहीं हैं। अतः इन सब अनुभवों का विरोध आदि स्वीकार करने की अपेक्षा

तो श्रेष्ठ यही है कि चार्वाक अनुमान सिद्ध देह से भिन्न आत्मा को स्वीकार कर लें। अन्यथा उसका वाद स्वयं भी सिद्ध न हो सकेगा। प्रत्येक अपने प्रत्यक्ष को मानेगा और उसे कुछ भी समझाना अनावश्यक हो जायगा। वस्तुतस्तु सभी वादियों के साथ चार्वाक भी अनुमान का प्रयोग तो करता ही है। उसके विरुद्ध सिद्धि होने पर प्रत्यक्ष की दुहाई देता है। आजकल के लोग भी प्रायः देखा जाता है कि जब अपने विरुद्ध बात सिद्ध होने लगती है तो 'ये सब बातें दर्शनशास्त्र की हैं' या 'हम तो ऐसा नहीं मानते' या 'हमें दिखादो तो मानें' 'हमें तो यह सब युक्तिवाद लगता है' इत्यादि बातें कहकर या 'इसी प्रकार के युक्तिवाद से हमारा देश गुलाम हो गया' आदि आक्षेप कर अपने को अलग कर लेते हैं। ऐसे लोग बौद्धिक बेईमान या पाखण्डी ही कहे जा सकते हैं। ऐसे लोग स्वयं भ्रांत होकर केवल अपने शब्दजाल से दूसरों को भ्रान्त करने के कारण ही चार्वाक या चारुवाक् कहे जाते हैं। इन लोगों का परलोक विषयक वाद तो प्रलाप मात्र होने से सर्वथा उपेक्षणीय है।]

*बालोन्धः इति पाठभेदः।

‡मन्यते इति पाठभेदः।

—१४—१७क—

इन्द्रियाण्यपि नात्मानः करणत्वात्प्रदीपवत्।
वीणावादनवच्छ्रोत्रं शब्दग्रहणसाधनम् ॥१४॥
चक्षुस्तेजस्त्रितयवद्रूपग्रहणसाधनम्।
गन्धस्य ग्राहकं घ्राणं पुष्पसंपुटकादिवत् ॥१५॥
रसस्य ग्राहिका जिह्वा दधिक्षौद्रघृतादिवत्।
इन्द्रियाणि न मे सन्ति मूकोस्मि बधिरोस्म्यहम् ॥१६॥
इत्याहुरिन्द्रियैर्हीना जनाः किं ते निरात्मकाः ॥१७क॥

(पदच्छेदः)

इन्द्रियाणि अपि न आत्मानः करणत्वात् प्रदीपवत्।
वीणावादनवत्* श्रोत्रम् शब्दग्रहणसाधनम् ॥१४॥

चक्षुः तेजस्त्रितयवत् रूपग्रहणसाधनम् ।
गन्धस्य ग्राहकम् घ्राणम् पुष्पसम्पुटकादिवत् ॥१५॥
रसस्य ग्राहिका जिह्वा दधिक्षौद्रघृतादिवत् ।
इन्द्रियाणि न मे सन्ति मूकः अस्मि बधिरः अस्मि अहम् ॥१६॥
इति आहुः इन्द्रियैः हीनाः जनाः किम् ते निरात्मकाः ॥१७क॥

(सान्वयार्थः)

प्रदीपवत्	=दिये की तरह
करणत्वात्	=साधन होने के कारण
इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ
अपि	=भी
आत्मानः	=आत्माएँ
न	=नहीं हैं ।
श्रोत्रम्	=कान[1]
वीणावादनवत्	=वीणा बजाने की तरह[2]
शब्दग्रहणसाधनम्	=शब्द ज्ञान का साधन है ।
चक्षुः	=आँख
तेजस्त्रितयवत्	=तीन[3] तेजों की तरह
रूपग्रहणसाधनम्	=रूप ज्ञान का साधन है ।
घ्राणम्	=नाक
पुष्पसम्पुटकादिवत्	=फूलों के पुटों[4] की तरह
गन्धस्य	=गन्ध का
ग्राहकम्	=ज्ञान करने वाली है ।
जिह्वा	=जीभ
दधिक्षौद्रघृतादिवत्	=दही, घी, शहद आदि की तरह[5]
रसस्य	=स्वाद का
ग्राहिका	=ज्ञान करने वाली है ।
इन्द्रियैः	=इन्द्रियों से
हीनाः	=रहित
जनाः	=लोग
मे	='मेरे[6]
इन्द्रयाणि	=इन्द्रियाँ
न	=नहीं
सन्ति	=हैं,'
अहम्	='मैं
मूकः	=गूँगा
अस्मि	=हूँ'
बधिरः	='बहिरा
अस्मि	=हूँ'
इति	=इस प्रकार
आहुः	=कहते हैं ;
ते	=वे
किम्	=क्या[7]
निरात्मकाः	=आत्मा से रहित हैं ?

व्याख्या

१. इन्द्रियों की अनात्मता साधनरूप हेतु से सिद्ध की गई। पर इन्द्रियों की साधनता विवादास्पद है। अतः प्रत्येक इन्द्रियों की साधनता बताते हैं।

२. जैसे वीणा का बजाना शब्द को ग्रहण कराने का साधन है। अर्थात् यदि वीणा न बजती तो क्या सुना जाता। इसी प्रकार कान भी शब्द सुनने का साधन है। वीणावादन असाधारण कारण है एवं शब्द के व्यक्त होने का साक्षात कारण है। इसी प्रकार कान भी है।

३. सोम, सूर्य और अग्नि ये तीन सदाशिव के नेत्र हैं और सभी चाक्षुप ज्ञानों में इनमें से अन्यतम की आवश्यकता है। बिजली भी अग्नि ही है। जिस प्रकार ये सभी चाक्षुपों में अपेक्षित हैं वैसे ही चक्षुरिन्द्रिय भी सभी चाक्षुप ज्ञानों में अपेक्षित है।

४. फूल की गन्ध तो मकरन्द में प्रधान रूप से मानी जाती है। पर वास्तविक सुगन्ध का अनुभव साक्षात् मकरन्द की अपेक्षा पंखड़ियों में होता है क्योंकि मकरन्द उसी के आश्रित है। आश्रय भी कारण होता ही है। पंखड़ियों के सूखने पर गन्ध भी प्रायः अव्यक्त हो जाती है। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय भी कारण है।

५. स्वयं पदार्थ को तो ज्ञानार्थ प्रधान कारण सभी वादी स्वीकार करते हैं। इसके बिना तो ज्ञान होगा ही किसका ? यही बात रसना के लिए है।

वस्तुतः सभी दृष्टान्त सभी करणों में समान हैं। अतः गुणोप-संहार न्याय से ज्ञेय, ज्ञेय की अभिव्यक्ति का आश्रय, समान जाति के ज्ञान का सामान्य कारण और क्रिया करना रूप विशिष्ट कारण रूपी हेतुओं से करणों की साधनता समझनी चाहिए।

६. इन्द्रियों का ममतास्पद होने से अहं से भिन्नता सिद्ध होती है।

७. कोई भी गूंगे, अन्धे को अचेतन नहीं मानता। यह उक्त अनुमान में तर्करूप है।

[अनेक इन्द्रियाँ हैं अतः उनमें से कोई एक आत्मा है या सभी अलग अलग या सभी मिलकर। प्रथम पक्ष में विनिगमनाभाव है। द्वितीय पक्ष में अनेक आत्मा स्वीकार करने पर श्रोता, द्रष्टा, घ्राता, रसयिता, स्प्रष्टा, दाता, गन्ता, विसर्जयिता, वक्ता और उपस्थाता सभी भिन्न होंगे। सभी का स्मर्ता कौन होगा एवं आपस में एकता क्यों और कैसे होगी? अनुभव का विरोध तो स्पष्ट ही है क्योंकि जो मैं घूम रहा हूँ वही मैं कथा सुन रहा हूँ ऐसा सार्वजनीन अनुभव है। अन्तिम पक्ष में सब मिलकर किसी नवीन आत्मपदार्थ को उत्पन्न करते हैं या केवल इन्द्रियसङ्घमात्र ही आत्मा है। नवीन आत्मपदार्थ स्वीकार करने पर वह इन्द्रियों से भिन्न होने के कारण इन्द्रियात्मवाद नहीं सिद्ध होगा और संघ में अवयवों से कोई विशेष न होने के कारण आत्मत्व भी असंभव है। अतः इन्द्रियात्मवाद सर्वथा असंगत है।]

*वीणादिवाद्यवत् इति पाठान्तरम्।

‡मूकोन्धः इति पाठभेदः।

—१७—

इन्द्रियात्मवाद निराकरणानन्तर प्राणात्मवाद का निराकरण करते हैं:—

प्राणोप्यात्मा न भवति ज्ञानाभावात्सुषुप्तिषु ॥१७॥

(पदच्छेदः)

प्राणः अपि आत्मा न भवति ज्ञानाभावात् सुषुप्तिषु ॥१७॥

(सान्वयार्थः)

सुषुप्तिषु	=गहरी[1] नींद में	अपि	=भी
ज्ञानाभावात्	=ज्ञान[2] के अभाव से	आत्मा	=आत्मा
प्राणः	=प्राण	न	=नहीं
		भवति	=है।

व्याख्या

१. सुषुप्ति से यहाँ मूर्च्छा और मरण का भी उपलक्षण समझना चाहिये

२. किसी भी प्रकार के पदार्थ के ज्ञान का तात्पर्य है। क्योंकि स्वरूपभूत ज्ञान तो वहाँ रहता ही है। प्राण जैसे शरीर में चलते रहते हैं वैसे शरीर या अन्य किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं रहता। यदि प्राण आत्मा होता तो अवश्य उसके साथ ही उसको ज्ञान भी होता। देखने में आता है कि लाखों रुपये भी कोई तकिये के नीचे से ले जावे तो प्राण चलते हुए भी रक्षा नहीं करते ।

'प्राण आत्मा न भवति, स्वसत्तायाञ्चैतन्यव्यभिचाराद्, देहवदिति'।

—१८—२०—

सुषुप्ति में प्राण के चैतन्याभाव को दिखाते हैं :—

जाग्रत्स्वप्नोपभोगोत्थश्रमविच्छित्तिहेतवे ।
सुषुप्तिं पुरुषे प्राप्ते शरीरमभिरक्षितुम् ॥१८॥
शेषकर्मोपभोगार्थं प्राणश्चरति केवलम् ।
प्राणस्य तत्रचैतन्यं करणोपरमे यदि ॥१९॥
प्राणे व्याप्रियमाणे तु करणोपरमः कथम् ।
सम्राजि हि रणोद्युक्ते विरमन्ति न सैनिकाः ॥२०॥

(पदच्छेदः)

जाग्रत्स्वप्नोपभोगोत्थ-श्रमविच्छित्तिहेतवे ।
सुषुप्तिम् पुरुषे प्राप्ते शरीरम् अभिरक्षितुम् ॥१८॥
शेषकर्मोपभोगार्थम् प्राणः चरति केवलम् ।
प्राणस्य तत्र* चैतन्यम् करणोपरमे यदि ॥१९॥
प्राणे व्याप्रियमाणे तु करणोपरमः कथम् ।
सम्राजि हि रणोद्युक्ते विरमन्ति न सैनिकाः ॥२०॥

(सान्वयार्थः)

जाग्रत्-स्वप्नोपभोगोत्थ-श्रम-विच्छित्ति-हेतवे	= जाग्रत् और स्वप्नके भोग[1] करने से उत्पन्न थकावट नष्ट करने के लिये	प्राप्ते	= आने पर
		शेष-कर्मोपभोगार्थम्	= बचे हुये[2] कर्म-भोग के लिये
		शरीरम्	= शरीर की
पुरुषे	= आदमी को	अभिरक्षितुम्	= सब तरह से रक्षा करने के लिये
सुषुप्तिम्	= गहरी नींद		

केवलम्	= केवल[1]	प्राणे	= प्राण[1] के
प्राणः	= प्राण	व्याप्रियमाणे	= क्रियावान होने पर
चरति	= चलता रहता है।	तु	= तो
तत्र	= वहाँ[4]	कथम्	= कैसे
यदि	= यदि	करणोपरमः	= इन्द्रियाँ लीन रहेंगी ?
करणोपरमे	= इन्द्रियों के लीन हो जाने पर	हि	= क्योंकि
प्राणस्य	= प्राण की	सम्राजि	= सम्राट् के
चैतन्यम्[1]	= चेतनता (हो)	रणोद्युक्ते	= युद्ध में लगे रहने पर
(तर्हि	= तो)	सैनिकाः	= सेना के लोग
(प्राणः	= प्राण)	न	= नहीं
(निर्व्यापारः	= व्यापार रहित होगा)	विरमन्ति	= विश्राम करते।

व्याख्या

१. विषयानुभव पूर्व कर्म के फलस्वरूप होता है। भोग अर्थात् सुख दुःख का अनुभव। परन्तु इसमें मन, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सभी थक जाते हैं। वस्तुतः थकावट ही इस बात को सिद्ध करती है कि विषय भोग जीव का स्वभाव नहीं है। स्वभाव से विपरीत क्रिया ही कष्टप्रद है। विषयभोग में माना हुआ सुख है, और उपरामता में स्वरूपतः वास्तविक सुख है। इसीलिये उपरामता में कभी थकावट नहीं होती। यह सत्य है कि साधारण व्यक्ति निष्क्रियावस्था से भी थक सा जाता है पर उसका कारण है मन में सूक्ष्म वासनाओं की अतृप्ति। यदि वास्तविक उपरामता हो तो सर्वदा ही सुखस्फुरणता रहती है। 'तृष्णा-क्षयसुखस्यैते कलान्नार्हन्ति षोडशीम्।' भोगजन्य थकावट मिटाने के लिये ही नींद की आवश्यकता है।

प्रश्न हो सकता है पाप के फल दुःख से थकावट रूपी दुःख होता तो ठीक था पर पुण्य के फल सुख से थकावट तो ठीक नहीं। परन्तु सर्व-पापों का महामूल अज्ञान ही महापाप है जो पापपुण्य दोनों ही प्रवृत्तियों में बीजरूप से छिपा हुआ है। अतः सभी क्रियाएँ दुःखरूप हों

यह ठीक ही है। विषयानुभव के अभाव में सुषुप्ति सुख की अभिव्यक्ति करती है।

२. देहग्रहण जितने कर्मों के भोग के लिये हुआ था उनमें से जो अभी भोगे नहीं गये हैं उनमें से अवशिष्ट कर्मों का भोग तभी संभव है जब देह जीवित और शक्तिमान् रहे। प्राण ही जीवन और शक्ति है अतः यदि प्राण उपरत हो जावें तो आगे के भोग नहीं हो पावें। अतः सभी करणों आदि के उपरत हो जाने पर भी प्राण रूपी चौकीदार जागता रहता है।' 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति।' (प्र० ४.३) द्वारा श्रुति भी इसी का प्रतिपादन करती है। सर्वःकर्मभोग समाप्ति पर मृत्यु के समय प्राण भी शरीर को छोड़ देते हैं।

३. प्राण से अतिरिक्त सभी लीन रहते हैं अतः केवल कहा गया। यद्यपि देह भी रहता है पर निश्चेष्ट होकर, प्राण व्यापारवान् होकर रहते हैं।

४. सुषुप्ति अवस्था में यदि प्राण को व्यापारवाला मानें तो सुषुप्ति का व्याघात होगा। यदि प्राण को आत्मा मानें तो उसका स्वरूप चैतन्य होगा। इन्द्रियों की उपरामता पर प्राण को व्यापार रहित ही फिर स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि ज्ञानाभाव में प्राण का व्यापार अनपेक्षित होगा।

५. तत्र सुषुप्तौ करणोपरमे यदि प्राणस्य चैतन्यमात्मत्वं स्यात्तदा प्राणस्तस्यामवस्थायां निर्व्यापारस्यादिति शेषः। व्यापारवत्त्वे सुषुप्तित्वव्याघातादित्यर्थः।

पाठान्तरेतु तत्र सुषुप्तौ यदि प्राणस्याचैतन्यं करणोपरमहेतोस्तदा प्राणस्य चैतन्यमौपाधिकं स्यात्। चैतन्यस्वरूपमात्मा न प्राणो भवितुमर्हतीति।

६. प्राण यदि आत्मा हो तो उसके अपने कार्य में स्थित होते हुये ही उसके अधीन उसके आश्रय से कार्य करने वाली इन्द्रियों का उपराम न होता। और सुषुप्ति में इन्द्रियों का उपराम प्रत्यक्ष सिद्ध है।

*तत्राचैतन्यमिति पाठभेदः।

—२१—२२क—

तस्मान्न करणस्वामी प्राणो भवितुमर्हति ।
मनसः प्रेरके पुंसि विरते विरमन्त्यतः ॥२१॥
करणानि समस्तानि तेषां स्वामी ततः पुमान् ॥२२क॥

(पदच्छेदः)

तस्मात् न करणस्वामी प्राणः भवितुम् अर्हति ।
मनसः प्रेरके पुंसि विरते विरमन्ति अतः ॥२१॥
करणानि समस्तानि तेषाम् स्वामी ततः पुमान् ॥२२क॥

(सान्वयार्थः)

तस्मात्	= इसलिये[1]	विरते	= उपराम होने पर
प्राणः	= प्राण	समस्तानि	= सारी
करणस्वामी	= इन्द्रियों का मालिक	करणानि	= इन्द्रियाँ
भवितुम्	= होने के	विरमन्ति	= उपराम होती हैं
न अर्हति	= योग्य नहीं है ।	अतः	= इसलिये
ततः	= इस कारण[2] से	पुमान्	= आत्मा
मनसः	= मनकी	तेषाम्	= उनका
प्रेरके	= प्रेरणा करने वाले	स्वामी	= मालिक है ।
पुंसि	= आत्मा[3] के		

व्याख्या

१. यदि प्राण आत्मा होता तो सुषुप्ति में थकावट के कारण वह सोता और व्यापार रहित होता । वस्तुतः सुषुप्ति में प्राण ही एकमात्र ऐसा है जो जागृत और स्वप्न ही की तरह कार्य करता है । श्वासगति, रक्तगति एवं पाचनादि सभी क्रियाएं यथावत् चलती हैं। यदि प्राण ही वास्तविक चैतन्यात्मा होता जिसके ज्ञान और क्रिया की साधन इन्द्रियाँ हैं तो वे कभी भी प्राण के काम में तत्पर रहते हुये अक्रिय नहीं हो सकती थीं । तब तो सम्पूर्ण विश्रान्ति रूप सुषुप्ति असंभव होकर लोग उन्मत्त हो जायँगे । इसलिये युक्ति और अनुभव के विरोध का परिहार करने के लिये प्राण से भिन्न आत्मा मानना चाहिये ।

२. 'ततः तस्मात् कारणात् प्राणस्येन्द्रियाधिष्ठातृत्वरूपेण स्वीकृतेरसंभवादित्यर्थः ।' प्राण के करणाधिपति न होने की सिद्धि हो जानें रूपी कारण से ।

३. पारिशेष्य न्याय से प्राण से अतिरिक्त ही आत्मा हो सकता है। अन्तर्यामी ब्राह्मण में शुक्ल यजुर्वेद ने 'यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यम्प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीर ँयः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः । यश्चक्षुषि तिष्ठ ँश्चक्षुषोऽन्तरो यञ्चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरँयश्चक्षुरन्तरो यमयति' इत्यादि से आत्मा को ही प्राणों का और इन्द्रियों का अधिपति बताया है । उसी को मन का प्रेरक भी बताया है। सर्वाध्यक्ष पुरुष के उपराम होने पर मनसहित इन्द्रियों की उपरामता भी युक्तिसंगत है ।

[प्राणात्मवाद असंगत है क्योंकि प्राण रहते भी सुषुप्ति मूर्छा में देह अचेतन है । एवं मैं प्राण हूँ ऐसा अनुभव भी किसी को नहीं होता । प्राण जीवन का लक्षण है, चेतन का नहीं । प्राण की प्रधानता तो वैदिकों को भी स्वीकार है और हमारे यहाँ प्राणोपासना चित्तैकाग्र्य का प्रधान साधन है पर उपाय को उपेय मानने की भूल तो हमने कभी की नहीं ।]

—२२—२३—

हैरण्यगर्भों के प्राणात्मवाद का निराकण कर नास्तिकों में अनुमान को ही प्रधान मानने वाले सौगतों के क्षणिकविज्ञानात्ममत का अपाकरण करते हैं :—

बुद्धिस्तु क्षणिका वेद्या गमागमसमन्विता ।।२२।।
आत्मनः प्रतिबिम्बेन भासिता भासयेज्जगत् ।
आत्मन्युत्पद्यते बुद्धिरात्मन्येव प्रलीयते ।।२३।।

(पदच्छेदः)

बुद्धिः तु क्षणिका वेद्या गमागमसमन्विता ।।२२।।
आत्मनः प्रतिबिम्बेन* भासिता भासयेत् जगत् ।
आत्मनि उत्पद्यते बुद्धिः आत्मनि एव प्रलीयते ।।२३।।

(सान्वयार्थः)

गमागम-समन्विता	=	उत्पत्ति और नाश[1] से युक्त	भासिता	=	प्रकाश को प्राप्त कर
बुद्धिः	=	बुद्धि	जगत्	=	संसार को
तु	=	तो[2]	भासयेत्	=	प्रकाशित करती है।
क्षणिका	=	क्षण मात्र रहने वाली	बुद्धिः	=	बुद्धि
			आत्मनि	=	आत्मा में[4]
वेद्या	=	ज्ञान का विषय[3] रूप है।	उत्पद्यते	=	पैदा होती है
			आत्मनि	=	(व) आत्मा में
आत्मनः	=	आत्मा के	एव	=	ही
प्रतिबिम्बेन	=	आभास से	प्रलीयते	=	लीन[5] हो जाती है।

व्याख्या

१. सौगतमत में ज्ञान प्रतिक्षण में उत्पन्न होता है। वही क्षणिक बुद्धि उनके मत में आत्मा है। अतः उनका आत्मा विनाशी सिद्ध होता है।

२. पक्षान्तर दिखाने के लिये 'तु' पद समझना चाहिये।

३. उत्पत्ति विनाश वाला पदार्थ अन्याधीन प्रकाशवाला होने से स्वप्रकाश आत्मा नहीं हो सकता। अन्याधीन प्रकाश ही वेद्य होता है। सदाशिव कभी भी वेद्य नहीं है यह श्रुतियों में प्रतिपादित किया गया है 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृ० ४.५.१५) 'सवेत्ति वेद्यन्न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वे० ३.१९)।

पदार्थ स्वयं अपनी उत्पत्ति और नाश को नहीं जान सकता। क्योंकि उत्पत्ति अर्थात् पूर्व में न होकर होना। पूर्व में स्व के अभाव को बिना हुये जाना नहीं जा सकता। इसी प्रकार होकर न होना नाश है। बाद में स्व के अभाव को भी बिना हुये जाना नहीं जा सकता। अतः उत्पत्ति और नाश सर्वदा परसंवेद्य होते हैं, स्वसंवेद्य नहीं। इनकी सिद्धि भी पराधीन ही है। अतः बुद्धि से भिन्न चैतन्यात्मा स्वीकारना पड़ेगा जो बुद्धि के क्षणिक परिवर्तनों को जाने। तब बुद्धि को चैतन्यात्मा स्वीकारना तो असंभव है।

४. आत्मा के जानने पर ही बुद्धि की उत्पत्ति की सिद्धि है अतः बुद्धि की उत्पत्ति आत्मा के आश्रित है। इसीलिये आत्मा में ऐसा अधिष्ठानार्थ में सप्तमी प्रयोग है।

५. 'मया बुद्धिर्ज्ञाता' इस साक्षी ज्ञान में ही बुद्धि का लय है। (दृ० ३.६)

* प्रतिविम्बेतु इति पाठान्तरम् ।

—२४—२५—

क्षणिकता से आत्मा की भिन्नता बौद्ध स्वीकार नहीं करना चाहते क्योंकि वे आत्मा के नित्यत्व को नष्ट करने के लिये कटिबद्ध हैं। अतः अन्य सौगतानुयायी क्षणिक चैतन्य स्वरूप बुद्धि को आत्मस्वरूप न मानकर उसके निरन्तर प्रवाह को आत्मा मानते हैं। अनन्त क्षणिक बुद्धियाँ क्रमशः एक दूसरे को उत्पन्न करती हुई प्रवाहित हो रही हैं। पूर्व बुद्धि उत्तर बुद्धि को उत्पन्न करके उसी क्षण नष्ट हो जाती है। जैसे दीपशिखा प्रत्येक क्षण उत्पत्ति और नाश वाली होने पर भी अत्यन्त समान होने से एक जैसी प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मा की नित्यता भ्रम सिद्ध है। सौगत मत आत्मा को अनित्य मानने से वस्तुतः नैरात्म्यदर्शन ही सिद्ध होता है। यह चैतन्यात्मप्रवाह अनादि और अनन्त है यद्यपि इसका प्रत्येक विन्दु उत्पत्ति और नाशवाला है। परन्तु यह मत भी दोष रहित नहीं है :—

प्रागूर्ध्वं चासती बुद्धिः स्वयमेव न सिद्ध्यति ।
ज्ञानाच्चेत्पूर्वपूर्वस्मादुत्तरोत्तरसम्भवः ॥२४॥
युगपद्वहुबुद्धित्वं प्रसज्येत क्षणेक्षणे ।
बुद्ध्यन्तरं न जनयेन्नाशोत्तरमसत्त्वतः ॥२५॥

(पदच्छेदः)

प्राक् ऊर्ध्वम् च असती बुद्धिः स्वयम् एव न सिद्ध्यति* ।
ज्ञानात् चेत् पूर्वपूर्वस्मात् उत्तरोत्तरसम्भवः ॥२४॥
युगपत् बहुबुद्धित्वम् प्रसज्येत क्षणे क्षणे ।
बुद्ध्यन्तरम् न जनयेत् नाशोत्तरम् असत्त्वतः ॥२५॥

(सान्वयार्थः)

प्राक्	=पहले
च	=और
ऊर्द्ध्वम्	=पीछे
असती	=न होने वाली
बुद्धिः	=बुद्धि
स्वयम्	=खुद[1]
एव	=ही
न सिद्धयति	=सिद्ध नहीं होती है।
पूर्वपूर्वस्मात्	=पहली पहली[2]
ज्ञानात्	=बुद्धि से
चेत्	=यदि[3]
उत्तरोत्तर-सम्भवः	=बाद बाद की बुद्धि की उत्पत्ति हो
(तर्हि	=तो)
क्षणे	=क्षण
क्षणे	=क्षण में
युगपत्	=एक साथ
बहुबुद्धित्वम्	=अनेक बुद्धियों की
प्रसज्येत	=प्राप्ति होगी।
नाशोत्तरम्	=नष्ट होने के बाद
असत्त्वतः	=सत्तारहित होने के कारण
बुद्धयन्तरम्	=दूसरी बुद्धि को
न	=नहीं
जनयेत्	=पैदा करे।

व्याख्या

१. किसी द्रष्टा को स्वीकार किये बिना असाक्षिक पदार्थ में प्रमाणाभाव है।

२. बुद्धि से बुद्धयन्तर को उत्पन्न मानने वाला पूर्व से युक्त उत्तर की उत्पत्ति मानता है अथवा पूर्व रहित ? पूर्व से युक्त मानने पर उन उन बुद्धियों की उत्पत्ति क्षण में अनन्त बुद्धियों का अनुवर्तन स्वीकारना पड़ेगा जो अनुभव विरुद्ध हैं। विज्ञानवादी प्रतिक्षण में बुद्धि की पैदायश मानता है अतः प्रतिक्षण में सारी अनन्त बुद्धियों को स्वीकार करने पर क्षणिक विज्ञान तो स्वयं परास्त है। पूर्व ज्ञान अपने से उत्पन्न उत्तर ज्ञान में विद्यमान मानने पर प्रत्येक ज्ञान के ध्वंसाभाव को अस्वीकार करने के भय से यदि अनन्वित ही उत्तर ज्ञानोत्पत्ति मानेगा तो पूर्व बुद्धि के निरन्वय विनाश होने पर उस बुद्धि की असत्ता अन्यथी उत्पत्ति का साधक होना असंभव है। फिर तो विज्ञान उत्पन्न ही नहीं होंगे।

असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करने पर तो क्षणिक विज्ञानवादी को शून्यवाद ही अपनाना पड़ेगा। शून्यवाद में तो कारण कार्य व्यवहार असंभव है एवं सर्व प्रमाण व्याकोप है यह आगे सिद्ध किया जायगा।

३. यदि से क्षणिक विज्ञानवाद को दुर्निरूप्य बता रहे हैं। क्षण म उत्पन्न होकर अग्रिम क्षण में स्थिति को प्राप्त कर तृतीय क्षण में नाश को प्राप्त करना तो पदार्थों का स्वभाव हो सकता है। इस प्रकार त्रिक्षणवृत्तित्व स्वीकार होने पर भी क्षणिक विज्ञानवाद तो इन तीनों क्रियाओं को भी एक क्षण में ही मानना चाहता है और अन्यधी की उत्पत्ति भी उतने ही समय में हो जानी चाहिये। अतः उसका विचार असंभव दोष ग्रस्त ही है।

क्षणिक विज्ञानवाद अनुमान से पाने योग्य अन्तिम उत्तर है। पर यह भी सारे अनुभवों का समन्वय करने में असमर्थ है। इसीलिये श्रुति प्रमाण जो अतीन्द्रिय विषयों में हमारा एकमात्र विश्वसनीय सहारा है हमें केवल युक्ति का सहारा लेने का निषेध करता है 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (क० २.८) एवं स्मृति भी 'तर्क्यंताम् मा कुतर्क्यताम्' और सूत्रकार भगवान वेद व्यास 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २.१.११) एवं भाष्यकार भगवान शङ्करभगवत्पाद 'दुस्तर्कात्सुविरम्यताम् श्रुतिमतस्तर्कोनुसन्धीयताम्' इत्यादि वचनों के द्वारा हमें सावधान करते हैं। सिद्धिकार तो स्पष्ट ही 'अनादृत्य श्रुतिं मौढ्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः। आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः॥' (नै० सि० ३.३४) से अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं। वैदिक धर्म श्रवण के अनन्तर ही मनन का विधान करता है। विज्ञान में भी पूर्व वैज्ञानिकों के विचारों को जानकर ही आगे बढ़ने का विधान है। केवल अपने खयाली पुलाव पकाने का नहीं। गौतम बुद्ध और उसके पश्चात् मध्यकालीन अर्द्धनास्तिक युक्तिजाल में रहने वाले शुष्क पण्डित व तार्किक समाज और सन्त परम्परा ने इस शास्त्र श्रवण को प्राधान्य न देकर युक्ति और व्यक्तिवाद का जो प्रसार किया है वह सनातन धर्म का क्षय रोग बन चुका है। यदि इसका प्रतीकार

पूर्णरूप से न हो सका तो वैदिक धर्म संरक्षण दुष्कर हो जायगा। अर्वाचीन धार्मिक नेता भी प्रायशः भ्रान्त समन्वयवाद से इसी युक्ति जाल को प्रश्रय देकर अनर्थ कर रहे हैं।

श्रौतमत स्वयं युक्ति से पुष्ट है और अनुभव का पूर्ण समर्थन उसे प्राप्त है। अन्यथा बुद्ध के सर्वव्यापी मत को केवल शास्त्रार्थ के सहारे से आचार्य कुमारिल भट्ट और शंकरभगवत् नहीं हटा सकते थे। अतः हमें आधुनिक विज्ञान और दर्शन से भय करने की आवश्यकता नहीं। किसी के मत में दोष न देखो तो उनका नारा है जो स्वयं दोष से भरे मत के समर्थक हैं। हम तो सत्य के समर्थक हैं। और सत्य के आश्रय पर ही धर्म का प्रसार और प्रचार करते हैं। अतः जैसे प्राचीन काल में नास्तिक और अर्द्धनास्तिक मत खण्डनीय था वैसा ही आज भी है।

*स्वयमेव निषिद्धयते इति पाठभेदः।

—२६—

देह से बुद्धि पर्यन्त कोई भी आत्मा सिद्ध नहीं होता है यह देखकर कई वादी इनके सङ्घात को ही आत्मा स्वीकार करते हैं:—

एषां सङ्घात आत्मा चेदेकदेशे पृथक्कृते।
न चैतन्यं प्रसज्येत सङ्घाताभावतस्तदा ॥२६॥

(पदच्छेदः)

एषाम् सङ्घातः आत्मा चेत् एकदेशे पृथक् कृते।
न चैतन्यम् प्रसज्येत सङ्घाताभावतः तदा ॥२६॥

(सान्वयार्थः)

एषाम्	=इन सभी का	कृते	=करने पर
सङ्घातः	=संगठित रूप[1]	सङ्घाताभावतः	=संगठन के अभाव से
आत्मा	=आत्मा	चैतन्यम्	=चेतनता
चेत्	=यदि हो	न	=नहीं
तदा	=तो	प्रसज्येत	=रहेगी।
एकदेशे	=एक हिस्से को		
पृथक्	=अलग		

व्याख्या

१. संगठन अर्थात् अवयवों का समूह। समूह व्यक्ति के परिवर्तन से परिवर्तित हो जाता है। अतः संघात सम्पूर्ण अवयवी का नाम है, खण्ड अवयवी का नहीं। यदि किसी एक खण्ड को चेतन माना जायगा और सम्पूर्ण को भी, तो उस खण्ड से अतिरिक्त खण्ड व्यर्थ मानना पड़ेगा। विनिगमनाभाव से सम्पूर्ण को ही चेतन स्वीकार करना पड़ेगा। संघात आत्मा हो तो उसके एक देश नेत्र, कान, वाणी, हाथ, मन आदि के नष्ट होने पर संघात नष्ट होकर अचेतन रह जायगा। अन्धा, बहिरा, गूँगा, आदि सार्वजनीन अनुभव से सिद्ध होने से यह इष्टापत्ति तो हो नहीं सकती। अतः समुदाय चेतनवादी का पक्ष भी अयौक्तिक और अनुभव विरुद्ध है।

—२७—

अवयवचेतन वाद भी असंगत है:—

भिन्नदिग्गत्यभिप्राये वहुचेत्तन्नपूजितम्।
सद्यो भिन्नं भवेदेतन् निष्क्रियं वा भविष्यति ॥२७॥

(पदच्छेदः)

भिन्नदिग्गत्यभिप्रायः बहु चेत् तत् न पूजितम्* ।
सद्यः भिन्नम् भवेत् एतत् निष्क्रियम् वा भविष्यति ॥२७॥

(सान्वयार्थः)

बहु	=बहुत से[1]	एतत्	=ऐसा आत्मा
चेत्	=यदि हों तो	सद्यः	=तुरन्त
भिन्न-दिग्गत्यभिप्रायः[2]	=अलग अलग दिशाओं में जाने की इच्छा (होगी[3])	भिन्नम्	=टुकड़े टुकड़े
		भवेत्	=हो जायगा
		वा	=या
तत्	=वह[4]	निष्क्रियम्	=क्रियाहीन (जीवनोपयोगी क्रिया से रहित)
न पूजितम्	=स्वीकार करने योग्य नहीं।	भविष्यति	=हो जायगा।

व्याख्या

१. अवयवचेतनवाद में प्रत्येक अवयव ही अलग-अलग चेतन है। आज के जीववैज्ञानिक भी प्रायः प्रति कोशा को चेतन मानने वाले होने से इसी वाद के अन्तर्गत आते हैं। इस पक्ष में प्रत्येक में अनेक आत्मा सिद्ध होते हैं।

२. भिन्नासु विरुद्धासु दिक्षु गतेरभिप्राय इच्छेति यावत्।

३. आत्मा इच्छा शक्ति से संयुक्त होने के कारण प्रत्येक की भिन्न इच्छा भी संभव है। एक आत्मा जिस समय पूर्व में जाना चाहे और उसी समय दूसरी पश्चिम में तो सर्वथा दानवासुरों की तरह नष्ट हो जावेंगे। जीव-वैज्ञानिक प्राचीनकाल में (Dinosaur) दानवासुर नामक जीवों का वर्णन करते हैं जिनके देह की वृहत्ता के कारण प्रकृति ने उन्हें दो मस्तिष्क केन्द्र दिये जिनका आपसी विरोध ही उनके नाश का कारण बना।

४. वह अर्थात् बहु आत्मवाद का सिद्धान्त कि प्रत्येक अवयव ही आत्मा है।

*भिन्नदृग्गत्यभिप्राये वहुचेतनपुंजितम् इति पाठभेदः।

—२८—

संघात या अवयवों के आत्मा सिद्ध न होने पर अहं प्रतीति का समन्वय करने के लिये इनसे भिन्न ही आत्मा परिशेषात् सिद्ध हो गया। परन्तु आत्मा को भिन्न तत्त्व स्वीकार करने वाले वादियों में भी आत्मा का परिमाणविषयक विवाद है। जैनी लोग उसे तात्कालिक देह के परिमाण का मानते हैं तो वैष्णव लोग उसे अणुपरिमाण का स्वीकार करते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, और वेदान्त ये सभी आस्तिक दर्शनकार तो उसे विभु परिमाण का ही मानते हैं। इसका तत्त्वनिर्णय करने के विचार से अग्रिम ग्रंथ का प्रारम्भ करते हैं:—

देहस्यान्तर्गतोप्यात्मा व्याप्त एवेति बुद्ध्यते।
अणुप्रमाणश्चेदेष व्याप्नुयान्नाखिलंवपुः ॥२८॥

(पदच्छेदः)

देहस्य अन्तर्गतः अपि आत्मा व्याप्तः एव इति बुद्धयते ।
अणुप्रमाणः चेत् एषः व्याप्नुयात् न अखिलम् वपुः ॥२८॥

(सान्वयार्थः)

आत्मा	=आत्मा	एषः	=यह (आत्मा)
देहस्य	=देह के	अणुप्रमाणः	=अणु[3] परिमाण
अन्तर्गतः	=भीतर[1] रहता हुआ	चेत्	=यदि हो तो
अपि	=भी	अखिलम्	=सारे
व्याप्तः[2]	=व्यापक	वपुः	=शरीर[4] को
एव	=ही है	न	=नहीं
इति	=ऐसा	व्याप्नुयात्	=व्याप्त कर सकता ।
बुद्धयते	=निश्चय होता है ।		

व्याख्या

१. प्रत्यगात्मा का विचार प्रकृत है और यह देहावच्छिन्न है। जैसे घटावच्छिन्न आकाश परिच्छिन्न प्रतीत होने पर भी वस्तुतः अपरिच्छिन्न आकाश ही है उसी प्रकार देहोपाधि विशिष्ट आत्मा भी वस्तुतः अनौपाधिक ही है ।

२. व्याप्त इति कर्तरि निष्ठा । व्यापक इत्यर्थः ।

३. निश्चय कराने के लिये अन्यवादों के दोषों का प्रदर्शन करते हैं। वैष्णव वादियों में रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि अनेक प्रचारकों ने वेद को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है। कई लोग भ्रान्ति से इन्हें भी वेदान्ती मान लेते हैं। अतः इनका प्रथम निराकरण करते हैं।

४. अणुपरिमाण स्वीकारने पर मानसरोवर के शीतल जल का ऊपर के उष्ण ताप के साथ युगपत् अनुभव न हो सकेगा । पर अनुभव में बहुत बार दो विरोधी तत्त्वों का साहचर्य आता है। इसी प्रकार साथ-साथ ही शरीर के दो अवयव न तो क्रिया तत्पर हो सकेंगे और न क्रियानिवृत्ति ही कर सकेंगे । अतः अनेक अनुभवों का विरोध मानने की अपेक्षा अणुपरिमाण वाद का आग्रह छोड़ना ही श्रेष्ठ है।

इनका विरोध परिहार आत्मा को अतितीव्रगति से चलने वाला मानकर एवं शतपद्मवेधवत् यौगपद्य स्वीकार कर वादी करते हैं पर वह भी प्रमाणरहित और अनुभवविरुद्ध होने से त्याज्य है।

— २६—

वैष्णवों के बाद जैनों के देहपरिमाण वाद का निराकरण करते हैं:—

देहप्रमाणश्चेन्नस्याद्बालस्य स्थविरादिता ।
देहवत्परिणामी चेत्तद्वदेव विनङ्क्ष्यति ॥२६॥

(पदच्छेदः)

देहप्रमाणः चेत् न स्यात् बालस्य स्थविरादिता ।
देहवत् परिणामी चेत् तद्वत् एव विनङ्क्ष्यति ॥२६॥

(सान्वयार्थः)

देहप्रमाणः	= शरीर के परिमाण वाला (आत्मा)	देहवत्	= शरीर की तरह
चेत्	= यदि हो तो	परिणामी	= बदलने[2] वाला
बालस्य	= बालक[1] को	चेत्	= यदि (माना जाय तो)
स्थविरादिता	= बुढ़ापा आदि	तद्वत्	= उस की तरह।
न	= नहीं	एव	= ही
स्यात्	= होगा।	विनङ्क्ष्यति	= नष्ट भी हो जायगा।

व्याख्या

१. बालक, जवान, बूढ़े आदि के शरीर का परिमाण सर्वथा भिन्न होता है। वस्तुतः तो सदा ही दुबला मोटा होता हुआ शरीर का परिमाण स्थिर नहीं माना जा सकता। अतः उन अवस्थाओं में आत्माओं को भिन्न मानना पड़ेगा। परन्तु प्रत्यभिज्ञा के बल से बालक वृद्ध आदि की अहंप्रतीति करने वाला एक ही सिद्ध होता है। अतः यह मत तुच्छ है।

२. शरीर के बढ़ने घटने पर आत्मा को भी घटने बढ़ने वाला मानकर शरीर की एकता के समान ही आत्मा की एकता सिद्ध करने की चेष्टा तो आत्मा को विनाशी सिद्ध करके अर्हत मुक्ति का ही निराकरण कर देगा।

—३०—

आत्मा को किसी एक परिमाण वाला मानने पर जन्मान्तर के सिद्धान्त से भी विरोध होगा। एक ही आत्मा के विरुद्ध अनेक शरीरों में प्रवेश करने योग्य कर्म भी हो सकते हैं। मानवदेहपरिमाणी आत्मा हाथी के शरीर को पूरा न भर सकेगी और कीड़े के शरीर में आ न सकेगी। इसी प्रकार कोई भी परिमाण मानने पर कहीं छोटी और कहीं बड़ी पड़ेगी। आकाश की तरह विभु मानने पर तो उपाधि के परिमाण वाली सर्वत्र भर सकेगी। अतः वार्तिककार कहते हैं:—

कर्मणां परिणामेन क्रिमिहस्त्यादिमूर्तिषु।
व्याप्तत्वात्प्रविशत्यात्मा घटादिष्वन्तरिक्षवत् ॥३०॥

(पदच्छेदः)

कर्मणाम् परिणामेन क्रिमिहस्त्यादिमूर्तिषु।
व्याप्तत्वात् प्रविशति आत्मा घटादिषु अन्तरिक्षवत् ॥३०॥

(सान्वयार्थः)

घटादिषु	= घडे[1] आदि में	परिणामेन	= परिपाक के फलस्वरूप
अन्तरिक्षवत्	= आकाश की तरह	क्रिमि-हस्त्यादि-मूर्तिषु	= कीड़े, हाथी आदि आकारों में
आत्मा	= आत्मा		
व्याप्तत्वात्	= व्यापक होने के कारण	प्रविशति	= घुस[2] जाती है।
कर्मणाम्	= कर्मों के		

व्याख्या

१. उपाधि के जितना ही व्यापक आकाश प्रतीत होता है। उसका अपना कोई परिमाण नहीं है। इसी प्रकार आत्मा है। जैसे घट के भीतर बाहिर सर्वत्र आकाश वैसे ही देह के अन्दर और बाहिर सर्वत्र आत्मा है। जैसे वहाँ घटाकाश और महाकाश की प्रतीति है वैसे ही यहाँ प्रत्यगात्मा और परमात्मा की प्रतीति है। घट के चलने पर जैसे घटाकाश के चलने की प्रतीति है वैसे ही देह के चलने पर आत्मा में

भाति की प्रतीति है। अतः यह दृष्टान्त बताया गया है। श्रुति ने भी 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्व-भूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' (काठ० २.५.९) कहकर इसी का समर्थन किया है।

२. 'यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते' (श्वे० ५.१०) 'कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते' (श्वे० ५.११) 'रमणीय चरणा रमणीयां' (छा० ५.१०.७) आदि श्रुतियाँ इसका प्रमाण हैं। पुराणों में तो ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं।

—३१—

अत्यन्त अल्प परिमाण वाले पदार्थ में प्रतीयमान आत्मा भी व्यापक है इसमें अर्थापत्ति प्रमाण देते हैं:—

परमाणुप्रमाणेऽपि मनसि प्रतिभासते।
स्वप्ने चराचरं विश्वमात्मन्येव प्रतिष्ठितम् ॥३१॥

(पदच्छेदः)

परमाणुप्रमाणे अपि मनसि प्रतिभासते।
स्वप्ने चराचरम् विश्वम् आत्मनि एव प्रतिष्ठितम् ॥३१॥

(सान्वयार्थः)

परमाणुप्रमाणे	=परम सूक्ष्म परिमाण वाले	चराचरम्	=जड़ और चेतन
मनसि	=मन[1] में	विश्वम्	=जगत्
अपि	=भी	आत्मनि	=आत्मा[2] में
प्रतिभासते	=प्रकाशित होता है।	एव	=ही
स्वप्ने	=स्वप्न में	प्रतिष्ठितम्	=रहता है।

व्याख्या

१. बिना व्यापक हुये पदार्थ परमाणु में नहीं रह सकता। अतः मन में प्रकाशित होने की अन्यथा अनुपपत्ति उसकी व्यापकता को सिद्ध करती है।

२. सब पदार्थों का निवास स्थान व्यापक में ही संभव है। आश्रय आश्रित से व्यापक होता है। मकान मनुष्य से अवश्य बड़ा होता

है। अतः सर्वाधिष्ठानत्व की अन्यथा अनुपपत्ति से आत्मा व्यापक स्वीकार्य है।

—३२—

देहादि को आत्मा मानना प्रमाणशून्य और युक्ति विरुद्ध है एवं आत्मा की व्यापकता भी जब उसे देहादिपरिमाणी नहीं वरन् सर्वान्तर्यामी और सर्वाधिष्ठान सिद्ध कर रही है तो वेदराद्धान्त को ही स्वीकार्य बताते हैं:—

देहादिष्वहमित्येवं भ्रमस्संसारहेतुकः।
अन्तः प्रविष्टश्शास्तेति मोक्षायोपादिशच्छ्रुतिः ॥३२॥

(पदच्छेदः)

देहादिषु अहम् इति एवम् भ्रमः संसारहेतुकः।
अन्तः प्रविष्टः शास्ता इति मोक्षाय उपादिशत् श्रुतिः ॥३२॥

(सान्वयार्थः)

एवम्	=इस प्रकार से[१]	श्रुतिः	=वेद[६] ने
देहादिषु	=शरीर आदि[२] में	मोक्षाय	=मोक्ष[७] के लिये
अहम्	=मैं[३] का भाव	अन्तः	=अन्दर
इति	=यह	प्रविष्टः	=घुसे हुये
संसारहेतुकः	=संसार[४] का कारण रूप	शास्ता	=महेश्वर
		इति	=इस प्रकार[८] से
भ्रमः[५]	=अज्ञान है।	उपादिशत्	=उपदेश दिया है।

व्याख्या

१. उपर्युक्त प्रकार से देहादि में आत्मा की असंभावना सिद्ध होने से।

२. प्राण, इन्द्रियाँ, क्षणिकविज्ञान और शून्य आदि शब्द से समझना चाहिये। उपलक्षणा से सभी मतों का संग्रह भी कर्तव्य है।

३. अहम् पद ही आत्मा का द्योतक होने से अप्रसिद्ध आत्मा को छोड़कर आबालवृद्धवनिता प्रसिद्ध अहम् पद का ग्रहण किया गया है।

४. संसार अर्थात् रागद्वेष से युक्त होकर देहान्तरों की प्राप्ति। भगवान भाष्यकार इसीलिये शोकमोह से ही संसार की उपलक्षणता बताते हैं। इसका कारण देहादि में अभिमान ही है 'देहादिसंघात आत्माभिमानोऽविद्यात्मकः' और 'अविद्यात्मकत्वाच्च देहाभिमानस्य तन्निवृत्तौ देहानुपपत्तेः संसारानुपपत्तिः' इत्यादि (गी० १८.६६) भाष्य में इसी को अज्ञान रूप बताया है।

५. 'संसारहेत्वविद्याहेतुकः इति वार्थः। अविद्याहेतुर्यस्य भ्रमस्य सोऽविद्याहेतुको भ्रमः देहादिष्वहमिति भ्रमः संसारस्य हेतोरविद्यायाः कारणादिति समुदायार्थः।' संसार के कारण अविद्या की वजह से देहादि में अभिमान है।

६. श्रौत अर्थापत्ति अर्थात् आत्मा को सृष्ट देहादि संघात से भिन्न माने बिना श्रुतिप्रतिपादित प्रवेश की अन्यथा उपपत्ति न होने से भी इन से भिन्न ही आत्मा सिद्ध होता है। श्रुति ने मोक्ष के लिये उसी का उपदेश दिया है।

७. मोक्ष अर्थात् संघात विवेक।

८. 'अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाम्। एकस्सन् बहुधा विचारः।' (तै० आ० ३.११) श्रुति यहाँ निर्दिष्ट है। शास्ता से यहाँ शिवशक्ति संयोग की भी सूक्ष्म ध्वनि है क्योंकि शक्तिविशिष्ट शिव ही शासन करने में समर्थ है। इसीलिये इतिहासों में शास्ता को भगवान शंकर से मोहिनीरूप धारण करने वाले विष्णु रूपी भगवती काली से उत्पन्न माना गया है। इस मोहिनी रूप की सूक्ष्मध्वनि आग के श्लोक में स्वयं भगवान वार्तिककार करेंगे।

—३३—

इस प्रकरण में प्रतिपादित देहादि में आत्म भ्रम भगवती का ही विलास है :—

एवमेषा महामाया वादिनामपि मोहिनी।
यस्मात्साक्षात्कृते सद्यो लीयते च सदाशिवे ॥३३॥

(पदच्छेदः)

एवम् एषा महामाया वादिनाम् अपि मोहिनी ।
यस्मात् साक्षात्कृते सद्यः लीयते च सदाशिवे ।।३३।।

(सान्वयार्थः)

एवम् =इस प्रकार
एषा =यह[1]
महामाया =महामाया[2]
वादिनाम =विचारकों[3] को
अपि =भी
मोहिनी[4] =भ्रम में डालने वाली है ।

यस्मात् =क्योंकि
सदाशिवे =सदाशिव के
साक्षात्कृते =अपरोक्षानुभव[5] कर लेने पर
सद्यः =तुरन्त
च =ही
लीयते =लय हो जाती है ।

व्याख्या

१. सर्व जनों को प्रत्यक्ष महेश्वरशक्ति और उसका लीलाविलास ।

२. महेश्वर की अविद्या शक्ति ही वादियों में प्रकट होकर खेलती है । अथवा महेश्वर ही अविद्या विशिष्ट होकर वादी बना है ।

३. स्वबुद्धि मात्र को पर्याप्त समझ कर श्रुतिगुरुमहेश्वरोपासना से रहित लोग । 'ज्ञानिनामपि चेतांसि···बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति' (सप्तशती) का यहाँ निर्देश है ।

४. भगवान महेश्वर की विद्या और अविद्या दो शक्तियाँ हैं । वस्तुतस्तु एक शक्ति का ही आरोहण और अवरोहण भेद से नामान्तर है । इसमें विद्याशक्ति उमा हैमवती रूपिणी है और अविद्याशक्ति संसार निर्वाहक विष्णुरूपिणी है । विष्णु का इसीलिये मोहिनी अवतार है । यही विष्णु का स्वरूप बृहस्पति का रूप लेकर लोकायत मत के संस्थापक हैं । बुद्ध का रूप लेकर सौगतमत के संस्थापक हैं । अतः यहाँ उसी का संकेत है ।

५. अधिष्ठान साक्षात्कार से अध्यस्त की निवृत्ति होती है । निवृत्ति के स्वरूप का विचार करने पर सद्रूप, पंचमप्रकार, सदसद्वि-

लक्षणरूप आदि कई पक्ष प्राप्त होते हैं। उनमें अधिष्ठानरूपनिवृत्ति ही सर्वथा स्वीकार्य है यह भगवान वार्तिककार का अभिप्राय है। सदाशिव के साक्षात्कार से भिन्न अन्य कोई मार्ग संसारनिवृत्ति का नहीं है।

—३४—

ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में मंगलाचरण रूपी शिष्टाचार पालन के लिये मध्य में मंगल करते हुये उल्लास की समाप्ति करते हैं :—

देहेन्द्रियासुहीनाय मानदूरस्वरूपिणे।
ज्ञानानन्दस्वरूपाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥३४॥

देह, इन्द्रिय और प्राणों से रहित, प्रमाणमात्र की गति से अति दूर स्वरूप वाले ज्ञान और आनन्द आत्मक श्रीदक्षिणामूर्ति को नमस्कार है।

व्याख्या

इसमें इस उल्लास का संग्रह भी हो गया। देहादि से व्यतिरिक्त, दृश्यभिन्न ही उसका स्वरूप है। देहादि दुःखरूप से भिन्न अतः आनन्दात्मक और दृश्यभिन्न होने से ज्ञानात्मक उसका स्वरूप स्वतः सिद्ध है। वह प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है अतः दक्षिणामूर्ति से अभेद बताया गया।

—३५—

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।
प्रबन्धे मानसोल्लासे पञ्चमोल्लाससंग्रहः ॥३५॥

इस प्रकार श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लास नामक प्रबन्ध का पञ्चमोल्लास संक्षेप से समाप्त हुआ।

—०—

अथ षष्ठोल्लास संग्रहः

एक निर्विकार सदाशिव अधिष्ठानरूप आत्मतत्त्व में स्वप्न की तरह सारा जागृत्कालीन विश्व प्रपंच माहेश्वरी मोहिनी शक्ति द्वारा विलसित है, यह सिद्ध हो गया। परन्तु नास्तिकों में सर्वाधिक वावदूक माध्यमिक पक्ष की पूर्व श्लोक में शून्य शब्द से प्रतिज्ञा मात्र आचार्य भगवत्पादों ने की थी। यह पक्ष युक्ति के आश्रयण को अधिक करता है एवं वेदान्त के अत्यधिक समीप है अतः इस उल्लास में उसी का निराकरण प्रधानतया करेंगे। अनेक आधुनिक भारतीय दार्शनिक एवं पौरस्त्य (oriental) विद्वान् शून्यवाद को अद्वैत वेदान्त से अभिन्न भी कह देते हैं और कई संस्कारहीन महाभ्रान्त तो आचार्यप्रवर भगवान गौड़पाद को भी शून्यवाद का ऋणी कहने में संकोच नहीं करते। यह सत्य है कि उपनिषद के अनुयायियों से एक नास्तिक धारा निकली जिसने अभाव रूप से ब्रह्मवाद को समझा। शून्यवाद इसी धारा का बौद्ध संस्करण है। परवर्ती काल में भी अभावाद्वैतियों की धारा चलती रही है परन्तु वैदिकों की मूलधारा भावाद्वैत के पक्ष का समर्थन करती रही है। वैदिक अद्वैतवाद में तो अभावाद्वैत का कहीं भी समर्थन नहीं है वरन् आचार्य गौडपाद, भगवत्पाद, पद्मपाद, विश्वरूप, सर्वज्ञात्म, प्रकाशात्म, अनुभूतिस्वरूप आदि सभी इसके विरोधी रहे हैं। अतः इस अध्याय का सम्यक् परिशीलन आधुनिक विचारकों को निश्चय करा देगा कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी शून्यवाद से हमारा सम्बन्ध नहीं रहा है। आधुनिक समय के अनेक लेखक, जो न साम्प्रदायिक बौद्ध हैं और न वैदिक, शून्य का ही भावात्मक अर्थ करके वैदिक अद्वैत और बौद्ध अद्वैत में सामञ्जस्य स्थापित करना चाहते हैं। परन्तु यह प्रयास व्यर्थ और निष्फल है क्योंकि बौद्ध इसे

स्वीकार कर लें तो ब्रह्म का नामान्तर शून्य होकर उन्हें वैदिक मत स्वीकार करना पड़ेगा जो उनके सर्वानित्यवाद का विरोधी है। दार्शनिक ईमानदारी उतनी ही आवश्यक है जितनी व्यावहारिक ईमानदारी। इस उल्लास में भगवान वार्तिककार सुरेश्वराचार्य अपनी अप्रतिम प्रतिभा से शून्यवाद का निराकरण करने के लिये प्रथम पूर्व पक्ष का उपस्थापन करते हैं :—

स्वप्ने विश्वं यथातत्स्थं जाग्रत्यपि तथेतिचेत्।
सुषुप्तौ कस्य किं भाति कस्स्थायी तत्र चेतनः ॥१॥

(पदच्छेदः)

स्वप्ने विश्वम् यथा तत्स्थम्* जाग्रति अपि तथा इति चेत्।
सुषुप्तौ कस्य किम् भाति कः स्थायी तत्र चेतनः ॥१॥

(सान्वयार्थः)

यथा =जैसे	सुषुप्तौ =गहरी नींद में
विश्वम् =संसार[1]	कस्य =किसको[4]
स्वप्ने =स्वप्न में	किम् =किसकी
तथा =वैसे	भाति =प्रतीति होती है ?
जाग्रति =जागृत में	तत्र =वहाँ
अपि =भी	कः =कौनसा
तत्स्थम् =उस[2] में ही स्थित है	स्थायी =हमेशा रहने वाला[5]
इति =ऐसा	चेतनः =चेतन है।
चेत् =यदि[3] मानो तो	

व्याख्या

१. समग्र दृश्य समुदाय।

२. उस परमेश्वर के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण उसमें ही स्थित कहा गया। स्वप्न या जागृत दोनों अवस्थाओं में साक्षी द्रष्टा का भेद नहीं हैं।

पाठान्तर में तो जैसे स्वप्न हिता नाडी में दिखता है वैसे ही जागृत भी अन्दर ही दिखता है ऐसा अर्थ अवगन्तव्य है।

३. प्रतीति जहाँ है वहाँ साक्षी आत्मा को स्वीकार करने पर जागृत स्वप्न में प्रतीति से आत्मा को सिद्ध किया। प्रतीति के अभाव से सुषुप्ति में सद्रूप आत्मा की स्थायिता युक्ति-युक्त नहीं होती है। अतः आत्मा असद्रूप है यह माध्यमिक की मान्यता है।

४. किस दृष्टा को किस तत्त्व की अनुभूति होती है अर्थात् नहीं होती।

५. यदि स्थायी चेतन आत्मा होता तो सुषुप्ति में भी रहता। अतः सुषुप्ति में चेतनाभाव से आत्मा की अनित्यता सिद्ध होती है।

*यथान्तस्थं इति. पाठभेदः।

—२—

आत्मवाद का निराकरण हो जाने पर स्वसिद्धान्त बताते हैं :—

सर्वञ्च क्षणिकं शून्यं सर्वमेव स्वलक्षणम्।
सङ्घातःपरमाणूनां मह्यम्ब्वग्निसमीरणाः ॥२॥

(पदच्छेदः)

सर्वम् च क्षणिकम् शून्यम् सर्वम् एव स्वलक्षणम्।
संघातः परमाणूनाम् मह्यम्ब्वग्निसमीरणाः ॥२॥

(सान्वयार्थः)

सर्वम्	=सारा[1] ही	स्वलक्षणम्	=अपने से ही दृष्ट[4] है।
क्षणिकम्	=क्षणभर[2] रहने वाला	मह्यम्ब्वग्नि-समीरणाः	=पृथ्वी, जल, तेज, और वायु
च	=और	परमाणूनाम्	=परमाणुओं का
शून्यम्	=शून्य[3] है।	सङ्घातः	=समुदाय[5] है।
सर्वम्	=सभी		
एव	=ही		

व्याख्या

१. आत्मा के सहित सारा ही जगत् जो द्रष्टा दर्शन दृश्यरूप से अनुभूत है।

२. क्षणमात्र सद्रूप अर्थात् सत्तावाला रहता है। प्रतीति काल में ही सत्ता है, अतः नित्य कुछ भी नहीं।

३. प्रतीति के पूर्व और उत्तर अभावरूप होने से असत् है। पदार्थों का सार्वदिक रूप शून्य ही सिद्ध होता है। मध्य में क्षण भर के लिये सत्ता आती है। अतः आगमापायी होने से सत्ता स्वरूप नहीं, अभाव या असत् ही पदार्थों की असलियत है।

४. स्वलक्षण माने स्वग्राह्य अर्थात् ग्राह्य ग्राहक भेद से रहित। यहाँ प्रत्येक प्रतीति ही स्वप्रकाश है। अतः आत्मा या बाह्यपदार्थ स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। प्रतीति के पूर्व या उत्तर न तो पदार्थ स्वीकार करने पड़ेंगे और न आत्मा। पदार्थ और आत्मा का भेद मानना भी अनावश्यक है। अतः अत्यन्त लाघव इस मत में होता है।

५. प्रसंग प्राप्त बौद्धों के सौत्रान्तिक और वैभाषिकों के पञ्चस्कन्धवाद का भी निराकरण करते हैं। जैसे वैदिकों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और मीमांसा-द्वय इस प्रकार ६ भेद हैं वैसे ही बौद्धों के सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक इस प्रकार ४ भेद हैं। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रथम हीनयान है और अन्य महायान। दार्शनिक दृष्टि से पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर श्रेष्ठ हैं। पञ्चस्कन्धवादी बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं। ज्ञेय जगत् चार तरह के परमाणुओं का समुदाय है और चेतन जगत् पाँच प्रकार के स्कन्धों का समुदाय है।

वैशेषिकों के परमाणुवाद में परमाणु गुणों के आश्रय हैं, बौद्धों के यहाँ वे परमाणु से भिन्न किसी भी विशेष गुण वाले नहीं है। और न सांख्यवाद की तरह वे प्रकृति रूप कारण का कार्य ही महाभूतों को मानते हैं। अतः आरम्भवाद और परिणामवाद दोनों को हटाकर संघातवाद ही इन्हें स्वीकृत है। अवयव से नवीन अवयवी मानने में दोष तो पूर्व में प्रतिपादित कर आये हैं और परिणामी कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं। अतः भूत भौतिक प्रपंच को संघातरूप मानकर चेतन जगत् मे उसका निर्देश करेंगे।

—३—

बाह्यसंघ निरूपणानन्तर आध्यात्मिक संघों को बताते हैं :—

मनुष्यादिशरीराणि स्कन्धपञ्चकसंहतिः।
स्कन्धाश्च रूपविज्ञानसंज्ञासंस्कारवेदनाः ॥३॥

(पदच्छेदः)

मनुष्यादिशरीराणि स्कन्धपञ्चकसंहतिः ।
स्कन्धाः च रूपविज्ञानसञ्ज्ञासंस्कारवेदनाः ॥३॥

(सान्वयार्थः)

मनुष्यादि-शरीराणि	= मानव और अन्य चेतन प्राणियों के शरीर	च	= और
		रूपविज्ञानसञ्ज्ञा-संस्कारवेदनाः	= रूप, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार और वेदना
स्कन्धपञ्चक-संहतिः	= पाँच[1] स्कन्धों का समुदाय है	स्कन्धाः	= स्कन्ध हैं ।

व्याख्या

१. पाँच संख्या वेद में उक्त पंच कोषों की छाया है यह स्पष्ट है । वैदिक दर्शन का प्रभाव विश्व के सभी धर्मों और दर्शनों में है तो बौद्ध धर्म तो वैदिकों की ही एक पथभ्रान्त परम्परा है ।

—४—

उद्देश क्रम से स्कन्धों के स्वरूपों को बताते हैं :—

रूप्यन्त इति रूपाणि विषयाश्चेन्द्रियाण्यपि ।
विषयेन्द्रिययोर्ज्ञानं विज्ञानस्कन्ध उच्यते ॥४॥

(पदच्छेदः)

रूप्यन्ते इति रूपाणि विषयाः च इन्द्रियाणि अपि ।
विषयेन्द्रिययोः ज्ञानम् विज्ञानस्कन्धः उच्यते ॥४॥

(सान्वयार्थः)

विषयाः	= दृश्य विषय	रूपाणि	= रूप (स्कन्ध कही जाती) हैं ।
च	= और		
इन्द्रियाणि	= साधन इन्द्रियाँ	विषयेन्द्रिययोः	= दृश्य और इन्द्रियों का
अपि	= भी		
रूप्यन्ते	= निरूपित[1] होती हैं	ज्ञानम्	= अनुभव[2]
इति	= इसलिये	विज्ञानस्कन्धः	= विज्ञान स्कन्ध
		उच्यते	= कहा जाता है ।

व्याख्या

१. विषय और इन्द्रियों का स्वरूप तो भौतिक होने से बाह्य-संघात का अंग है। उनका मानसिक निरूपण ही चेतन संघात में इष्ट है। हमारा विषय और इन्द्रियों के बारे में जो ज्ञान है वही रूप-स्कन्ध है।

२. विषय और इन्द्रियों का ज्ञानमात्र विज्ञानस्कन्ध है। यह वैदिकों के सामान्य ज्ञान या तार्किकों के निर्विकल्प ज्ञान की तरह है।

—५—

संज्ञागुणक्रियाजातिविशिष्टप्रत्ययात्मिका।
पञ्चधा कल्पना प्रोक्ता संज्ञास्कन्धस्य सौगतैः ॥५॥

(पदच्छेदः)

सञ्ज्ञा-गुण-क्रिया–जाति–विशिष्टप्रत्ययात्मिका।
पञ्चधा कल्पना प्रोक्ता सञ्ज्ञास्कन्धस्य सौगतैः ॥५॥

(सान्वयार्थः)

सौगतैः	= सुगत के अनुयायी सौत्रान्तिक आदियों ने	सञ्ज्ञा-गुण-क्रिया-जाति-विशिष्ट-प्रत्ययात्मिका	= संज्ञा, गुण, क्रिया, जाति और विशिष्ट प्रत्यय नाम से
सञ्ज्ञा-स्कंधस्य	= संज्ञास्कन्ध की	पञ्चधा	= पाँच प्रकार की
		कल्पना	= मानस रचना
		प्रोक्ता	= बताई है।

व्याख्या

१. संज्ञास्कन्ध में इन पाँच का ज्ञान सन्निहित है। संज्ञा पूर्व में है अतः संज्ञास्कन्ध कहा जाता है।

—६—

प्रसंग प्राप्त इन पाँचों का सोदाहरण निरूपण करते हैं :—

गवां गौरिति संज्ञोक्ता जातिर्गोत्वन्तु गोगतम्।
गुणाश्शुक्लादयस्तस्य गच्छत्याद्यास्तथा क्रियाः ॥६॥

(पदच्छेद:)

गवाम् गौः इति संज्ञा उक्ता जातिः गोत्वम् तु गोगतम् ।
गुणाः शुक्लादयः तस्य गच्छति आद्याः तथा क्रियाः ।।६।।

(सान्वयार्थ:)

गवाम्	=गौओं की	जातिः	=जाति है।
गौः	=गौ	तस्य	=उसके
इति	=इस प्रकार	शुक्लादयः	=सफेद आदि
संज्ञा	=संज्ञा[1] (नाम या शब्द)	गुणाः	=गुण हैं।
उक्ता	=कही गई है।	तथा	=और
गोगतम्	=गौमात्र में रहने वाला	गच्छति	=जाना
गोत्वम्	=गोपना[2]	आद्याः	=आदि
तु	=तो	क्रियाः	=क्रिया[3] हैं

व्याख्या

१. प्रत्येक पदार्थ के विशेष ज्ञान में नाम भी अपेक्षित है। अतः उसको भी यहाँ कहा गया।

२. गौमात्र का अवच्छेदक धर्म। जिसके रहने से पदार्थ गौ कहा जाता है। जिसके अभाव में पदार्थ गौ नहीं हो सकता।

३. क्रिया अर्थात् तत्तत्कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य। इसके बिना भी पदार्थ का ज्ञान अधूरा ही रहता है। बगल में दवाई होने पर भी सामर्थ्य से अनभिज्ञ उसका जानने वाला नहीं समझा जाता।

—७—

शृङ्गी चतुष्पाल्लाङ्गूली विशिष्टप्रत्ययोह्यसौ ।
एवम्पञ्चविधाक्लृप्तिः संज्ञास्कन्ध इतीर्यते ।।७।।

(पदच्छेद:)

शृङ्गी चतुष्पात् लांगूली विशिष्टप्रत्ययः हि असौ ।
एवम् पञ्चविधा क्लृप्तिः संज्ञास्कन्धः इति ईर्यते ।।७।।

(सान्वयार्थः)

शृङ्गी	=सींगवाली,	एवम्	=इस प्रकार
चतुष्पात्	=चार पैर वाली,	पञ्चविधा	=पाँच प्रकार की
लाङ्गूली	=दुमवाली	क्लृप्तिः	=कल्पना
असौ	=यह	सञ्ज्ञास्कन्धः	=संज्ञास्कन्ध
हि	=निश्चय रूप से	इति	=नाम से
विशिष्ट प्रत्ययः	=विशिष्ट प्रत्यय[1] है।	ईर्यते	=कही जाती है।

व्याख्या

१. नानावयवसंस्थाननिवन्धनप्रत्ययो विशिष्टप्रत्ययः। अनेक अवयवों के संगठित रूपता का ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। इनमें से प्रत्येक ज्ञान में अनेकता का भान होकर भी एकता की प्रतीति है।

—८—

रागाद्याः पुण्यपापे च संस्कारस्कन्ध उच्यते।
सुखन्दुःखं च मोक्षश्च स्कन्धस्स्याद्वेदनाह्वयः ॥८॥

(पदच्छेदः)

रागाद्याः पुण्यपापे च संस्कारस्कन्धः उच्यते
सुखम् दुःखम् च मोक्षः* च स्कन्धः स्यात् वेदनाह्वयः ॥८॥

(सान्वयार्थः)

रागाद्याः	=राग[1] आदि	दुःखम्	=दुःख
च	=और	च	=एवम्
पुण्यपापे	=पुण्य[2] व पाप	मोक्षः	=मोक्ष[3]
संस्कारस्कन्धः	=संस्कारस्कन्ध	वेदनाह्वयः	=वेदना नामक
उच्यते	=कहे जाते हैं।	स्कन्धः	=स्कन्ध
सुखम्	=सुख	स्यात्	=होता है।
च	=और		

व्याख्या

१. राग, द्वेप, काम, क्रोध आदि व्यक्ति निष्ठ धर्म विशेष

२. बुद्ध के द्वारा बताये गये मार्ग के पालन और विरोध से होने वाले मन में पड़े हुये अनुभवों को पुण्य और पाप कहते हैं।

३. मोक्ष अर्थात् निरुपप्लवविज्ञानसन्तानोदय। शुद्ध ज्ञान की ऐसी अविच्छिन्न धारा जिसमें विषय आदि वाह्य कल्पनाओं का मिश्रण न हो।

पाठान्तर में विषयाद्याकारोपप्लुतविज्ञानसन्तान समझना चाहिये। यहाँ भी ज्ञान की अविच्छिन्न धारा तो है पर वाह्य पदार्थ आदियों के मिश्रण से भ्रान्त है।

* मोहश्च इति पाठभेदः।

—६—

पञ्चभ्य एव स्कन्धेभ्यो नान्य आत्मास्ति कश्चन।
न कश्चिदीश्वरः कर्ता स्वगतातिशयञ्जगत् ॥६॥

(पदच्छेदः)

पञ्चभ्यः एव स्कन्धेभ्यः न अन्यः आत्मा अस्ति कश्चन।
न कश्चित् ईश्वरः कर्ता स्वगता तशयम् जगत् ॥६॥

(सान्वयार्थः)

पञ्चभ्यः	=पाँच	अस्ति	=है।
स्कन्धेभ्यः	=स्कन्धों से	कश्चित्	=कोई
अन्यः	=अलग[1]	कर्ता	=वनाने वाला
कश्चन	=कोई	ईश्वरः	=ईश्वर[2]
आत्मा	=आत्मा	न	=नहीं है।
न	=नहीं	स्वगतातिशयम्[3]	=स्वयं निर्मित
एव	=ही	जगत्	=संसार है।

व्याख्या

१. क्षणिक ज्ञान प्रवाहरूप स्कन्धों से अतिरिक्त स्थायी आत्मा का निषेध करने के लिये 'अन्यः' पद है। उसकी सत्ता में प्रमाणाभाव है। सुषुप्ति के अनुभव से स्थायी आत्मा का विरोध है।

२. संयोजक के न होने से संयोग न होगा। संयोग स्वीकार से तुम्हारे मत में भी भिन्न बाह्य तत्त्वों को एवं पंचस्कन्धों को मिलाने वाला, निर्देश करने वाला और नियमबद्धरूप से विकास करने वाला ईश्वर तो मान्य होगा ही। वह ईश्वर यदि चेतन है तो वही आत्मा हो जायगा। इस प्रकारान्तर से प्राप्त आत्मा का निषेध किया जाता है।

३. 'स्वगत एवातिशयो यस्य तत्स्वगतातिशयम् नान्यकृतातिशययोगीत्यर्थः'। संसार स्वजन्य, स्वाश्रित, व स्वनियन्त्रित है। इसके लिये किसी चेतन नियन्ता की आवश्यकता नहीं। संसार को स्वयं अपने में परिपूर्ण मानना इस मत की विशेषता है।

—१०—

दोनों प्रकारों के संघातों में स्वगतातिशयत्व सिद्ध करते हैं :—

स्कन्धेभ्यः परमाणुभ्यः क्षणिकेभ्योऽभिजायते ।
पूर्वपूर्वक्षणादेव क्षणस्स्यादुत्तरोत्तरः ॥१०॥

(पदच्छेदः)

स्कन्धेभ्यः परमाणुभ्यः क्षणिकेभ्यः अभिजायते ।
पूर्वपूर्वक्षणात् एव क्षणः स्यात् उत्तरोत्तरः ॥१०॥

(सान्वयार्थः)

क्षणिकेभ्यः	= क्षण भर रहने वाले	पूर्वपूर्वक्षणात्	= पहले पहले के क्षण[1] से
परमाणुभ्यः	= परमाणुओं से[1] और	एव	= ही
स्कन्धेभ्यः	= स्कन्धों से	उत्तरोत्तरः	= बाद बाद के
अभिजायते	= उत्पन्न[2] होता है।	क्षणः	= क्षण
		स्यात्	= होते हैं।

व्याख्या

१. परमाणुओं से बाह्य जगत् स्वतः पैदा होता है और स्कन्धों से इसी प्रकार आभ्यन्तर जगत्।

२. वैदिक ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, पर यह अनावश्यक ही नहीं अनुभव और तर्क के विरुद्ध भी है क्योंकि ईश्वरसत्ता में प्रमाणाभाव है। विश्व के निर्माता रूप से ही ईश्वर की सिद्धि होती है। ऐसा ईश्वर सृष्टि करने में क्या किसी पदार्थान्तर की अपेक्षा रखता है या निरपेक्ष होकर ही प्रवृत्त होता है ? निरपेक्षता में तो दृष्टान्ताभाव है। घर बनाने वाला ईंटों आदि से निरपेक्ष घर बनाता नहीं देखा जाता। और युक्ति से भी संघात निर्मापक को संघात में लाने वाले पदार्थों की सापेक्षता तो रहेगी ही। उसके बिना संघात किसका किया जायगा ? यदि पदार्थान्तर सापेक्ष ईश्वर संघाता है तो संघाता सामर्थ्य वाले पदार्थों का संघात करता है या असामर्थ्यवालों का ? समर्थों के लिये ईश्वर की अपेक्षा मानने पर तो ईश्वर प्रवृत्ति के लिये भी प्रेरकान्तर की अपेक्षा होगी। इष्टापत्ति स्वीकार की जाय तो चक्रिका, अनवस्था आदि दोष प्राप्त होंगे। यदि असमर्थों का संघाता ईश्वर है तब तो पानी से भी दही जमने लगेगा। अतः परमाणु और स्कन्धों से भिन्न संघात करने वाला चेतन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

संक्षेप से कह सकते हैं कि सामग्री के बिना ईश्वर सृष्टि नहीं कर सकता। सामग्री में सृष्टि की सामर्थ्य विद्यमान होने से ईश्वर व्यर्थ सिद्ध होता है।

किंच सारा जगत् क्षणक्षण में परिवर्तनशील है और ईश्वर स्वरूपतः अपरिणामी है अतः दोनों में कार्य कारण भाव स्वीकार नहीं किया जा सकता।

३. पूर्व पूर्व क्षण में ही उत्तरोत्तरक्षण की कारणता स्वीकार्य है। उत्तरोत्तर क्षण में स्कन्ध या परमाणुओं का पूर्वक्षणरूप अनुवृत्त है यह भाव है।

यहाँ पर क्षण अर्थात् क्षणभर रहनेवाली सत्ता।

—११—

विषय की तरह विषयी का भी ज्ञान क्षणिक होने से किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता :—

पूर्वस्मादेव हि ज्ञानाज् जायते ज्ञानमुत्तरम् ।
स एवायमिति ज्ञानं सेयज् ज्वालेव विभ्रमः ॥११॥

(पदच्छेदः)

पूर्वस्मात् एव हि ज्ञानात् जायते ज्ञानम् उत्तरम् ।
सः एव अयम् इति ज्ञानम् सा इयम् ज्वाला इव* विभ्रमः ॥११॥

(सान्वयार्थः)

हि	=क्योंकि[1]	अयम्	=यह है'
पूर्वस्मात्	=पहले वाले	इति	=इस प्रकार का
ज्ञानात्	=ज्ञान से	ज्ञानम्	=ज्ञान[3]
एव	=ही[2]	सा	='वही
उत्तरम्	=बाद वाला	इयम्	=यह
ज्ञानम्	=ज्ञान	ज्वाला	=लपट है'
जायते	=पैदा होता है ।	इव	=की तरह
सः	='वह	विभ्रमः	=भ्रान्ति[4] है ।
एव	=ही		

व्याख्या

१. पूर्व श्लोक की प्रतिज्ञा में यह हेतु वाक्य है । नियतरूप से पूर्व क्षण में रहना कारण का लक्षण है । और उत्तर ज्ञान के पूर्वक्षण में पूर्व ज्ञान ही नियतरूप से रहता है ।

२. पूर्वज्ञान से अतिरिक्त किसी की नियतपूर्ववृत्तिता सिद्ध नहीं है ।

३. प्रत्यभिज्ञा 'वही यह घड़ा है' और 'वही पुरुष मैं हूँ' इस प्रकार से विषय और अनुभूता दोनों के स्थायित्व की सिद्धि करती है । अतः क्षणिकता सिद्ध नहीं होती । और क्षणिक नहीं होने से अन्य की भी पूर्ववृत्तिता संभव है ।

४. जैसे ज्वाला प्रतिक्षण नष्ट होने पर भी निरन्तर समान ज्वालान्तर की उत्पत्ति के कारण उन ज्वालाव्यक्तियों के भेद ज्ञान का प्रतिबन्ध होकर 'वही यह ज्वाला है' की भ्रान्ति कराता है वैसे ही

किसी भी पदार्थ की स्थायिता भ्रम है। 'व्यक्तिनाशेपि सजातीयस्य निरन्तरोत्पत्तेर्भेदाग्रहनिबन्धनो विभ्रमः प्रत्यभिज्ञा' इति सौगतहृदयम्।

*ज्वालेतिवद्भ्रमः इति पाठभेदः।

—१२—

सौगत अपने पक्ष का उपसंहार करता है:—

अस्तिभातीति धीर्भ्रान्तैरात्मानात्मसु कल्प्यते।
हानोपादानराहित्यादाकाशः किं प्रकाशते ॥१२॥

(पदच्छेदः)

अस्ति भाति इति धीः* भ्रान्तैः आत्मानात्मसु कल्प्यते।
हानोपादानराहित्यात् आकाशः किम् प्रकाशते ॥१२॥

(सान्वयार्थः)

भ्रान्तैः[1]	= भ्रम में पड़े लोग	कल्प्यते	= मानते हैं।
आत्मानात्मसु	= आत्मा[2] और अनात्मा में	हानोपादान-राहित्यात्	= ग्रहण और त्याग से हीन[3]
अस्ति	= 'है' (और)	आकाशः	= आकाश
भाति	= 'भान होता है'	किम्	= क्या
इति	= इस प्रकार की	प्रकाशते	= प्रकाशित होता है?
धीः	= बुद्धि		

व्याख्या

१. सविकल्पकज्ञानम्भ्रमः।

२. आत्मा अर्थात् पंचस्कन्धों और अनात्मा अर्थात् परमाणु-समुदायों में सत्ता और प्रकाश की स्थिरता मानते हैं।

अथवा अनात्मा में आत्मा की कल्पना करते हैं। उसमें हेतु है कि आत्मा है और प्रकाशित होता है ऐसा जो मानते हैं वे इस भ्रम से कल्पना करते हैं।

३. आत्मा म सत्ता और प्रतीति भ्रम से सिद्ध करने में यह हेतु है। आत्मा, अवस्तुः, अहेयानुपादेयत्वात्, आकाशवत्। यथाप्रतिपत्तिसंवादाभावादित्यभिप्रायः। बौद्धसिद्धान्त में जिसकी प्राप्ति और निवृत्ति के लिये प्रयत्न नहीं किया जाता वह वस्तु नहीं होती। आकाश की प्राप्ति या निवृत्ति का प्रयत्न कोई नहीं करता अतः वह वस्तु नहीं स्वीकार की जाती। इसी प्रकार अनात्मा में आत्मा की सत्ता और प्रकाश रूप से वर्तमानता की भावना मानव से कोई भी प्रयत्न प्रवृत्ति-निवृत्ति दिशा म नहीं कराती, अतः अवास्तविक है। और सत्ता व प्रकाश भी इसीलिये पदार्थ नहीं।

वस्तुतस्तु अवकाशस्वरूप आकाश हानोपादान का विषय ही सिद्ध होता है। एवं आत्मा का स्वरूप ज्ञान मोक्ष का हेतु है।

* धीभ्रान्तैः इति पाठभेदः।

—१३—

इत्येवम्बौद्धसिद्धान्ती भाषमाणो निषिद्ध्यते ॥१३॥

(पदच्छेदः)

इति एवम् बौद्धसिद्धान्ती भाषमाणः निषिद्धयते ॥१३॥

इस प्रकार भाषण देता हुआ बौद्धसिद्धान्ती इस स्तवश्लोक द्वारा निराकृत किया जाता है।

राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्
सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योऽभूत्सुषुप्तः पुमान्।
प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

(पदच्छेदः)

राहुग्रस्त-दिवाकर-इन्दु-सदृशः माया-समाच्छादनात्
सन्मात्रः करण-उपसंहरणतः यः अभूत् सुषुप्तः पुमान्
प्राक् अस्वाप्सं इति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते तस्मै०

(सान्वयार्थः)

राहुग्रस्त-दिवाकर-इन्दु-सदृशः	= ग्रहण में राहु से छिपे सूर्य चन्द्रमा की तरह	अभूत्	= हो जाता है,
मायासमाच्छादनात्	= माया से छिप जाने के कारण	(पुनः	= फिर)
यः	= जो	यः	= जो (वही परमेश्वर)
पुमान्	= पुरुष (परमेश्वर)	प्रबोध समये	= उठने के बाद
करण-उपसंहरणतः	= इन्द्रियों के लीन हो जाने से	प्राक्अस्वाप्सं इति	= "मैं पहले सोया था (वही मैं अब जाग रहा हूँ)" इस प्रकार
सुषुप्तः	= सो जाने पर	प्रत्यभिज्ञायते	= याद करता है
सन्मात्रः	= केवल सद्रूप	तस्मै०	= उस···भगवान को नमस्कार है।

[स्मर्ता और अनुभविता एक ही हो सकते हैं। अतः जाग्रत में जो सुषुप्ति और स्वप्न का स्मर्ता है वह ही उनका अनुभविता भी है। यह प्रत्यभिज्ञा ही विश्व, तैजस व प्राज्ञ की एकता में प्रमाण है।]

अस्यायमाशयः— यह इसका भाव है:—

—१४—

शून्यञ्चेज्जगतो हेतुर्जगदेव न सिद्ध्यति।
घटश्शून्यः पटश्शून्य इति कैः प्रतिपाद्यते ॥१४॥

(पदच्छेदः)

शून्यम् चेत् जगतः हेतुः जगत् एव न सिद्धयति।
घटः शून्यः पटः शून्यः इति कैः प्रतिपाद्यते ॥१४॥

(सान्वयार्थः)

शून्यम्	= शून्य[1] (अभाव, असत्)	जगत्	= संसार
जगतः	= संसार का	एव	= ही
हेतुः	= कारण[2]	न सिद्धयति	= सिद्ध[3] न होता।
चेत्	= यदि होता तो	घटः	= घड़ा

शून्यः	=शून्य है,
पटः	=कपड़ा
शून्यः	=शून्य है
इति	=इस प्रकार
कैः	=कौन
प्रतिपाद्यते	=प्रतिपादन करते हैं ?

व्याख्या

१. शून्य का अर्थ होता है कुछ नहीं। असत् कहने से सत्ता की प्रतियोगी रूप से उपस्थिति हो जाती है। अभाव कहने से किसका अभाव यह ज्ञातव्य होता है। अतः सर्व असद्वादी बौद्ध शून्य शब्द का प्रयोग करता है।

२. बौद्ध दार्शनिक उत्पत्ति से पूर्व जगत् की असद्रूपता स्वीकार करते हैं अतः शून्य ही कारण रूपेण रहा। यहाँ शून्य नामक पदार्थ में कारणत्व धर्म की उपस्थिति आदि कल्पनाएँ निरवकाश हैं। वादी का तात्पर्य केवल असद्रूपता के प्रतिपादन में है।

३. कारण कार्य भाव जहाँ भी देखा गया है वहाँ कार्य स्वोपादानकारण रूप से ही प्रतीत होता है। एवं कार्योत्पत्ति के लिये कारण का ही ग्रहण किया जाता है। किंच कारणरूप से कार्य को स्वीकार भी किया जाता है। जैसे सोने की अंगूठी सोने के रूप से प्रतीत होती हुई बाज़ार में सोने के कीमत की ही समझी जाती है एवं उसको बनाने के लिये सोना ही ग्रहण किया जाता है।

यदि शून्य ही संसार का उपादान कारण हो तो संसार की शून्यरूपता से ही प्रतीति होती, न कि सद्रूप से। संसार का सारा व्यवहार तो सद्रूपता से ही होता है। किंच शून्यरूप संसार स्वीकृत होने पर हम इसकी उपेक्षा मात्र करते क्योंकि असत् की तरफ हमारी प्रवृत्ति असंभव है। जो शून्य का भाव है वही जगत् का भी होता। किसी भी पदार्थ की आवश्यकता होने पर कारण की तरफ प्रवृत्त न होकर सर्वत्र सुलभ शून्य से ही हमारा काम चल जाता।

अकारण कार्योत्पत्ति स्वीकार करने पर तो कार्यार्थी में उपादान प्रवृत्ति नहीं देखी जानी चाहिये। असत्पूर्वकत्व कल्पना में असत् को

सद्रूपता की प्राप्ति में दृष्टान्ताभाव और 'कथमसतः सज्जायेत' यह श्रौत विरोध भी है। अतः प्रामाणिकों के यहाँ असत्कारणतावाद अनादरणीय ही होगा।

४. कोई भी घट को शून्य समझकर न बोलता है, न व्यवहार करता है। जो लोग अपने अनुभवों की व्यवस्था के लिये दार्शनिक विचार में प्रवृत्त होकर लक्षण प्रमाणों के आधार पर वस्तु सिद्धि चाहते हैं वे तो इस सर्वथा युक्ति और अनुभव के विरुद्ध मत को स्वीकार नहीं कर सकेंगे। और न वे लोग ही इस मत के अनुयायी रह सकेंगे जो अपने धार्मिक विश्वासों को प्रमाणों की कसौटी पर कसे जाना पसन्द करते हैं। विचारशील अप्रामाणिक विश्वासों पर श्रद्धा नहीं कर सकता। परन्तु शून्यवादी बौद्धों को ऐसे अनेक अन्ध-विश्वासी मिल ही जाते हैं। सहस्राधिक वर्ष के बाद अब पुनः भारत में अपने को विचारशील समझने वाले मूढ लोग पुनः उसी अन्ध-विश्वास में स्वयं पड़कर अन्य जनता को भी भ्रम में डालने का उप-क्रम कर रहे हैं। नवीनता की खोज इसका कारण है। गृद्ध अधिक बुद्धिमान और ऊँचा उड़नेवाला अपने को समझता है पर सब से अधिक गन्दगी को खाता है। यही हालत अनेक विचारकों की होती है जो अधिक विश्लेषण करते हुये नवीनता के प्रवाह में अप्रामाणिक मतों के फेर में पड़ते हैं।

—१५—

शून्य कारण वाला जगत् शून्यरूप होने पर भी संवृति या भ्रम के कारण व्यवहार चलता रहेगा ऐसी शंका भी ठीक नहीं क्योंकि शून्य निरुपाख्य है अतः संवृति भी वहाँ व्यवहार सिद्धि न कर सकेगी। इस व्यवहारविरोध का ही प्रपंचन करते हैं:—

नैव भासेत शून्यञ्चेज्जगन्नरविषाणवत्।
वस्त्वर्थी किमुपादद्याद्भारार्तः किम्परित्यजेत् ॥१५॥

(पदच्छेदः)

न एव भासेत शून्यम् चेत् जगत् नरविषाणवत्।
वस्त्वर्थी किम् उपादद्यात् भारार्तः किम् परित्यजेत ॥१५॥

(सान्वयार्थः)

जगत्	=संसार	वस्त्वर्थी	=वस्तु की इच्छा[1] वाला
शून्यम्	=(असत्) शून्य रूप	किम्	=क्या
चेत्	=यदि हो तो	उपादद्यात्	=ग्रहण करे ?
नरविषाणवत्	=मनुष्य के सींग[1] की तरह	भारार्तः	=बोझ से घबराया हुआ
एव	=ही	किम्	=किसको
न	=नहीं	परित्यजेत्	=उतारे ?
भासेत	=प्रतीत होवे ।		

व्याख्या

१. आदमी के सींग की तरह असत् वस्तु भ्रम से भी प्रतीत नहीं हो सकती । मिथ्या और असत् में यही भेद है । प्रतीति काल में रह कर फिर न रहे वह मिथ्या होता है । मिथ्या साधिष्ठानक होता है । तीनों कालों में न होने वाला अप्रतीत रूप असत् होता है । वेदान्त में जगत मिथ्या है असत् नहीं, अतः व्यवहार्य है ।

२. पूर्व में विद्यमानपदार्थ ही उपादान और त्याग का विषय हो सकता है, अविद्यमान नहीं । अतः व्यवहार शून्यवाद में असंभव है ।

—१६—

व्यवहार के पदार्थों की तरह व्यवहार करने वाले का अभाव भी शून्यवाद में व्यवहार को असंभव करेगाः—

को विदध्यान्निषिध्येद्वा शून्यत्वात्स्वस्य चात्मनः ।
अवसीदेन्निराकृतन् तस्मात्सर्वमिदञ्जगत् ॥१६॥

(पदच्छेदः)

कः विदध्यात् निषिध्येत् वा शून्यत्वात् स्वस्य च आत्मनः ।
अवसीदेत् निराकृतम् तस्मात् सर्वम् इदम् जगत् ॥१६॥

(सान्वयार्थः)

च	=और[1]	तस्मात्	=अतः[3]
स्वस्य	=अपने	इदम्	=यह
आत्मनः	=आपे[2] के	सर्वम्	=सारा
शून्यत्वात्	=न होने से	जगत्	=संसार
कः	=कौन	निराकृतम्	=निष्कारण[4]
विदध्यात्	=विधान करेगा	अवसीदेत्	=समाप्त[5] हो जायगा।
वा	=या		
निषिध्येत्	=प्रतिषेध करेगा ?		

व्याख्या

१. विषय विषयी दोनों के समुच्चयार्थ चकार है।

२. विधि और निषेध का विषय स्थायी आत्मा ही हो सकता है। अन्यथा जिसके प्रति विधान किया जायगा वह अग्रिम क्षण में न रहेगा तो विधि व्यर्थ हो जायगी। इसी प्रकार विधि करने वाला भी स्थायी न होगा तो करने से उसको कोई लाभ भी न होगा।

३. शून्यवाद के मत में दोषों का उपसंहार करते हैं।

४. निष्कारण अर्थात् अपने अस्तित्त्व के लिये किसी कारण या प्रयोजन का अभाव।

५. संसार में व्यवहार संभव नहीं और परमार्थ है नहीं तो फिर वह कैसे रहेगा ? अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार ही पुरुषार्थ हैं। इन में विधि निषेध और ईश्वर एवं स्थायी भोक्ता जीव के अभाव में धर्म संभव नहीं। व्यवहाराभाव से अर्थ संभव नहीं। भोग्यजात के अभाव से काम असंभव है। मोक्ष तो सर्वथा शून्य रूप है। अतः सभी नष्ट हो जायगा।

—१७—

बौद्धों के प्रधान सिद्धान्त का अपाकरण करके पंचस्कन्धसङ्घातात्मवाद का विचार करते हैं :—

स्कन्धानाम्परमाणूनान् न सङ्घातयितास्तिचेत्।
सङ्घातो न विना हेतुञ्जडा घटपटादयः ॥१७॥

(पदच्छेदः)

स्कन्धानाम् परमाणूनाम् न संघातयिता अस्ति चेत् ।
संघातः न विना हेतुम् जडाः घटपटादयः ॥१७॥

(सान्वयार्थः)

परमाणूनाम्	=परमाणुओं[1] का (और)	हेतुम्	=कारण[4] के
स्कन्धानाम्	=स्कन्धों[2] का	विना	=विना
सङ्घातयिता	=संघातकर्ता[3]	सङ्घातः	=संघात
न	=नहीं	न	=नहीं हो सकता ।
अस्ति	=हो	घटपटादयः	=घड़ा, कपड़ा आदि
चेत्	=तो	जडाः	=जड़ हैं ।

व्याख्या

१. बाह्य विषय के कारण रूप ।

२. अध्यात्मविषयी के कारण रूप ।

३. दोनों से भिन्न स्थायी चेतन आत्मा ।

४. स्कन्ध और परमाणुओं को एकत्रित करने वाला कोई है या नहीं ? यदि है तो स्थिर है अथवा क्षणिक है ? स्थिर मानने पर तो गौतम के सर्वक्षणिकत्वप्रतिज्ञा से विरोध होने के कारण अपसिद्धान्त हो जायगा । क्षणिक मानने से संघात करने वाला कार्य प्रारंभक्षण में समाप्त हो जायगा एवं संघात उत्पत्तिक्षण में असम्बन्धी हो जायगा । संघातोत्पत्तिक्षण में जिसका सम्बन्ध ही नहीं उसमें कारणत्व स्वीकार करना तो सर्वथा असंगत है । यदि संघातकर्ता है ही नहीं तो ऐसे संघात का दृष्टान्त ही नहीं मिलेगा । जड़ पदार्थ स्वयं सङ्घटन में समर्थ नहीं देखे जाते । अन्यथा तन्तु पड़े पड़े ही पट बन जाता । मृत्तिका घट रूप में बन जाती । पर यह अनुभव विरुद्ध है । अतः दृष्टान्ताभाव ही नहीं दृष्टान्तविरोध से भी निरात्मक स्कन्धवाद अत्यन्त अप्रामाणिक है ।

अहम् की क्षणिकता में और भी अनेक विरोध हैं अतः यह भी बौद्धों का वाद श्रेय चाहने वालों के लिये सर्वथा उपेक्ष्य है।

—१८—

क्षणिकात्मवाद स्वीकार करने वाले बौद्ध का अविवेक और उसके मत का असामञ्जस्य प्रकट करते हैं:—

महानुभावो भूयासमिति भ्रान्तश्च मन्यते।
आत्मापलापको बौद्धः किमर्थश्चरति व्रतम् ॥१८॥

(पदच्छेदः)

महानुभावः भूयासम् इति भ्रान्तः च मन्यते।
आत्मापलापकः बौद्धः किमर्थम् चरति व्रतम् ॥१८॥

(सान्वयार्थः)

भ्रान्तः	= भ्रम[1] में पड़ा हुआ	व्रतम्	= व्रत[3]
		चरति	= करता है
आत्मापलापकः	= आत्मा की सत्ता न मानता हुआ	च	= और
		महानुभावः	= महानुभाव
बौद्धः	= बुद्ध का अनुयायी	भूयासम्	= बन जाऊँगा
		इति	= ऐसा
किमर्थम्	= किस प्रयोजन[2] से	मन्यते	= मानता है ?

व्याख्या

१. दृष्टमात्रप्रत्ययः भ्रान्तः। जीव, जगत् और परमेश्वर तीनों विषय में बौद्ध, चार्वाक, जैन आदि भ्रान्त हैं।

२. कर्ता और भोक्ता की एकता से ही प्रयोजन सिद्ध होता है। बौद्ध मत में स्थायी आत्मा न होने से इच्छा करने वाला क्रिया काल में नहीं, क्रिया के सम्पूर्ण अंगों का कर्ता भी एक नहीं, अन्ततः क्रिया परिपाक काल में भोक्ता कोई और ही सिद्ध होने से प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो सकता।

३. बौद्ध भी चैत्यवन्दन, कैलास की दण्डपरिक्रमा आदि व्रत स्वीकार करते हैं। जब परलोक में जाना ही नहीं तो व्रत करना भी व्यर्थ और उसका विधायक शास्त्र तो सर्वथा अप्रामाणिक ही सिद्ध होगा।

इसी प्रकार मैं अर्हत् पद या निर्वाण को प्राप्त कर महान् बनूँगा ऐसा मान कर अष्टांगमार्ग का परिपालन भी व्यर्थ ही सिद्ध होता है। 'आत्मापलापकः' यह सर्वत्र हेतुत्वेन लगा लेना चाहिये। अतः बौद्ध का सारा ही साधनाशास्त्र व्यर्थ है क्योंकि विधान जिसके प्रति करता है वह फल काल में रहता नहीं। केवल अन्धलाङ्गूलन्याय से बिचारा साधक कष्ट पाता है।

यह स्मर्तव्य है कि रामानुज, मध्व आदि वैष्णवों के नेता प्रायः वेदान्त नय में यही दोष दिखाते हैं। हमारे आचार्यवृन्द इन दोषों से अनभिज्ञ होते तो बौद्धों को समान अभियोग का मौका मिल जाता। पर बौद्धमत के नेताओं ने ऐसा कोई अभियोग नहीं लगाया। वस्तुतः मिथ्या और शून्य में भेद को न समझकर और वैदिकों के प्रधानवाद के नित्यात्मवाद को न जानकर ही यह दोष लगाये गये हैं। हमारे आचार्यवृन्दों ने तो सभी व्यवहारों की समीचीन व्यवस्था दी है। हाँ यह अवश्य सत्य है कि अनेक असाम्प्रदायिक वर्तमान पन्थाई वेदान्त के नाम से अशास्त्रीय बौद्धमत की छाया का सिद्धान्त में अनुवर्तन करते हुये व्यवहार में स्वच्छन्दता करते हुये मिथ्यात्व की दुहाई देते हैं। पर यह वेदान्त नहीं, वेदों का अन्त करने को उत्पन्न हुये कलियुगियों की महिमा है।

—१९—

बौद्धों के हीनयान और महायान दोनों वादों का खण्डन करके स्वसिद्धान्त के समर्थक प्रत्यभिज्ञा में वादी के द्वारा दिये गये दोष को निवृत्त करते हुये प्रमारूपता की सिद्धि करते हैं:—

प्रत्यभिज्ञा यदि भ्रान्तिर्भोजनादि कथं भवेत्।
इष्टसाधनमेवैतदन्नङ्गतदिनान्नवत्।
इति निश्चित्य बालोपि भोजनादौ प्रवर्तते ॥१९॥

(पदच्छेदः)

प्रत्यभिज्ञा यदि भ्रान्तिः भोजनादि* कथम् भवेत् ।
इष्टसाधनम् एव एतत् अन्नम् गतदिनान्नवत् ।
इति निश्चित्य बालः अपि भोजनादौ प्रवर्तते ।।१६।।

(सान्वयार्थः)

यदि	=अगर
प्रत्यभिज्ञा	=प्रत्यभिज्ञा[1]
भ्रान्तिः	=भ्रम[2] हो (तो)
कथम्	=किस प्रकार[3]
भोजनादि	=भोजन वगैरह
भवेत्	=होगा ?
गतदिनान्नवत्	=कल के अन्न की तरह
एतत्	=यह (प्रत्यक्ष)
अन्नम्	=अन्न
इष्टसाधनम्	=इच्छापूर्ति का साधन है
इति	=इस प्रकार
निश्चित्य	=निश्चय करके
एव	=ही
बालः	=बच्चा[4]
अपि	=भी
भोजनादौ	=खाने आदि में
प्रवर्तते	=लगता है।

व्याख्या

१. दो भिन्न विशेषणों से युक्त विशिष्ट के अनुभवों से विशेषण-रहित विशिष्ट मात्र का ज्ञान कराने में करण प्रत्यभिज्ञा है। जैसे जेल में बन्द नेहरू को लाल किले पर झण्डा फहराते देख नेहरू का ज्ञान। कुछ अनुभवी तो प्रत्यभिज्ञा को ज्ञान मानकर अर्थापत्ति प्रमाण से उसको सिद्ध करते हैं। वस्तुतस्तु स्मृति और अनुभवों का योग प्रत्यभिज्ञा है। दोनों (स्मृति और अनुभव) का विषय एक ही होने से इसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है।

२. भ्रम अर्थात् जहाँ जिस पदार्थ का अभाव हो वहाँ उसका ज्ञान। दो पदार्थ जब क्षण से अधिक रहते नहीं तो उनकी एकता का ज्ञान भ्रम ही हो सकता है।

३. वस्तुओं को देखकर लोगों की प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है यह अनुभव सिद्ध है। इनका कारण प्रतिकूलता या अनुकूलता का

ज्ञान है। जो पदार्थ भोग किये जाने से अपने में सुख को पैदा करता है वह अनुकूलरूप से समझा जाता है और दुःखजनक प्रतिकूल माना जाता है यह सर्वलोक प्रसिद्ध है। किसी भी पदार्थ को देखने मात्र से सुख दुःख जन्यता का ज्ञान नहीं होता। जिस पदार्थ के सजातीय व्यक्ति का पूर्वानुभव होता है उसी में दर्शनमात्र से सहसा प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। अतः ऐसी स्थिति में पूर्वानुभूतसजातीयत्वलिंग से स्वानुकूलता या स्वप्रतिकूलता का अनुमान करके ही प्रवृत्ति निवृत्ति हुई ऐसा बलात् मानना ही पड़ेगा। अत्यन्त व्यवहित पूर्वोत्तरकाल में एक अनुसन्धाता अनुगत आत्मा के न होने पर यह कैसे संभव होगा ? अतः क्षणिकवादी का तो जीवन भी दूभर हो जायगा।

४. 'विमतोयमोदनो मदिष्टसाधनम्, ओदनत्वाद्, गतदिनभुक्तोदनवदिति।' इस प्रकार का अनुमान ही छोटे बच्चे को भी निश्चय कराता है। अतः आबालवृद्ध और आगोपपण्डितों में निःसंदिग्धरूप से प्रसिद्ध व्यवहारमार्ग को ही नष्ट करने वाला बौद्ध कल्याणकामियों को दूर से ही त्याज्य है। आधुनिक विज्ञान तो पशुओं में भी ऐसा अनुमान सिद्ध कर चुका है। रूस देश के सर्वोच्च शारीरवेत्ता (Physiologist Dr. Pavlov) पावलोव ने घण्टी बजाकर कुत्तों को भोजन खिलाने की आदत डालकर फिर केवल घण्टी बजाई पर भोजन न दिया तो कुत्तों के पेट में वही क्रियाएँ देखी गईं जो भोजन मिलने पर होती थीं। पर ऐसा अनेक बार करने पर फिर नहीं होती देखी गईं। अर्थात् घण्टी सुनकर आदतवाले को प्रवृत्ति हुई पर फिर जब वह इष्टसाधनता का ज्ञान न रहा तो निवृत्ति हो गई। पूर्व और उत्तर अनुभव का आश्रय स्थिर आत्मा को न मानने पर यह व्यवस्था बनना असंभव है। अतः बौद्ध सिद्धांत अत्यन्त अवैज्ञानिक है।

*भोजनादिः इति वा पाठः।

—२०—

प्रत्यभिज्ञा की भ्रमरूपता निराकरण करके स्थायी वस्तु में

अर्थक्रिया की अनुपपत्ति के द्वारा आत्मा को क्षणिक मानने का जो बौद्ध आग्रह था उसका निराकरण करते हैं :—

अवकाशप्रदातृत्वमाकाशार्थक्रिया यथा ।
तथैवार्थक्रिया पुंसः कर्तृत्वज्ञातृतादिका ॥२०॥

(पदच्छेदः)

अवकाशप्रदातृत्वम् आकाशार्थक्रिया यथा ।
तथा एव अर्थक्रिया पुंसः कर्तृत्वज्ञातृता*दिका ॥२०॥

(सान्वयार्थः)

यथा	= जिस प्रकार[1]	पुंसः	= आत्मा[3] का
आकाशार्थ-क्रिया	= आकाश[2] का प्रयोजन और काम	अर्थक्रिया	= प्रयोजन और काम
अवकाशप्रदा-तृत्वम्	= जगह देना है;	कर्तृत्व-ज्ञातृतादिका	= करना, जानना आदि
तथा	= उसी प्रकार	एव	= ही है ।

व्याख्या

१. दृष्टान्त में हेत्वसिद्धि करके अवस्तुत्व अनुमान भंग करते हैं ।

२. आकाश अवस्तु नहीं है । नहीं घिरे हुए रूपी अभाव का नाम आकाश नहीं वरन् प्राणियों और पदार्थों के रहने और हिलने का साधन एक व्यापक तत्त्व है । पदार्थ के आने से जो ढक जाता है और पदार्थ के चले जाने पर जो खुल जाता है वही भावरूप आकाश नामक वस्तु है । अभाव मात्र साधक रूप से प्रसिद्ध नहीं है ।

आवरणाभावमात्र से आकाश में अर्थक्रियाकारिता का अभाव तो कहा नहीं जा सकता । आवरणाभावमात्र को भी अभावरूप होने से साधिष्ठान ही होना पड़ेगा । निरधिष्ठान अभाव तो कहीं भी संभव नहीं । आवरणाभाव के अधिष्ठान रूप से यदि किसी की सत्ता स्वीकार करोगे तो वही आकाशरूप हो जायगा । अतः आकाश अर्थक्रिया-कारक होने से वस्तु ही सिद्ध होता है ।

३. आत्मा में भी अर्थक्रियाकारिता का प्रदर्शन करके उसके अवस्तुत्व का निराकरण करते हैं। ज्ञान और क्रिया एवं 'आदि' से इच्छा यह आत्मा की अर्थक्रियाकारिता प्रसिद्ध हैं। इससे आत्मा बौद्ध की अपनी युक्ति से ही वस्तु सिद्ध हो गई।

यद्यपि वेदान्ती अर्थक्रियाकारिता को वस्तु सिद्धि में हेतुत्वेन स्वीकार नहीं करता है तथापि यहाँ अभ्युपगमन्याय से कहा गया है।

*ज्ञातृत्वादिका इति पाठभेदः।

—२१—

अर्थक्रिया काल में ही सत्ता अङ्गीकार्य है अतः जाग्रत और स्वप्न में आत्मा होने पर भी अर्थक्रिया के अभाव में सुषुप्ति के समय तो आत्मा नहीं रहेगी एवं इस प्रकार नित्यात्मवादी वैदिक तो भ्रान्त ही सिद्ध होगा। तात्पर्य यह है कि अर्थक्रियाकारिता से सिद्ध आत्मा नित्य है या अनित्य? अनित्य मानने पर वेदान्ती को अपसिद्धान्त प्राप्त होगा। नित्य मानने पर सुषुप्ति में व्यभिचार होगा। अतः सुषुप्ति में आत्मा की स्थिति बताते हैं:—

सुषुप्तिसमयेऽप्यात्मा सत्यज्ञानसुखात्मकः।
सुखमस्वाप्समित्येवं प्रत्यभिज्ञायते यतः ॥२१॥

(पदच्छेदः)

सुषुप्तिसमये अपि आत्मा सत्यज्ञानसुखात्मकः।
सुखम् अस्वाप्सम् इति एवम् प्रत्यभिज्ञायते यतः ॥२१॥

(सान्वयार्थः)

यतः	=चूंकि	सुषुप्तिसमये	=गहरी नींद के वक्त
सुखम्	='सुख से	अपि	=भी
अस्वाप्सम्	=सोया था'[1]	आत्मा	=आत्मा
इति	=इस	सत्यज्ञान-सुखात्मकः	=सत्ता, प्रतीति और आनन्द स्वरूप है।[3]
एवम्	=प्रकार से		
प्रत्यभिज्ञायते	=प्रत्यभिज्ञा[2] होती है		
(अतः	=इसलिये)		

व्याख्या

१. सुषुप्ति या गहरी नींद में यह सार्वजनीन अनुभूति है। यहाँ ही सुख का पूर्णोल्लास संसारी को मिलता है। यदि यह न होता तो जीवन दूभर हो जाता। इसीलिये जब गहरी नींद आने लगती है तो सुन्दर पत्नी, भोग, विलास, मित्रगोष्ठी आदि सब छोड़कर सोता है और उसमें विघ्न डालने वाला विष प्रतीत होता है। यदि एक दिन भी नींद न आवे तो घबराता है और चिकित्सकों के पास दौड़ता है। अतः वहाँ सुख स्वीकार करना ही पड़ेगा अन्यथा प्रवृत्ति सिद्ध न होगी।

२. 'जो मैं सुख से सो रहा था वही मैं अब जाग रहा हूँ' इस अनुभव का प्रकट करने वाला यह वाक्य दो अनुभवों में अनुगत एक अनुभूता का निर्देश करता है अतः प्रत्यभिज्ञा का वाचक है। प्रत्यभिज्ञा में प्रमाजन्यता की तो सिद्धि पूर्व ही हो चुकी है।

वस्तुतस्तु प्रत्यभिज्ञा को बौद्ध भ्रम भी नहीं मान सकता क्योंकि पूर्व और उत्तर क्षण में एक द्रष्टा मानने पर सादृश्य ग्रहण करने वाले की सिद्धि संभव है। उसके क्षणिकवाद में दो क्षणों में वर्तमान दो पदार्थों को ग्रहण करने वाला ही सिद्ध नहीं होता तो तृतीयक्षण में सादृश्य ग्राहक कहाँ से आयगा। अतः प्रत्यभिज्ञा भ्रम भी उसके अपने प्रलापमात्र से सिद्ध करना चाहता है। उसका ज्वाला वाला दृष्टान्त पदार्थों में घटने पर भी आत्मा में नहीं घट सकता। यदि दो की समानता जानी जाती है तो क्षणिकवाद भंग होता है और स्थायी आत्मा सिद्ध होता है। यदि विना जाने ही प्रतिज्ञा है तो अप्रामाणिकी है।

३. सुषुप्ति में सुख का अनुभव था अतः आत्मा अनुभूता रूप से सत् था। अनुभव होने से ज्ञानस्वरूप भी था। सुख के सर्व पदार्थ और साधनों से रहित आनन्द था अतः स्वयं ही आनन्द स्वरूप था। अतः आत्मा के तीनों रूपों की विद्यमानता सिद्ध होती है। सौषुप्तानुभव ही आत्मा की आनन्दरूपता का प्रबलतम प्रमाण है। जिस प्रकार स्वप्न ही जगत् के मिथ्यात्व का प्रौढतम प्रमाण है। बौद्ध इन दो

अवस्थाओं का सम्यक् विचार न करने के कारण ही भ्रान्त हैं। और वस्तुतस्तु सारे ही दार्शनिक और धर्म जाग्रत् पर ही अधिक जोर देकर भ्रम में पड़ जाते हैं। केवल वैदिक सिद्धान्त ही त्रिपाद पर स्थिर खड़ा है। अन्य एकपादी का आश्रय ग्रहण करने से अस्थिर ही बने रहते हैं।

—२२—

व्याकरण की दृष्टि से क्षणिकवादी बौद्ध 'आत्मा प्रत्यभिज्ञा से जाना जाता है' इस उक्ति पर आक्षेप करता है। यहाँ आत्मा कर्म है। अर्थात् ज्ञान का विषय आत्मा सिद्ध होता है। अतः आत्मा को वेदान्ताभिमत ज्ञानस्वरूप या स्वयंप्रकाश नहीं माना जा सकता। ज्ञान विषय स्वीकार करने पर दृश्यत्व हेतु से अनित्यत्वादि साधन तो स्पष्ट ही हैं। अतः ऐसी शंका को जड़ सहित उखाड़ते हैं:—

प्रत्यभिज्ञायत इति प्रयोगः कर्मकर्तरि।
आत्मा स्वयम्प्रकाशत्वाज्जानात्यात्मानमात्मना ॥२२॥

(पदच्छेदः)

प्रत्यभिज्ञायते इति प्रयोगः कर्मकर्तरि।
आत्मा स्वयम्प्रकाशत्वात् जानाति आत्मानम् आत्मना ॥२२॥

(सान्वयार्थः)

प्रत्यभिज्ञायते	= प्रत्यभिज्ञा की जाती है	स्वयम्प्रकाशत्वात्	= स्वतः प्रकाश होने से
इति	= इस प्रकार	आत्मा	= आत्मा[2]
कर्मकर्तरि	= कर्मकर्ता में[1]	आत्मना	= आत्मा से
प्रयोगः	= प्रयोग है।	आत्मानम्	= आत्मा को
		जानाति	= जानता है।

व्याख्या

१. 'जानी जाती है' यह प्रयोग अन्य ज्ञाता को उपस्थित नहीं करता। कर्म और कर्ता की एकता जहाँ हो वहाँ भी ऐसा प्रयोग

होता है। यह (Reflexive Passive Voice) कर्मकर्तृवाच्य का प्रयोग है। इसका सीधा अर्थ ही आगे वार्तिककार करते हैं। 'बछड़ा छूट जायगा' 'पानी बह जायगा' आदि प्रयोग इसी प्रकार के हैं। अतः इस वाक्य प्रयोग से आत्मा अनात्म पदार्थों की तरह न तो दृश्य सिद्ध होती है और न उसके स्वयं ज्योतिष्ट्व का ही खण्डन होता है। अन्य को जानने वाला मानने से साधनादि की भी अपेक्षा होगी जो सुषुप्ति में विद्यमान नहीं हैं।

२. समाधि में भी यही अवस्था समझनी चाहिये। क्योंकि वहाँ भी साधनादि का अभाव है। वस्तुतस्तु सहजावस्था में सर्वथा यही प्रतीति है। परमेश्वर भी तो बिना साधनों के ही जानता है।

कई वैष्णवों का यह आक्षेप कि हम परमेश्वर के आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं, परमेश्वर रूप बनना नहीं, वस्तुतः अज्ञान का सूचक है। क्या परमेश्वर आनन्द का अनुभव नहीं करता? यदि करता है तो हम भी परमेश्वर रूप बन कर आनन्दानुभव करेंगे ही। यदि वह नहीं करता तो स्वयं निरानन्द हमें क्या आनन्द देगा? यदि उसका आनन्द हमें देखकर है तो अपेक्षाकृत होने से स्वातन्त्र्य न रहेगा। वस्तुतस्तु उनका दृष्टान्त कि हम चीनी चखना चाहते हैं चीनी बनना नहीं जड़ पदार्थ का दृष्टान्त है। यदि चीनी चतन होती तो अपना स्वाद भी अवश्य जानती। अतः यह व्यर्थ प्रयास है। इसे भी इसी बौद्ध निराकरण से निराकृत समझ लेना चाहिये।

—२३—

इस प्रकार आत्मा के नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप का बौद्धनिराकरण के व्याज से उपपादन करके स्तोत्र का आशय वर्णन किया। अब अक्षरार्थ को बताते हैं:—

सुषुप्तौ माययामूढो जडान्ध इति लक्ष्यते।
अप्रकाशतयाभाति स्वप्रकाशतयापि च ॥२३॥

(पदच्छेदः)

सुषुप्तौ मायया मूढः जडान्धः* इव लक्ष्यते ।
अप्रकाशतया भाति स्वप्रकाशतया अपि च ।।२३।।

(सान्वयार्थः)

मायया	=माया[1] के द्वारा	लक्ष्यते	=प्रतीत होता है ;
मूढ़:	=मोहग्रस्त	च	=और
सुषुप्तौ	=गहरी नींद में	स्वप्रकाशतया	=स्वयंप्रकाशरूप[4] से
अप्रकाशतया	=अप्रकाशरूप[2] से	अपि	=भी
जडान्धः	=जड़ और अन्धे[3]	भाति	=भान[5] होता है ।
इव	=की तरह		

व्याख्या

१. राहु की तरह माया आत्मा को ग्रस्त कर लेती है। जैसे सूर्य अप्रकाशरूप से भान होता हुआ ही स्वयं अपने आच्छादक का प्रकाश करता हुआ स्वप्रकाश रूप से रहता है वैसे ही आत्मा स्वाच्छादक माया का स्वयं प्रकाश करती है ।

२. 'कुछ नहीं जाना' इसमें विशेषविज्ञान का अभाव प्रतिपादित है । यही अप्रकाशरूप से प्रतीति है ।

३. जड़ अर्थात् चेतन रहित और अन्ध अर्थात् अज्ञाता ।

४. स्वरूपविज्ञान का विलोप नहीं होने से 'कुछ नहीं जाना' इस बात को जानने के लिये आवश्यक प्रकाश भी तो आत्मा से ही मिलता है ।

५. सुषुप्ति अवस्था में किसी विशेष पदार्थ का भान नहीं है । परन्तु सर्वाभाव का सामान्य ज्ञान भी है । एवं सुखरूपता का भी भान है ।.प्रत्यभिज्ञा से अहम् की सिद्धि है । अतः अप्रकाश और स्वप्रकाश दोनों कहा गया है । चूंकि विशेषाभिव्यक्ति सदाशिव की नहीं है अतः जड़ रूप है ।

*जडोन्धः इति पाठभेदः ।

—२४—

पूर्वार्द्धं के अनन्तर उत्तरार्ध का व्याख्यान करते हैं:--

जडात्मनि च देहादौ साक्षादीशो विविच्यते ।
एषैव मोहिनी नाम मायाशक्तिर्महेशितुः ।।२४।।

(पदच्छेदः)

जडात्मनि च देहादौ साक्षात् ईशः विविच्यते ।
एषा एव मोहिनी नाम मायाशक्तिः महेशितुः ।।२४।।

(सान्वयार्थः)

जडात्मनि	=जड़ पदार्थों[1] में	एषा	=यह[4]
च	=और	एव	=ही
देहादौ	=शरीर आदि[2] में	मोहिनी	=मोहिनी[5]
ईशः	=शासन करने वाला[3]	नाम	=नाम की
साक्षात्	=प्रत्यक्ष	महेशितुः	=महेश्वर की
विविच्यते	=अलग किया जाता है ।	मायाशक्तिः	=मायाशक्ति है ।

व्याख्या

१. सभी अनात्मरूप से गृहीत संसार समष्टिरूप से इष्ट है । वह नियमादि के कारण शास्ता की अपेक्षा रखता है । चेतन रूप से ईश्वर उनका नियामक प्रत्यक्ष ही सिद्ध होता है । इससे आधिभौतिक प्रपंच कह दिया गया ।

२. आदि से अन्य प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय का संग्रह है । ये सभी कोश स्वरूपतः जड़ से उत्पन्न होने के कारण जडरूप हैं । इनको चेतनता देने वाला महेश्वर है । उपाधियाँ जड हैं अर्थात् न स्वतः अपने को न अपनी क्रियाओं को जानती हैं और न दूसरों को । आत्मा चेतन होने से उन्हें चेतनवत् बना देता है । जैसे अग्नि लोहे को गरम बना देती है । तभी घ्राता, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता का व्यवहार होता है । इस प्रकार आध्यात्मिक प्रपंच कह दिया गया ।

३. सारे व्यापारों का अवभासक होकर प्रत्यभिज्ञाता आत्मा ही साक्षात् ईश्वर है । बाह्य और आभ्यन्तर जड़ जगत् को चेतन तत्त्व

ही चलाता है। एक ही महेश्वर भिन्न-भिन्न उपाधियों वाला होकर दैविक जगत् का रूप धारण करता है। यही आधिदैविक प्रपंच है।

४. सारे त्रिविध प्रपंचों से आत्मा स्पष्टतः अलग है क्योंकि सबका अधीश्वर है। सभी कुछ उसके लिये है, उसकी इच्छापूर्ति का साधन है, उसकी महिमा का द्योतक है। वह किसी के लिये नहीं। महेश्वर ही सबका निरपेक्ष कारण और भोक्ता है। 'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्' (गी० ५-२८) पर सर्वतोभद्र में विचार करते हुये 'सर्वस्य जन्तुजातस्य क्रीडामात्रप्रयोजनतया स्वेच्छामात्रेणैव नानात्वेन अवभासितस्य महेश्वरं तासु तासु क्रियासु एकत्रिनियोक्तृत्वात्परमं प्रभुम् परमार्थतो भेदाभावात्' कहकर इसी को बताया है।

इस प्रकार के महेश्वराभिन्न आत्मतत्त्व को जो ढंकती है वह उसकी अपनी ही शक्ति है। वह स्वयं अपने को आवृत करता है। इसी शक्ति से वादी मोहित होकर नैरात्म्यवादी बनकर संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (शि० गी० १४.३७) के अनुसार वही जीव को इस मोह से निकालता है। निकालने वाला ही स्वरूप गुरुमूर्ति श्रीदक्षिणामूर्ति है।

५. भगवान विष्णु ही यहाँ ध्वनित किये जा रहे हैं क्योंकि बौद्ध मत के भ्रम में दैत्यों को डालने के लिये ही वे आये थे। विष्णु और शिव या शक्ति और शिव ही समग्र जगत् हैं। मोहिनी अवतार वस्तुतः आध्यात्मिक संसार का परम रहस्य है, उससे ही हरिहरपुत्र शास्ता की उत्पत्ति है। भगवान सुरेश्वराचार्य यहाँ पौराणिक रहस्य का संकेत कर रहे हैं।

—२५—

मोहनिवृत्ति का फल बताते हुये अध्याय समाप्ति पर्यन्त आत्म-निरूपण करते हैं:—

मोहापोहः प्रमातॄणां मोक्ष इत्यभिधीयते।
अवस्थात्रयनिर्मुक्तो दोषादिभिरनाविलः ॥२५॥

(पदच्छेदः)

मोहापोहः प्रमातृणाम् मोक्षः इति अभिधीयते ।
अवस्थात्रयनिर्मुक्तः दोषादिभिः अनाविलः ।।२५।।

(सान्वयार्थः)

प्रमातृणाम् = प्रमाताओं[1] के
मोहापोहः = मोह[2] की निवृत्ति
मोक्षः = मोक्ष
इति = इस शब्द से
अभिधीयते = कही जाती है ।

अवस्थात्रयनिर्मुक्तः = तीनों अवस्थाओं[3] से रहित
दोषादिभिः = दोषादिओं[4] से
अनाविलः = अकलंकित

व्याख्या

१. अज्ञान और उसकी निवृत्ति का आश्रय प्रमाता है । प्रमाण-व्यवहार करने वाला अन्तःकरणावच्छिन्न आत्मा ही प्रमाता कहा जाता है । अवच्छेदक से रहित साक्षी तो नित्य शुद्ध है । अन्तः करण ही विवेक और अविवेक दोनों का आश्रय है । महेश्वरनिष्ठ माया बन्धन नहीं, अन्तःकरण निष्ठ अविवेक ही बन्धन है ।

२. मोह अर्थात् अविवेक । अविवेक की निवृत्ति मोक्ष है । माया तो महेश्वर की नित्य शक्ति है । उसकी निवृत्ति संभव नहीं । यहाँ निवृत्ति अधिष्ठान रूप मानी गई है । इसीलिये मोक्षस्वरूप निरूपण की जगह अधिष्ठान स्वरूप सदाशिव का वर्णन आगे करते हैं ।

३. यहाँ से सारे विशेषण महेश्वर के हैं । जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से रहित ही प्रपंचोपशमरूप शिव है । यह सर्वसाक्षी ही तुरीय है । अवस्थात्रयविशिष्ट महेश्वर प्रमाता है । सर्वत्र उपाधि से बन्धन स्वरूप है, उपाधि से रहित मोक्ष स्वरूप है ।

४. किसी भी संकल्प, कामादि दोषों से अथवा देहादि कृत पापादि दोषों से अस्पृष्ट । साक्ष्यसम्बन्धकृतदोषरहित ही असंग होने से उसका स्वरूप है । 'असंगो ह्ययं पुरुषः' 'असंगो न हि सज्जते' इत्यादि शास्त्र उसके प्रतिपादन में तत्पर हैं । जैसे धूलि, मेघ, वर्षा आदि से

आकाश कलङ्कित नहीं होता, यद्यपि आकाश में ये सब हैं इसी प्रकार महेश्वर में सब होते हुये भी उसे कलंकित नहीं कर सकते।

—२६—

इषीक इव सन्मात्रो न्यग्रोधकणिकोपमः।
बाह्याद्बाह्यदलोन्मुक्तकदलीकन्दसन्निभः ॥२६॥

(पदच्छेदः)

इषीकः इव सन्मात्रः न्यग्रोधकणिकोपमः।
बाह्यात्* बाह्यदलोन्मुक्तकदलीकन्दसन्निभः ॥२६॥

(सान्वयार्थः)

इषीकः	=मूंज के अन्दर की शलाका[1]	बाह्यात्	=बाहर से
इव	=की तरह	बाह्यदलोन्मुक्तकदलीकन्दसन्निभः	=बाहर के दलों को छीला हुआ केले के कन्द के समान[4],
सन्मात्रः	=सत्ता मात्र[2],		
न्यग्रोधकणिकोपमः	=(और) वट-वृक्ष[3] के बीज-रूपी धान के समान,		

व्याख्या

१. मूंज एक तरह की घास होती है। उसकी अतिसूक्ष्म सलाई इषीका कही जाती है। यह दृष्टान्त आत्मा की एकरूपता के निदर्शनार्थ है। यह श्रुति में उक्त 'मुञ्जादिषीकेव धैर्येण' (क० ६.१७) का निर्देशक है।

२. वह तत्त्व सन्मात्र है अर्थात् अखण्ड है।

३. यह इन्द्रिय की अविषयता में दृष्टान्त है। जिस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म वट धान से बृहत्तम वटोत्पत्ति होने से सारे वृक्ष की स्थिति उसी में माननी पड़ती है उसी प्रकार 'अणुरात्मा' में सृष्टि पूर्व संसार था। यह श्वेतकेतु विद्या में 'एतमणिमानन्न निभालयसे···महान्यग्रोधः' (छा० ६.१२) का स्मारक है।

४. बाह्य कोशों की निवृत्ति करने पर प्राणियों के अन्दर ही मिलता है इसमें यह दृष्टान्त है। स्वप्रकृति के अन्तस्तम गुहाओं में ही अन्वेषणीय है।

*बाह्यावाह्य इति पाठभेदः।

—२७—

निरंशो निर्विकारश्च निराभासो निरञ्जनः।
पुरुषः केवलः पूर्णः प्रोच्यते परमेश्वरः ॥२७॥

(पदच्छेदः)

निरंशः निर्विकारः च निराभासः निरञ्जनः।
पुरुषः केवलः पूर्णः प्रोच्यते परमेश्वरः ॥२७॥

(सान्वयार्थः)

निरंशः	=अवयव रहित[1],	पूर्णः	=अपरिच्छिन्न[3]
निर्विकारः	=विकार रहित,	केवलः	=उपाधिसंसर्ग-रहित[4]
निराभासः	=जन्य ज्ञान का अविषय[2],	पुरुषः	=चेतनात्मा[5]
निरञ्जनः	=निर्लेप	परमेश्वरः	=परमेश्वर[6]
च	=और	प्रोच्यते	=कहा जाता है।

व्याख्या

१. पूर्वश्लोकोक्त दृष्टान्तों से सावयवत्व, परिच्छिन्नत्व, विकारित्व आदि प्राप्त दोषों को हटाने के लिये ये विशेषण हैं।

२. पदार्थ ज्ञान में वृत्तिरूप अन्तःकरण और चेतन आत्मा रूप प्रकाश की अपेक्षा है, पर स्वयं आत्मा को वृत्ति अनावश्यक है। वृत्ति की आवश्यकता आवरणभंग के लिये है। नित्य निरावृत महेश्वर को आवरणभंग अनावश्यक है। इसी दृष्टि से श्रुतियों में उसे अवेद्य कहा है, पुनः वेदनीय भी कहा है। वस्तुतः वह परतः अवेद्य है एवं स्वसंवेद्य है। ब्रह्माकारवृत्ति भी जीव को स्वभ्रान्तिजन्य आवरण निवृत्ति के लिये ही अपेक्षित है। वृत्ति से आवरणभंग होने पर स्वयमेव भासते।

३. देश, काल, वस्तु रूपी तीनों परिच्छेदों से रहित। सभी देश काल एवं वस्तुओं में सत्ता रूप से वह व्यापक है।

४. व्यष्टि-समष्टि, कारण-कार्य, अविद्या-अन्तः करण, पुर्यष्टक, देहत्रय आदि सभी उपाधियों से किसी प्रकार के स्पर्श से रहित।

५. पुरि अर्थात् सृष्टि रूप ब्रह्माण्ड उस का शासन करने वाला या व्यष्टिरूप देहत्रय का शासन करने वाला चेतन तत्त्व।

६. परमेश्वर, महेश्वर, सदाशिव, सर्वात्मा, परमात्मा, ब्रह्म, आत्मा आदि नामों से वह एक ही तत्त्व अभिहित है। वस्तुतः अनामी और सर्वनामी होने से उसके नामों का परिगणन संभव नहीं।

—२८—२९—

वह महेश्वर सारे लक्षणों से रहित है :—

वाचो यत्र निवर्तन्ते मनो यत्र विलीयते।
एकी भवन्ति यत्रैव भूतानि भुवनानि च ॥२८॥
समस्तानि च तत्त्वानि समुद्रे सिन्धवो यथा।
कश्शोकस्तत्र को मोह एकत्वमनुपश्यतः ॥२९॥

(पदच्छेदः)

वाचः यत्र निवर्तन्ते मनः यत्र विलीयते।
एकीभवन्ति यत्र एव भूतानि भुवनानि च ॥२८॥
समस्तानि च तत्त्वानि समुद्रे सिन्धवः यथा।
कः शोकः तत्र कः मोहः एकत्वम् अनुपश्यतः ॥२९॥

(सान्वयार्थः)

यत्र	= जिस (सदाशिव तत्त्व) में	मनः	= मन (जाकर)
वाचः	= (प्रवृत्त हुई) वाणी[1]	विलीयते	= लीन हो जाता है।
निवर्तन्ते	= निवृत्त हो जाती है।	यथा	= जैसे
यत्र	= जिस में	सिन्धवः	= नदियाँ[2]
		समुद्रे	= समुद्र में (वैसे ही)

यत्र	= जिस (महेश्वर) में
भूतानि	= सारे प्राणी[३]
च	= और
भुवनानि	= लोक
च	= और
समस्तानि	= सारे
एव	= ही
तत्त्वानि	= तत्त्व[४]

एकीभवन्ति	= एक[५] हो जाते हैं।
तत्र	= वहाँ
एकत्वम्	= एकता[६] का
अनुपश्यतः	= अनुभव करने वाला
कः	= क्या
शोकः	= शोक[७] (और)
कः	= क्या
मोहः	= मोह (कर सकता है)।

व्याख्या

१. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' (तैत्ति. ३. २.४) इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्टतः शिव को वाणी और मन का अविषय बताती हैं। लक्षणा के द्वारा ही उसका प्रतिपादन संभव है, साक्षात् नहीं। और आवरण-भंग में मन का विनियोग हैं। भंग करके अविद्या का कार्य होने से मन भी लीन हो जाता है अर्थात् स्वकारण में चला जाता है।

२. 'यथा नद्यः स्यन्दमानास्समुद्रे' (मु० ३.२.८)

३. 'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि...तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'। (वाजसनेयी संहिता ४०·२६) की श्रुति का निर्देश यहाँ समझना चाहिये।

४. तत्त्व अर्थात् पदार्थ। अथवा तत्त्व का अर्थ जीव भी हो सकता है। सारे पदार्थ उसी में अधिष्ठित हैं। अतः अधिष्ठान ज्ञान से अध्यस्त की निवृत्ति स्वाभाविक है। तत्त्व उसी सदाशिव से निकले हैं अतः स्वकारण में लीन होना प्राकृतिक है। वस्तुतस्तु वे सर्वदा ही तद्रूप हैं।

५. 'आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्वं एकं भवन्ति' (बृ० ३.४.२) 'परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति' (मु० ३.२.७) 'यथास्यैव प्रज्ञायै सर्वाणि

भूतानि एकं भवन्ति' (का० ३. ३.४) इत्यादि श्रुतियाँ एकी भवन की प्रतिपादिका हैं।

६. सर्व भूत भौतिक प्रपञ्च महेश्वर से अभिन्न है, इस प्रकार से व्यष्टि प्रत्यगात्मा और समष्टि परमेश्वर को श्रीसदाशिव में लीन करके अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति का अनुभव ही एकता का अनुभव है।

७. इष्टवियोगजन्य शोक ज्ञानी को संभव नहीं, क्योंकि न तो उसके लिये कुछ इष्ट है और न किसी का वियोग ही उसे हो सकता है। शोक के पार जाना ही आत्मज्ञान का प्रत्यक्ष फल है। इष्टानिष्ट बुद्धि शोभनाशोभनाध्यासजन्य है। अध्यास ही जहाँ नहीं वहाँ वह बुद्धि भी नहीं। फिर तो शोकमोह रहेगा कैसे?

—३०—

नामरूपप्रपञ्च के अधिष्ठानरूपसे या उसके उपादान कारणरूपसे या उसके अन्तः पातित्वेन वह सदाशिव भी तो वाणी का विषय और स्वगतभेदवान् हो जायगा ऐसी शङ्का न हो जाय, अतः कहते हैं:—

वाच्यवाचकरूपत्वात् सविकल्पोपिसन्नहम्।
देहादीनां व्यपोहेन सम्भवेन्निर्विकल्पकम् ॥३०॥

(पदच्छेदः)

वाच्यवाचकरूपत्वात् सविकल्पः अपि सन् अहम्* ।
देहादीनाम् व्यपोहेन सम्भवेत् निर्विकल्पकम् ॥३०॥

(सान्वयार्थः)

वाच्यवाचकरूपत्वात्	= वाच्य वाचक रूपता से	व्यपोहेन	= हटा देने से
सविकल्पः	= विकल्पयुक्त[1]	निर्विकल्पकम्	= विकल्पों से रहित[2]
सन्	= हुआ	अहम्	= अहम्[3] (आत्मतत्त्व)
अपि	= भी	सम्भवेत्	= बन[4] जाता है।
देहादीनाम्	= शरीर आदि उपाधियों के		

व्याख्या

१. भ्रान्ति काल में सारे संबन्धों से युक्त प्रतीत होता है।

२. ज्ञानोत्तर काल में सारे विकल्पों के अभावरूप से प्रतीत होता है।

३. मैं यह ज्ञान ही आत्मविषयक है। अतः पूर्व में जो मैं सर्वदा किसी विकल्प या उपाधि से युक्त अनुभव में आता था; वही ज्ञानोत्तर काल में सबसे रहित हुआ प्रतीत होता है।

४. पूर्व में भी निर्विकल्प था पर भ्रान्ति से प्राप्त सविकल्पता की निवृत्ति यहाँ इष्ट है।

*यम् इति पाठभेदः।

—३१—

देहादि निवृत्त होने पर कुछ भी शेष नहीं रहता फिर निर्विकल्पात्मा किस प्रकार सिद्ध होगा ऐसी शंका होने पर कहते हैं:—

असन्नेव भवेद्विद्वानसद्ब्रह्मेति वेदचेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनन्ततो विदुः॥३१॥

(पदच्छेदः)

असन् एव भवेत् विद्वान् असत् ब्रह्म इति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्म इति चेत् वेद सन्तम् एनम् ततः विदुः॥३१॥

(सान्वयार्थः)

ब्रह्म	=ब्रह्म	ब्रह्म	=ब्रह्म
असत्	=नहीं है	अस्ति	=है
इति	=ऐसी	इति	=ऐसी
वेद	=उपासना करता है	वेद	=उपासना करता है
चेत्	=तो	चेत्	=तो
विद्वान्	=उपासक	ततः	=इस कारण से
असन्	=असत्[१]	एनम्	=इसको
एव	=ही	सन्तम्	=सद्रूप
भवेत्	=हो जाता है।	विदुः	=समझा जाता[२] है।

व्याख्या

१. ब्रह्म अपनी आत्मा होने के कारण उसकी असत्ता अपनी ही असत्ता है ।

२. विद्वानों के द्वारा यह शेप है । यह श्लोक तैत्ति० २·६ का निर्देशक है ।

—३२—

इतिश्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके ।
प्रबन्धे मानसोल्लासे षष्ठोल्लासस्य संग्रहः ।।३२।।

इस प्रकार श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लास नामक प्रबन्ध का षष्ठोल्लास संक्षेप से समाप्त हुआ ।

अथ सप्तमोल्लास संग्रहः

प्रत्यभिज्ञा के बल से आत्मा की स्थिरता का प्रतिपादन किया गया। अतः प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप, प्रमाण आदि पर विचार के लिये यह उल्लास प्रवृत्त है।

—१—

प्रत्यभिज्ञावलादात्मा स्थायी निर्धार्यते यदि।
का नाम प्रत्यभिज्ञैषा किंवा तस्याः प्रयोजनम् ।।१।।

(पदच्छेदः)

प्रत्यभिज्ञाबलात् आत्मा स्थायी निर्धार्यते यदि।
का नाम प्रत्यभिज्ञा एषा किम् वा तस्याः प्रयोजनम् ।।१।।

(सान्वयार्थः)

यदि = अगर
प्रत्यभिज्ञाबलात् = प्रत्यभिज्ञा के जोर से
स्थायी = स्थिर रहने वाला
आत्मा = चेतन
निर्धार्यते = निश्चित किया जाता है
एषा = (तो) यह

प्रत्यभिज्ञा = प्रत्यभिज्ञा
का = किस
नाम = स्वरूपवाली[1] है
वा = और
तस्याः = उसका
किम् = क्या
प्रयोजनम् = प्रयोजन[2] है?

व्याख्या

१. यह लक्षणविषयक प्रश्न है। बिना लक्षण के पदार्थ का स्वरूपनिर्णय असम्भव है। लक्षण से ही पदार्थ व्यावृत्त होकर सिद्ध होता है।

२. प्रत्यभिज्ञा को लेकर के ही वेदान्त बौद्धमत के विरुद्ध खड़ा हुआ है। वस्तुतः परवर्ती वेदान्तियों में ईश्वराद्वयवादी अभिनवगुप्तपाद, राजानक क्षेमराज, उत्पलाचार्य, सोमानन्द, आदि काश्मीर के शैवाचार्यों ने जितना विस्तृत और युक्ति-युक्त विचार किया है वह विश्व में अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। श्रीदक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय का अति घनिष्ट सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा से रहा है। परवर्ती कालीन आचार्य गण यद्यपि इस धारा से कुछ दूर हट गये पर साधनसाम्राज्य का जो विस्तार इसके साथ लगा हुआ है उससे दूर हटना घातक सिद्ध हुआ है। आज यह अति प्राचीन और ज्ञानदुर्ग केवल बौद्धिक विलास बनकर विचारकों के उपहास का विषय बन चुका है। भारतीय दर्शन का प्रौढ़तम स्वरूप आज कुछ लक्षणों को रटकर बोलने वालों के हाथ का खिलौना बन गया है। यदि हम दक्षिणामूर्ति के साधन मार्ग का पुनरुत्थान न करेंगे तो हमारा ज्ञान अनुभूति का विषय न रह पायगा। स्वयं भगवान शङ्करभगवत्पादाचार्य, गोविन्दपादाचार्य, गौडपादाचार्य, शुकदेव, वसिष्ठ, सुरेश्वराचार्य, सर्वज्ञात्म, प्रकाशात्म, चित्सुख, आदि प्राचीन अर्वाचीन श्रीपरमहंसों का साधन श्रीदक्षिणामूर्ति और त्रिपुराललिता सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहा है। केवल युक्तिवाद हमारा साधन नहीं रहा। आज के प्रवंचक वेदान्तवादी चाहे जो समझें पर वास्तविकता को समझना आवश्यक है। प्रत्यभिज्ञा की अवगति एवं प्रयोजन साधन सम्बन्धी है जो इस स्तोत्र के नवम अध्याय में संक्षेप से बताया जायगा।

—२—

प्रत्यक्षादिप्रमाणेषु प्रत्यभिज्ञा न पठ्यते।
कथन्तस्याः प्रमाणत्वमिमिति पृच्छन् प्रबोध्यते ॥२॥

(पदच्छेदः)

प्रत्यक्षादिप्रमाणेषु प्रत्यभिज्ञा न पठ्यते।
कथम् तस्याः प्रमाणत्वम् इति पृच्छन् प्रबोध्यते ॥२॥

(सान्वयार्थः)

प्रत्यक्षादि-प्रमाणेषु	= प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में[1]	कथम्	= किस प्रकार से
प्रत्यभिज्ञा	= प्रत्यभिज्ञा[2]	प्रमाणत्वम्	= प्रमाणता है
न	= नहीं	इति	= इस प्रकार
पठ्यते	= बताई जाती है।	पृच्छन्	= पूछने वाले को
तस्याः	= उसकी	प्रबोध्यते	= बताया[3] जाता है।

व्याख्या

१. प्रत्यभिज्ञा से आत्मा की सिद्धि तभी हो सकती है जब उससे प्रमा की उत्पत्ति हो। प्रमा करणम्प्रमाणम्। किसी भी वादी के यहाँ प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण माना नहीं गया है। पौराणिकों के आठ प्रमाणों में भी इसका नाम नहीं है।

२. प्रत्यभिज्ञा या आत्म पहचान (Recognition of Self identity) प्रमाणों में गिन लेने से ही यदि आत्मा की सिद्धि हो एवं उसका किसी और प्रमाणों में अन्तर्भाव हो सके तो प्रमाण संख्या भी न बढ़े और विरोध परिहार भी हो जाय। पर यह संभव नहीं क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में अर्थसम्प्रयोग (पदार्थ सन्निकर्ष) आवश्यक होने से अनुमानादि परोक्षज्ञान जनक प्रमाणों में तो उसका अन्तर्भाव हो नहीं सकता। इन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्रजन्यज्ञानरूप न होने से प्रत्यक्षान्तर्गत भी नहीं क्योंकि इसमें संस्कार भी कारण हैं। स्वतन्त्रप्रमाणान्तर भी नहीं सिद्ध होता। अतः इससे उत्पन्न ज्ञान प्रमा नहीं हो सकती।

३. भगवान् भाष्यकार द्वारा यह शेष है।

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तः स्फुरन्तं सदा।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

(पदच्छेदः)

बाल्यादिषु अपि जाग्रदादिषु तथा सर्वासु अवस्थासु अपि व्यावृत्तासु अनुवर्तमानं अहमिति अन्तः स्फुरन्त सदा स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया तस्मै०

(सान्वयार्थः)

यः	=जो परमेश्वर	अनुवर्तमानं	=रहता हुआ
बाल्यादिषु	=बालक, कुमार, युवा, प्रौढ़ादि	अहमिति	="मैं" इस रूप से
अपि	=एवं	सदा	=हमेशा
जाग्रदादिषु	=जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा मुमूर्षा आदि	अन्तः	=अन्दर
		स्फुरन्तं	=भान होने वाले
		स्वात्मानं	=अपने आत्म-स्वरूप को
तथा	=एवं	भद्रया मुद्रया	=शुभ चिन्मुद्रा से
व्यावृत्तासु	=भिन्न भिन्न	भजतां	=अपने भक्तों को
सर्वासु	=सब	प्रकटीकरोति	=प्रत्यक्ष कराता है
अवस्थासु	=अवस्थाओं में	तस्मै०	=उस···भगवान को नमस्कार है
अपि	=भी		

[प्रत्येक जीव अहंता में जिस चित् सत्ता का अनुभव करता है वही दक्षिणामूर्ति की भद्रामुद्रा (या चिन्मुद्रा) में बताया गया है। अंगुष्ठ रूपी परमेश्वर एवं तर्जनी रूपी जीव की एकता ही आत्मा के अपरोक्षत्व और अपरिच्छिन्नत्व का प्रतिपादन करती है।]

एतदुक्तम्भवतिः— यह कहा जा रहा हैः—

—३—

भातस्य कस्य चित्पूर्वं भासमानस्य साम्प्रतम्।
सोयमित्यनुसन्धानं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते ॥३॥

(पदच्छेदः)

भातस्य कस्यचित् पूर्वम् भासमानस्य साम्प्रतम्।
सः अयम् इति अनुसन्धानम् प्रत्यभिज्ञानम् उच्यते ॥३॥

(सान्वयार्थः)

पूर्वम्	=पहले[1]	अयम्	=यह है'[5]
भातस्य	=प्रतीत[2] हुए (और)	इति	=इस प्रकार का
साम्प्रतम्	=अभी[3]	अनुसन्धानम्	=अनुसन्धान[6]
भासमानस्य	=प्रतीत[4] होते हुए	प्रत्यभिज्ञानम्	=प्रत्यभिज्ञान
कस्यचित्	=किसी का	उच्यते	=कहा जाता है।
सः	='वह		

व्याख्या

१. पहले किसी देश, काल अवस्था आदि में जिसका अनुभव हुआ हो अर्थात् जिसको विशिष्ट चेतन ने ग्रहण किया हो। पूर्वानुभूत संस्कार का उद्‌बोधन होने पर ही प्रत्यभिज्ञा संभव है। संस्कार कारणता वाला दल प्रत्यक्ष व्यावृत्ति के लिये आवश्यक है।

२. जिस अन्तःकरण में जिस पदार्थ का प्रत्यक्षजन्य अनुभूत संस्कार है उसी अन्तःकरण में उसी पदार्थ के प्रत्यक्ष होने पर प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति बताने से उपमान से व्यावृत्ति हो जाती है। उपमान में भी सादृश्य ज्ञान से 'वह यह है' की प्रतीति है पर उपमान में संस्कार शब्दादि जन्य होने से परोक्ष विषयक है और प्रत्यभिज्ञान में संस्कार प्रत्यक्षजन्य है। इसी प्रकार अनुमान जन्य ज्ञान का विषय भी किसी काल में प्रत्यक्ष का विषय होने पर संस्कारोद्‌बोधन हो सकता है, पर वह भी इससे भिन्न है।

३. वर्तमान देश, काल, अवस्था आदि में जिसका ग्रहण हो रहा है उसी की प्रत्यभिज्ञा मानी जाती है। किन्हीं दो अनुभवों की स्मृति में भी दोनों की एकता का ग्रहण संभव है परन्तु वहाँ पूरा ज्ञान ही संस्कार जन्य है। अतः प्रत्यभिज्ञा नहीं है।

४. वर्तमान में प्रत्यक्ष प्रतीति वाला दल स्मृति की व्यावृत्ति के लिये आवश्यक है। वर्तमान में अनुमानादि जन्य परोक्ष ज्ञान होने पर भी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती।

५. स्मृत और अनुभूयमान के सामानाधिकरण्य का अनुसंधान प्रत्यभिज्ञान है। पूर्वोत्तर देशकालविशिष्टता का अंश छोड़कर ही दोनों में अनुगत अविशिष्ट वस्तुमात्र का अनुसन्धान संभव होने से यही प्रत्यभिज्ञान का लक्षण सिद्ध होता है। इस अखण्ड निर्विशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करने के कारण ही महेश्वर ज्ञान में प्रत्यभिज्ञा की विशेष प्रयोजनीयता है। समष्टि में अनुभूत ही व्यष्टि में अनुभूत है। या व्यष्टि में अनुभूत ही समष्टि में अनुभूत है। इस प्रकार की दो प्रत्यभिज्ञाएँ साधन भेद से संभव हैं। भक्त की प्रथम प्रत्यभिज्ञा है और विवेकी की दूसरी। पर दोनों अनुभव आवश्यक हैं। बिना समष्टि अनुभव के परिच्छिन्नता का भान जाकर अनन्तता का भाव आता नहीं। केवल विवेक से सत् चित् भाव आने पर भी परिच्छिन्नता रह ही जाती है। आधुनिक वेदान्ती प्रायः सत्त्वपुरुष अन्यथा ख्याति को ही, जो सांख्य की अन्तिम सीढ़ी है, पर्याप्त मानते हैं। पर यह विवेक तो वेदान्त का प्रथम सोपान है। यह सर्वदा स्मर्तव्य है।

६. अनु अर्थात् पश्चात्, सन्धान अर्थात् जोड़ना। प्रत्यक्ष अनुभव के अनन्तर संस्कार से उद्बुद्ध स्मृति को जो जोड़ना है वही अनुसन्धान है। जोड़ने के बाद समानाधिकरणता के लिये विशेषणांश के अवाप अर्थात् हटाने से प्रत्यभिज्ञान है। ऐक्य अनुभव ही प्रत्यभिज्ञान की विशेषता है। भागत्याग लक्षणा ही प्रत्यभिज्ञान का करण है।

—४-५—

सामान्यतः सर्वार्थविषयक (या बाह्यार्थ गोचर) प्रत्यभिज्ञान कहकर उसी को आत्मा में निर्दिष्ट करते हैं:—

तद्देशकालाकारादीनवधूयानुषङ्गिकान्।
यथैकं वस्त्वनुस्यूतं सोयमित्यभिधीयते ॥४॥

मायानुषङ्गसञ्जातकिञ्चिज्ज्ञत्वाद्यपोहनात्।
सर्वज्ञत्वादिविज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमात्मनः ॥५॥

(पदच्छेदः)

तद्देशकालाकारादीन् अवधूय आनुषङ्गिकान् ।
यथा एकम् वस्तु अनुस्यूतम् सः अयम् इति अभिधीयते* ॥४॥
मायानुषंगसञ्जातकिञ्चिज्ज्ञत्वाद्यपोहनात् ।
सर्वज्ञत्वादिविज्ञानम् प्रत्यभिज्ञानम् आत्मनः ॥५॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	अभिधीयते	=कही जाती है;
आनुषङ्गिकान्	=अस्वाभाविक परतः प्राप्त[1]	(तथा	=वैसे)
तद्देशकाला-कारादीन्	=उन देश, काल, अवयव संस्थानविशेष आदि को	माया-नुषङ्ग-सञ्जात-किञ्चिज्ज्ञत्वा-द्यपोहनात्	=माया के सम्बन्ध से उत्पन्न अल्पज्ञता आदि की निवृत्ति[3] से
अवधूय	=हटाकर		
अनुस्यूतम्	=पिरोई[2] हुई		
एकम्	=एक	आत्मनः	= आत्मा की
वस्तु	=चीज		
सः	='वह	सर्वज्ञत्वादि-विज्ञानम्	=सर्वज्ञता[4] आदि का स्पष्ट साक्षात्कार
अयम्	=यह है'		
इति	=इस प्रकार	प्रत्यभिज्ञानम्	=प्रत्यभिज्ञान है।

व्याख्या

१. किसी संबंध से जो गुण आदि हों वे आनुषंगिक होते हैं। स्वभाव वह कहा जाता है जो किसी प्रकार बदला न जा सके, जिसके परिवर्तन के प्रयत्न से पदार्थ ही नष्ट हो जाय। कोयले को सफेद नहीं किया जा सकता। देश, काल बदल जाते हैं। दुबला, मोटा या अंगहीन होने से आकार भी बदल जाता है पर इनसे व्यक्ति नहीं बदलता। इसी प्रकार रंग आदि गुण, गमन आदि क्रिया, जाति

आदि के परिवर्तन से भी वस्तु वैसी ही रहती है। अतः ये सभी परसम्बन्धतः हैं और स्वरूपभूत नहीं। इसी प्रकार सदाशिव भी माया से अल्पज्ञत्यादि वाला है, स्वरूप से नहीं।

२. सारी उपाधियों से रहित, पर सारी उपाधियों के साथ रहने वाली, अर्थात् उपाधियों के बदलने पर भी न बदलने वाली, वस्तु। 'मयि सर्वमिदम्प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' (गी०) से यह प्रत्यभिज्ञा ही निर्दिष्ट है।

३. पदार्थ परिशोधन दशा में, अनृत, जड़, परिच्छिन्न, अनात्मा और उनके धर्मों से विलक्षण रूप से अपरिच्छिन्न, ज्ञान रूप से समझा गया तत्त्व, वाक्यार्थज्ञान काल में माया व उसके कार्य के अभ्यास रूपी कारण से होने वाले अध्यस्त अंश अल्पज्ञता, अल्प-शक्तिमत्ता आदि के अवाप (हटाने) से सर्वज्ञता अनन्तानन्दता आदि का साक्षात्कार ही यहाँ इष्ट है। पूर्वानुभूत महेश्वर अपरिच्छिन्नज्ञानानन्तानन्दादि होने पर भी दृश्यता या परोक्षता रूपी भ्रान्ति से युक्त है। इसी प्रकार वर्तमान में अनुभूत प्रत्यगात्मा में दृष्टृत्व या प्रत्यक्षता होने पर भी व्यापकत्वादि का अभाव है। अतः दोनों के विशेषणों को हटाकर अनुस्यूत सदाशिव तत्व का साक्षात्कार इष्ट है। अतः सत्यज्ञानानन्दानन्त का अपरोक्षानुभव ही आत्मा का प्रत्यभिज्ञान है।

४. पूर्व में भी निर्देश किया था कि प्राचीन वेदान्ताचार्य श्रुतियों का अर्थ भावाद्वैत परक ही करते थे। एवं ब्रह्म में सर्वज्ञता, सर्व शक्तिमत्ता से डरते नहीं थे। भगवान सुरेश्वराचार्य यहाँ 'एष सर्वज्ञः' 'सर्वेश्वरः' आदि श्रुतियों का ही निदर्शन करा रहे हैं। स्पष्टभान से तात्पर्य सामान्य और विशेष उभय प्रकार से सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता का आविर्भाव प्रत्यभिज्ञा है। अन्तिम उल्लास में इसका विस्तृत विवेचन करेंगे। (द्रष्टव्य उपदेश साहस्री १८.१२५)

* प्रत्यभिज्ञानमात्मनः इति पाठान्तरम्।

—६—

प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप सिद्ध करके अब उससे आत्मा का स्थायित्व सिद्ध करते हैं:—

पूर्वजन्मानुभूतार्थस्मरणान्मृगशावकः ।
जननीस्तन्यपानाय स्वयमेव प्रवर्तते ॥६॥

(पदच्छेदः)

पूर्वजन्मानुभूतार्थस्मरणात् मृगशावकः ।
जननीस्तन्यपानाय स्वयम् एव प्रवर्तते ॥६॥

(सान्वयार्थः)

पूर्वजन्मानुभूतार्थ-स्मरणात्	= पहले जन्म के अनुभवों के विषयों को याद[1] करके	मृगशावकः	= हरिण का बच्चा[2]
		स्वयम्	= खुद[3]
		एव	= ही .
जननीस्त-न्यपानाय	= माँ के थन का दूध पीने के लिये	प्रवर्तते	= प्रवृत्ति[4] करता है ।

व्याख्या

१. प्रवृत्ति इष्ट बुद्धि से होती है । अतः जैसे पूर्वजन्म में स्तन-पान इष्ट था वैसा ही इस जन्म में भी है, इस प्रकार का अनुमान स्वीकार करना पड़ता है, जो स्मृतिजन्य है ।

२. तत्काल पैदा होकर उसी समय प्रवृत्ति करता है ।

३. गर्भश्रम से श्रान्त माता तो प्रवृत्ति कराती नहीं । और किसी प्रवर्तक का अभाव तो स्पष्ट है ।

४. जैसे स्मृति से जाग्रदादि अवस्थाओं में, बाल्ययौवनादि परिणामों में आत्मा अपरिणामी नित्य है वैसे ही कर्मपरिपाक से देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी, कृमि आदि अनेक देहों में जाते हुये भी वैसा ही बना रहता है । जायमान देहों में अजायमान और म्रियमाण

देहों में अम्रियमाण एकरस नित्य आत्मा ही है। नहीं तो अनेक देहों में अनुभूत पदार्थ की स्मृति असंभव है।

—७—

अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा का स्थायित्व बताते हैं :—

तस्मान्निश्चीयते स्थायीत्यात्मा देहान्तरेष्वपि ।
स्मृतिं विना न घटते स्तन्यपानं शिशोर्यतः ॥७॥

(पदच्छेदः)

तस्मात् निश्चीयते स्थायी इति आत्मा देहान्तरेषु अपि ।
स्मृतिम् विना न घटते स्तन्यपानम् शिशोः यतः ॥७॥

(सान्वयार्थः)

यतः	=चूंकि	तस्मात्	=इसलिये
स्मृतिम्	=याद के	देहान्तरेषु	=दूसरे शरीरों में
विना	=बिना	अपि	=भी
शिशोः	=बच्चे का	आत्मा	=आत्मा
स्तन्यपानम्	=दूध पीना	स्थायी	=स्थिर रहता है
न	=नहीं	इति	=इस प्रकार का
घटते[1]	=बनता है,	निश्चीयते	=निश्चय[2] होता है।

व्याख्या

१. पूर्वानुभूतविषयसंस्कारवशादनुभूतसजातीयदर्शने पूर्वानुभूतविषयस्वभावं स्मरन् परिदृश्यमानविषयेऽपि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनास्यापि तादृक्स्वभावताङ्कलयन्नुभयवस्त्वनुभवकालानपायिनमेकमात्मानम्प्रत्यभिजानाति पुमान् इति घटनप्रकारः।

२. प्रत्यभिज्ञा प्रमाण ही सिद्ध होता है और इसे प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समझना चाहिये। प्रत्यक्ष तो दर्शन, स्पर्शन, श्रवण आदि भेद से सामग्री भेद वाला सभी को स्वीकृत है। अतः इतने मात्र से प्रमाण की जाति ही बदल देना अप्रयोजनीय है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के साथ स्मृति भी कार्य करे तो प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है। अतः प्रत्यक्ष के लक्षण में मात्र पद अनावश्यक है। दोषसंस्कारसहित इन्द्रिय और विषय के

सन्निकर्ष से जन्य भ्रान्ति ज्ञान को भी तो प्रत्यक्ष ही माना जाता है। इसी प्रकार यहाँ 'स्मृति सहित' पद होने से व्यवस्था बन जाती है ।

—८—

पूर्वत्रानुभवे काले स्मृतिकाले परत्र सन् ।
आत्मा संस्काररूपेण स्मरत्यर्थं स्वनिष्ठितम् ॥८॥

(पदच्छेदः)

पूर्वत्र अनुभवे काले स्मृतिकाले परत्र सन् ।
आत्मा संस्काररूपेण स्मरति अर्थम् स्वनिष्ठितम् ॥८॥

(सान्वयार्थः)

पूर्वत्र	=पहले	आत्मा	=आत्मा
अनुभवे	=अनुभूति के	संस्काररूपेण	=संस्काररूप[2] से
काले	=समय में (और)	स्वनिष्ठितम्	=अपने भीतर[3] रहने वाले
परत्र	=बाद में	अर्थम्	=विषय को
स्मृतिकाले	=याद के समय	स्मरति	=याद[4] करता है ।
सन्	=(दोनों काल में) रहता[1] हुआ		

व्याख्या

१. आत्मा अनुभूता और स्मर्ता दोनों हैं, अतः दोनों कालों में रहने से स्थायी सिद्ध होता है । 'जिस मैंने अनुभव किया था वही में अब स्मरण कर रहा हूँ', इस प्रकार से स्वयं अपनी प्रत्यभिज्ञा आत्म-नित्यता बताती है ।

२. अनुभूत पदार्थ के निवृत्त हो जाने पर जो अव्यक्त रूप से पदार्थ ज्ञान आत्मा में रह जाता है वही संस्कार कहा जाता है ।

३. संस्कार को प्रायः अन्तःकरणनिष्ठ माना जाता है । यहाँ उसको साक्षी-निष्ठ स्वीकार किया गया है । वस्तुतः बिना उपाधि के तो संस्कार रह नहीं सकता, अतः प्रकारान्तर से अन्तःकरण आ ही जायगा । पर यहाँ उपाधि को आत्मा से अभिन्न मानकर व्यवस्था बन जाती है । अन्तःकरण स्वकारण माया का ही, जो शिव से अभिन्न है, एक देश है । अतः उसकी भी शिवरूपता सिद्ध है ।

४. संस्कार प्रबोध का काल आने पर या उसी विषय का अनुभव होने से संस्कार ही स्मृति रूप में परिणत हो जाता है।

—९—

स्मृति को प्रमाण कोटि में लाने को न सह सकने वाला वादी खड़ा होता है:—

प्रत्यभिज्ञेति भावानां स्मृतिश्चेदभिधीयते।
आत्मस्थैर्ये प्रमाणत्वं स्मृतिश्च प्राप्नुयात्कथम् ॥९॥

(पदच्छेद:)

प्रत्यभिज्ञा इति भावानाम् स्मृति: चेत् अभिधीयते।
आत्मस्थैर्ये प्रमाणत्वम् स्मृति: च प्राप्नुयात् कथम् ॥९॥

(सान्वयार्थ:)

भावानाम्	=पदार्थों की	कथम्	=किस प्रकार
स्मृति:	=याद	स्मृति:	=याद[2]
प्रत्यभिज्ञा	=प्रत्यभिज्ञा है	आत्मस्थैर्ये	=आत्मा की स्थिरता में
इति	=ऐसा[1]	प्रमाणत्वम्	=प्रमाणता को
अभिधीयते	=कहा जा रहा है	च	=भी
चेत्	=तो	प्राप्नुयात्	=प्राप्त हो सकेगी।

व्याख्या

१. उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा के लक्षण को न जानकर ही यह प्रश्न किया जा रहा है।

२. स्मृति की अप्रमाणता तो सर्ववादिसम्मत है ही। क्योंकि अननुभूत अबाधित अर्थ को विषय करना प्रमा है। स्मृति कभी भी अननुभूत विषयक नहीं होती।

प्रत्यभिज्ञा में तो अनुभूत विशिष्ट की स्मृति से अननुभूत शुद्ध का यथार्थ ज्ञान है अत: यह दोष प्राप्त नहीं।

—१०—

स्मृति की अप्रमाणता वादी साधता है:—

स्मृतौ प्रकाशो नार्थस्य न चाप्यर्थस्य निश्चय:।
न चाप्यर्थानुभवयोरङ्गुल्योरिव सम्भवेत् ॥१०॥

(पदच्छेदः)

स्मृतौ प्रकाशः न अर्थस्य न च अपि अर्थस्य निश्चयः ।
न च अपि अर्थानुभवयोः अंगुल्योः इव सम्भवेत् ।।१०।।

(सान्वयार्थः)

स्मृतौ	=याद में
अर्थस्य	=विषय का[1]
प्रकाशः	=ज्ञान (अनुभव)
न	=नहीं है ।
च	=और
अर्थस्य	=विषय का
निश्चयः	=निश्चय[2]
अपि	=भी
न[3]	=नहीं है ।
च	=और
अंगुल्योः	=दो उंगलियों
इव	=की तरह[4]
अर्थानुभवयोः	=पदार्थ और उसका ज्ञान[5]
अपि	=भी
न	=नहीं
संभवेत्	=हो सकता है ।

व्याख्या

१. स्मृति में प्रमाजनकता के अभाव को बता रहे हैं क्योंकि प्रमाण प्रमा जनक ही होता है । प्रत्यक्षान्तर्गत स्मृति को नहीं कर सकते क्योंकि इसमें पदार्थ का यथावस्थितस्वरूप का भास नहीं है ।

२. अनुमानादि प्रमाणों से पदार्थ की सत्ता का निश्चय होता है, यद्यपि प्रत्यक्ष की तरह उसके वास्तविक स्थिति का भान नहीं होता । 'निश्चयः सद्भावनिश्चयः' । स्मृति काल में पदार्थ की सत्ता का निश्चय न होने से इसे अनुमानादि के अन्तर्गत भी नहीं कर सकते । टूटे मकान की भी स्मृति आती ही है ।

३. 'न चार्थानुभवस्य च' इति यदि द्वितीयपादपाठो लभ्येत तदा उत्तरार्द्धं सुसङ्गतम्भवेदिति । अन्यथा चकारात्पूर्वानुभूतार्थानुभवस्य वा न स्मृतौ प्रकाशः, तस्य नष्टत्वादिति संग्राह्य इति ।

४. यहाँ व्यतिरेकी दृष्टान्त समझना चाहिये ।

५. दोनों का अलग-अलग प्रकाश नहीं । उसी प्रकार साथ ही प्रकाश हो ऐसा भी नहीं । दो अँगुलियों का अनुभव जैसे साथ ही हो

जाता है वैसे पदार्थ और अनुभव की प्रतीति साथ भी नहीं हो सकती।

—११—

अन्यतरविशिष्ट का अन्यतरस्मृति में अनुभव होगा ऐसी शङ्का होने पर अतिप्रसंग से दुर्घटता जनाते हैं:—

नानुभूतिविशिष्टस्य पदार्थस्य च दण्डिवत्।
सर्वत्राप्येवमित्येवं प्रसङ्गादितिचेच्छृणु ॥११॥

(पदच्छेदः)

न अनुभूतिविशिष्टस्य पदार्थस्य च दण्डिवत्।
सर्वत्र अपि एवम् इति एवम् प्रसंगात् इति तत् शृणु ॥११॥

(सान्वयार्थः)

च[1]	=और	अपि	=भी
दण्डिवत्	=दण्डी[2] की तरह	एवम् इति	=इसी प्रकार का
अनुभूति-विशिष्टस्य	=ज्ञान विशिष्ट	प्रसङ्गात्	=प्रसंग प्राप्त होने से[4]
पदार्थस्य	=पदार्थ का	इति	=इस शंका[5] की समाप्ति है
न	=(अनुभव) नहीं है।	तत्	=इसका[6] उत्तर
एवम्	=इसी प्रकार	शृणु	=सुनो।
सर्वत्र	=सभी[3] में (स्मृति-मात्र में)		

व्याख्या

१. चकारात् पदार्थविशिष्टानुभूतिरपि सङ्ग्राह्या।

२. दण्ड विशिष्ट यति की तरह ज्ञान विशिष्ट पदार्थ का ज्ञान भी स्मृति में नहीं है।

३. पद से पदार्थस्मृति में भी अनुभव विशिष्टपदार्थ के प्रकाश का प्रसंग हो जायगा। अर्थात् स्मृति को प्रमाण मानने पर तो शब्द के

उच्चारण से होने वाली स्मृति में भी प्रत्यक्ष का वल मानंना पड़ जायगा।

४. 'अस्वीकार्य है स्मृति प्रमाण।' इतना अवशेष है।

५. शंका का हृदय प्रत्यभिज्ञा और स्मृति की एकता का प्रतिपादन है। यदि दोनों एक हैं तो वेदान्ती की इससे आत्मैक्य सिद्धि की प्रवृत्ति व्यर्थ है। स्मृति में प्रत्यक्ष का वल इन्द्रियार्थसन्निकर्षाभाव में संभव ही नहीं। न पूर्वानुभूति का ही बल है क्योंकि अनुभव नष्ट हो चुका है। प्रत्यभिज्ञा विषय की पूर्वानुभूति में प्रमाण होने से स्मृति से भिन्न नहीं। विषय और उसका अनुभव दो उंगलियों की तरह परस्पर स्वतन्त्र हैं या सम्वन्धित हैं। अतः प्रत्यक्ष का बल स्मृति में न विषय सिद्धि में है न विषय ज्ञानसिद्धि में है। और दण्डी की तरह यह पदार्थ अनुभूति का विषय रहा था, यह तो सर्वथा ही स्मृति से सिद्ध नहीं कर सकते।

६. यदि स्मृति को अनुभव में प्रमाण मानोगे तो दोषों की प्राप्ति होगी ऐसा जो पूर्ववादी का कथन उसे दोष परिहार द्वारा खण्डित करके प्रामाण्य सिद्ध करेंगे। विषय की सूक्ष्मता के कारण सावधान होने के लिये कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वेदान्ती स्मृति को प्रमाण नहीं मानते परन्तु स्मृति की अन्यथा अनुपपत्ति से अर्थापत्तिप्रमाण द्वारा आत्मस्थिरता को प्रमाणसिद्ध स्वीकारते हैं। अतः वादिदोष भ्रान्तिनिमित्तक है।

—१२—

हमारे मत में स्मृति की उत्पत्ति की सामग्री का निदर्शन करते हैं:—

प्राक्तनानुभवे नष्टे तदवष्टम्भसम्भवात्।
संस्कार संज्ञात्सामग्र्यात् पौरुषाज्जायते स्मृतिः ॥१२॥

(पदच्छेद:)

प्राक्तनानुभवे नष्टे तदवष्टम्भसम्भवात्।
संस्कारसञ्ज्ञात् सामग्र्यात् पौरुषात् जायते स्मृतिः ॥१२॥

(सान्वयार्थः)

प्राक्तनानुभवे	= पहले[1] हुये अनुभव के	संस्कार-सञ्ज्ञात्	= संस्कार नामक[4]
नष्टे	= खतम हो जाने पर	सामग्र्यात्[5]	= सामग्री से
		पौरुषात्[6]	= ईश्वराधिष्ठित
तदवष्टम्भ-सम्भवात्[3]	= उसके[2] आश्रय में रहने वाले	स्मृतिः	= स्मरण
		जायते	= उत्पन्न होता है ।

व्याख्या

१. स्मृति सर्वदा पहले की ही होती है । अनुभव साक्षी में लीन होता है यह (३.६) सिद्ध कर आये हैं ।

२. अनुभव का अवष्टम्भ अर्थात् सहारा या आश्रय आत्मा ही संभव है । चेतनात्मा से अतिरिक्त अनात्मा में तो उसका सहारा ढूँढना व्यर्थ है । अतः ईश्वर से अभिन्न आत्मा के द्वारा अपने अन्दर अवस्थित संस्कारनिमित्तक स्मृति की उत्पत्ति है । जहाँ अनुभव है वहीं उस अनुभव की अव्यक्त स्थिति संभव है । और वहीं उसका पुनः प्राकट्य है ।

३. तदवष्टम्भः प्राक्तनानुभवाश्रयस्तस्मिन् सम्भवो यस्य तथा इति विग्रहः ।

४. अच्छी तरह से विशेषता करता है अतः संस्कार कहा जाता है ।

५. समग्रभावाद् असाधारणकारणादिति यावत् ।

६. पुरुषेण चैतन्यप्रधानेन प्रमात्रेश्वरेण चाधिष्ठितादिति ।

—१३—

इस प्रकार से उत्पन्न स्मृति का कार्य बताते हैं:—

आवेद्यानुभवे नष्टे तदीयं विषयम्प्रति ।
अनुभावकमात्मानं बोधयत्यनपायिनम् ॥१३॥

(पदच्छेद:)

आवेद्यानुभवे नष्टे तदीयम् विषयम् प्रति ।
अनुभावकम् आत्मानम् बोधयति अनपायिनम् ।।१३।।

(सान्वयार्थ:)

आवेद्यानुभवे[1]	=प्रत्यक्षविषय के ज्ञान के	अनुभावकम्	=(जो पूर्व में) अनुभव करने वाला[3]
नष्टे	=नष्ट हो जाने पर	अनपायिनम्	=नित्य[4]
तदीयम्	=उसके (ज्ञान के)	आत्मानम्	=आत्मा को
विषयम्	=विषय के	बोधयति	=सिद्ध करता है।
प्रति[2]	=प्रति		

व्याख्या

१. आवेद्यस्य सम्यग्वेदनीयस्येति यावत् ।

२. विषयमावेद्यम्प्रति यः पूर्वमनुभावकोनुभवितात्मा तमात्मानमनपायिनन्नित्यमेकं बोधयति ज्ञापयति स्मृतिरिति शेष: ।

३. पूर्वानुभवजनितसंस्कार से पूर्वानुभूत विषय का स्मरण करता हुआ तत्काल उपस्थित विषयानुभव के समनन्तर ही 'जो मैं पूर्व में फौज, खजाना, महल आदि से युक्त राज्य का अनुभव करने वाला था वही मैं अब हिमालय की कन्दरा में समीपस्थ गङ्गा-प्रपात का घोष सुन रहा हूँ।' इस प्रकार आत्मा की प्रत्यभिज्ञा करता है। इसी प्रकार जन्मान्तरीय विषय को याद करते हुये जन्मान्तरीय आत्मा की भी प्रत्यभिज्ञा होती है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा में स्मृति द्वार होने के कारण स्मृति और प्रत्यभिज्ञा को समान भी कहा जाता है।

४. वर्तमान क्षण के अनुभव से निकलती हुई आत्मा पहले के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के कारण पूर्व क्षण को याद करती है। इस याद में अपनी प्रत्यभिज्ञा निहित है। यहाँ काल की दो भिन्न अवस्थाओं में आत्मा की अनुवृत्ति है। इस प्रकार आत्मप्रत्यभिज्ञा आत्मा को स्थायी सिद्ध करती है।

—१४—

ज्ञेय और ज्ञान की व्यावृत्ति होने पर भी ज्ञाता की व्यावृत्ति नहीं होती अतः ज्ञाता आत्मा नित्य सिद्ध होता है:—

विषये च प्रमुषिते नष्टे चाऽनुभवे सति।
स्वविश्रान्तं स्मरत्यर्थं देवोऽप्रमुषितस्सदा ॥१४॥

(पदच्छेदः)

विषये च प्रमुषिते नष्टे च* अनुभवे सति।
स्वविश्रान्तम् स्मरति अर्थम् देवः अप्रमुषितः सदा ॥१४॥

(सान्वयार्थः)

च	=और[1]	सदा	=हमेशा
विषये	=विषय[2] के	अप्रमुषितः	=रहने वाला
प्रमुषिते	=दूर चले जाने पर	देवः	=स्वप्रकाश आत्मा
च	=और	स्वविश्रान्तम्	=अपने में (संस्कार रूप से) विलीन
अनुभवे	=अनुभव[3] के		
नष्टे	=विलीन	अर्थम्	=पदार्थ को[4]
सति	=हो जाने पर	स्मरति	=याद करता है।

व्याख्या

१. नित्यता में विशेष कारण के समुच्चय का द्योतक है।

२. विषय तो अनुभव के बाद ही दूर हो जाता है।

३. विशेषानुभव या वृत्तिविशिष्ट ज्ञान ही यहाँ समझना चाहिये। यह भी वृत्ति के नाश के साथ ही नष्ट हो जाता है।

४. विषय और वृत्ति के नष्ट होने पर भी संस्कारविशिष्ट चेतनात्मा रहता ही है। विषय और वृत्ति अनित्य हैं और आत्मा उनमें नित्य तत्व है। विषय और वृत्ति का अनुवर्तन अव्यक्त रूप से आत्मा में सदा रहता है।

*वा इति पाठभेदः।

—१५—

सुषुप्ति और प्रलय में देव का प्रमोषण संभव होने से सदा अप्रमुषित कैसे कहा:—

प्रमोषणम्प्रमातॄणां मायया तमसा कृतम् ।
मायाविद्ये प्रभोश्शक्ती भानोश्छाया प्रभोपमे ॥१५॥

(पदच्छेदः)

प्रमोषणम् प्रमातृणाम् मायया तमसा कृतम् ।
मायाविद्ये प्रभोः शक्ती भानोः छायाप्रभोपमे ॥१५॥

(सान्वयार्थः)

तमसा	=अन्धकारमयी[1]	छायाप्रभोपमे	=छाया[4] और रोशनी की तरह
मायया	=माया[2] से		
प्रमातृणाम्	=प्रमाताओं[3] का	मायाविद्ये	=माया[5] और विद्या
प्रमोषणम्	=(ज्ञान) दूर		
कृतम्	=किया जाता है ।	प्रभोः	=प्रभु की
भानोः	=सूर्य की	शक्ती	=शक्तियाँ[6] हैं ।

व्याख्या

१. तमोगुण प्रधानता से माया आवरक है । स्वरूप ढंकना भी आवश्यक है क्योंकि उसके बिना विश्वविलास ही असंभव है ।

२. आत्मा का प्रमोषण मायिक ही है, पारमार्थिक नहीं । वहाँ भी विशेषाकार का अनवभासंमात्र ही प्रमोषण है, स्वरूप नाश नहीं । सुषुप्ति में भी आत्मा अचेतन नहीं होता । यद्यपि आत्मा सुषुप्ति में किसी रूप में अपने आप को व्यक्त नहीं करता फिर भी स्वयं प्रकाश, स्वविषयक चेतना तो उस समय भी उसको है ही । अविद्या और उसके कार्य वुद्धि आदि के साथ अविवेक होने के कारण उन उपाधियों के स्वकारण में लीन हो जाने पर आत्मा भी विलीन या नष्ट हो गया अथवा अचेतन है यह भ्रम हो जाता है ।

३. महेश्वर तो नित्य अलुप्त शक्ति है । सृष्टि काल में भी उसकी सर्वज्ञता तो है ही । पर वही कल्पितांश या आभास रूप से वुद्धि विशिष्ट हुआ प्रमाता वन जाता है । प्रमाता माया से आवृत है अतः उसका ज्ञान चुराया हुआ कहा जाता है ।

४. सूर्य ही किसी पदार्थ के सामने आने पर पृष्ठ देश में छाया करता है और पदार्थ के अग्रदेश में प्रकाश करता है। सर्वपदार्थनिवृत्ति होने पर स्वप्रकाश रूप से रहता है। इसी प्रकार महेश्वर है। छाया और प्रकाश दोनों अतिविरुद्ध होने पर भी जैसे सूर्य कृत ही हैं, वैसे ही माया और विद्या अतिविरुद्ध शक्तियाँ महेश्वर की ही हैं। छाया को प्रकाश का अभाव मात्र मानना तो अति तुच्छ है। छाया एक भाव पदार्थ है। अन्यथा उससे कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती थी। छाया का उल्लंघन आदि पाप का जनक भी स्मृतिकारों ने बताया है।

अथवा छाया का प्रकाशाभावरूप से ही ग्रहण हो तो यहाँ छाया का अर्थ बादल रूपी आच्छादक भी कर सकते हैं। जैसे सूर्य से ही उत्पन्न हुआ बादल सूर्य का ही आच्छादक है वैसे ही महेश्वर की अपनी शक्ति ही महेश्वर का आच्छादन करती प्रतीत होती है। उस आच्छादन के समय भी सूर्य की तरह आत्मा भी प्रभारूप ही है। बाद में गर्मी से बादल को हटाता भी सूर्य ही है या वायु के प्रवाह को अपनी गर्मी से उत्पन्न करता है और पुनः स्वप्रभारूप से विद्यमान रहता है। इसी प्रकार विद्याशक्ति है।

अथवा जैसे सूर्य में उल्लू द्वारा दृष्ट छाया भी रहती है और नर द्वारा दृष्ट प्रभा भी रहती है। उसी प्रकार सदाशिव में माया से आच्छादन भी रहता है और विद्या से अनावृत स्वयं ज्योति भी रहती है। दोनों कल्पनाओं से वह तो सूर्य की तरह नित्य अस्पृष्ट है।

अथवा यहाँ छाया का अर्थ राहु भी हो सकता है। सूर्य सिद्धान्त में यह प्रयोग मिलता है। जैसे राहु वस्तुतः सूर्य से असम्बन्धित भी उससे सम्बन्धित प्रतीत होता हुआ आच्छादक है इसी प्रकार माया से अस्पृष्ट भी ब्रह्म उससे आवृत है। इस पक्ष में प्रभादृष्टान्त तो स्वरूप से होते हुये भी किसी निमित्त से धर्मित्वव्यवहारसिद्धि के लिये है। जैसे सूर्य प्रकाश स्वरूप होने पर भी रात्रि के अन्धकार की निवृत्ति पर अंधकार का निवर्त्तक आश्रय आश्रित सम्बन्ध से कहा जाता है।

अथवा ज्येष्ठ मास में अत्यधिक प्रकाशमान सूर्य निर्दिष्ट होता है, इसी प्रकार ब्रह्म में भी धर्मित्व व्यवहार सिद्धि है।

सर्वथा सूर्य से दो विरुद्ध भावों की अध्यक्षता है यह निर्विवाद है।

५. महेश्वर की शक्ति अनादि भाव रूप माया प्रमाता में स्वरूप आच्छादन के द्वारा अनादिकाल से अन्धकार उत्पन्न करती है। अतः वह समूल नष्ट कैसे होगी ? शास्त्रों में इसे 'दुरत्यया' कहा भी है। अतः मोक्ष कैसे होगा ? महेश्वर तो नित्य एक रस होने से मुक्ति का विषय ही नहीं। प्रमाता में यह संभव नहीं। इस प्रकार मोक्षशास्त्र की व्यर्थता प्राप्त होती है। यद्यपि प्रायः प्रागभाव में अनादिसान्तता सिद्ध करके माया में उसी का अतिदेश करते हैं, पर अभाव और भाव की एकात्मकता तर्कपूर्ण नहीं सिद्ध होती। रज्जु, सर्प, स्वप्न आदि का अनादित्व भी हृदयंगम नहीं होता। अतः जिज्ञासा की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती। अतः भगवान् सुरेश्वराचार्य प्राचीनतम वैदिक सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुये माया को विद्या से अपाकरणीय बताते हैं। माया अविद्यामात्र व अनिर्वचनीय होने से निवृत्ति का विषय है। विद्या भी शिव की ही भावरूपा शक्ति है। प्रभु में दोनों शक्तियाँ सर्वदा हैं। वह स्वयं मायाशक्ति से आच्छादित होकर पुनः विद्याशक्ति से अनावृत होता है। इसी को बन्ध और मोक्ष कहते हैं। वस्तुतः न बन्ध है और न मोक्ष है अथवा नित्य बन्ध और नित्य मोक्ष है। इन विरुद्ध तत्त्वों का सामरस्य ही वास्तविक है। विरोध प्रातिभासिक है। प्रमाता की दृष्टि से माया और विद्या में पूर्वापर भाव है। सदाशिव की वास्तविकता एकत्रसंगति है।

६. ये दोनों आत्मा में आश्रित केवल इसलिये माने जाते हैं कि वह ही बन्ध और मोक्ष का प्रकाशक या अनुभूता है। असंग स्वप्रकाश महेश का स्वरूपभूत तो अखण्ड चैतन्य आनन्द है। उसमें विद्या प्राप्ति भी संभव नहीं क्योंकि उसमें सर्वदा ही अविद्या का अभाव है। सूर्य में छाया की तरह माया की संभावना महेश में नहीं और न वह चेतन से भिन्न ही है।

असंग अलुप्त प्रकाश में माया की आश्रयता नहीं और ज्ञानस्वरूप होने से आगन्तुक ज्ञान अनपेक्षित है अतः दोनों की काल्पनिक आश्रयता है। पूर्वापर भाव स्वीकारने में यही कठिनाई है। अतः नित्य सामरस्य ही सत्य है।

—१६—

महेश्वर की शक्तियों का कार्य निरूपण करते हैं :—

सर्वानाच्छादयेन्माया विद्याव्याक्षिप्य दर्शयेत्।
प्रत्यभिज्ञैव सर्वेषां प्रमाणानाञ्च साधनम् ॥१६॥

(पदच्छेदः)

सर्वान्* आच्छादयेत् माया विद्या व्याक्षिप्य दर्शयेत्।
प्रत्यभिज्ञा एव सर्वेषाम् प्रमाणानाम् च साधनम् ॥१६॥

(सान्वयार्थः)

माया	=माया	दर्शयेत्	=दिखाती है,
सर्वान्	=सारे जीवों और पदार्थों के तत्त्वोंको	च	=और
आच्छादयेत्	=ढंकती है;	प्रत्यभिज्ञा[2]	=प्रत्यभिज्ञा
विद्या	=विद्या[1]	एव	=ही
व्याक्षिप्य	=व्यक्त करके (या विक्षेप करके) (ढक्कन को फेंक कर)	सर्वेषाम्	=सब[3]
		प्रमाणानाम्	=प्रमाणों का
		साधनम्	=साधन है।

व्याख्या

१. विद्या जड अन्तःकरण की वृत्ति होने पर भी महेश्वर की शक्ति होने से ही माया निवृत्ति में समर्थ है। यहाँ सभी वृत्ति-ज्ञानों का स्वरूप निर्दिष्ट है। सामान्यतः माया ने आवृत कर रखा है। अतः सुषुप्ति में सभी आवृत रहता है। जीव को वहाँ कोई भी ज्ञान नहीं, केवल ज्ञानाभाव का ज्ञान, ज्ञान स्वरूप होने से है। उसके बाद जागृत्स्वप्न में जिस जिस विषयक विद्या (प्रतीति) होती है उस उस का अनावरण होता है। यहाँ पदार्थों का ज्ञान होने से विक्षेप है।

२. प्रत्यभिज्ञायते सर्वेष्ववभासेष्वनुस्यूततयावगम्यत इति प्रत्यभिज्ञा साक्षी स एव सर्वविज्ञानसाधक इत्यर्थः।

३. उपलक्षणा से अप्रमाणों का भी साधन अर्थात् साधक प्रत्यभिज्ञा ही है। अर्थात् स्वरूप से जड़ होने पर भी अशेषविज्ञान के अधिष्ठान साक्षी चैतन्य से व्याप्त होने के कारण विद्या मायानिवारण में समर्थ हो जाती है जैसे लोहे का गोला ठण्डा और अन्धकार रूप होने पर भी गर्म होने पर प्रकाश देने और जलाने में समर्थ हो जाता है।

अथवा विद्या व्याक्षिप्य दर्शयेत्' इसमें प्रत्यभिज्ञा वाक्य प्रमाणरूप से है। सारे प्रमाण अर्थात् प्रमाणवृत्तियों की जो 'यह मैंने जाना' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा है वह विद्यारूपप्रमाणवृत्ति के स्वभाव को सिद्ध करने वाली है। वह प्रत्यभिज्ञा विद्या के विषयावरणतिरोधानसामर्थ्य की ज्ञापक है। 'मैंने जाना' की चेतनता जो प्रत्येक ज्ञान के साथ है बताती है कि विद्या उस ढक्कन को हटा सकती है जो पदार्थ को ढांकता है।

अथवा अविद्या को हटाकर सब तत्त्वों की प्रकाशिका विद्या ही प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्येक ज्ञान और प्रत्येक विषय को प्रकाश करके प्रत्यभिज्ञा करती है। प्रकर्षेण अभितः अनवच्छेदेन ज्ञायते यः प्रत्यगात्मा साक्षी सा प्रत्यभिज्ञा। इससे ही सारे प्रमाणों के वृत्तान्तों के पर्यवसान की अभिज्ञानात्मकता है। इस मत में विद्या ही प्रत्यभिज्ञा है जो अज्ञान को हटाकर सारे पदार्थों की वास्तविकप्रकृति प्रकट करती है। यह सर्वसाक्षी सर्व प्रकाशक प्रत्यगात्मरूप है।

*अर्थान् इति पाठान्तरम्।

—१७—

उस प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप निर्देश करते हैं:—

ईश्वरोन्योहमप्यन्य इति विच्छेदकारिणीम्।
व्याक्षिप्य विद्यया मायामीश्वरोहमिति स्मृतिः ॥१७॥

(पदच्छेदः)

ईश्वरः अन्यः अहम् अपि अन्यः इति विच्छेदकारिणीम् ।
व्याक्षिप्य विद्यया मायाम् ईश्वरः अहम् इति स्मृतिः ॥१७॥

(सान्वयार्थः)

ईश्वरः	=ईश्वर	मायाम्	=माया को
अन्यः	=और है,	विद्यया	=विद्या[२] से
अहम्	=मैं	व्याक्षिप्य	=हटा कर
अपि	=भी	ईश्वरः	=ईश्वर
अन्यः	=दूसरा हूँ	अहम्	=मैं हूँ[३]
इति	=इस प्रकार की	इति	=इस प्रकार की
विच्छेद-कारिणीम्	=अलग[१] करने वाली	स्मृतिः	=स्मृति है[४] ।

व्याख्या

१. मैं का वाच्य आत्मा चेतन है । ईश्वर का वाच्य जगन्नियन्ता अनन्त है । दोनों का भेद माया कृत है । यह तिरोधानशक्ति सदाशिव की है ।

२. ब्रह्मस्वरूप को विषय करने वाली वृत्ति यहाँ विद्या है । वस्तुतः जो भी पदार्थ अनावृत होता है वह विद्या का ही विषय है । पर घट पटादि विद्या परिच्छिन्न तत्त्व को अनावृत करती है । ब्रह्म विद्या अपरिच्छिन्न तत्त्व की अनावरिका है । यह माहेश्वरी आविर्भाव शक्ति है ।

३. 'जो परिच्छिन्न मैं था वह मैं अपरिच्छिन्न ही हूँ', इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप है । माया के विद्या से हट जाने पर स्वतः स्वरूपाविर्भाव ही प्रत्यभिज्ञा है ।

४. स्मृति ही प्रत्यभिज्ञा है यह शेष है । यह स्वरूपस्थिति है जो दृढ़ ज्ञान का फल है ।

—१८—

विद्या से आत्मा का ज्ञान नहीं वरन् माया का बाध मात्र है:—

ईषत्प्रकाशोभूदीशो मायायवनिकावृतः ।
सम्यगावरणापाये सहस्रांशुरिव स्फुरेत् ।।१८।।

(पदच्छेदः)

ईषत् प्रकाशः अभूत् ईशः मायायवनिकावृतः ।
सम्यक् आवरणापाये सहस्रांशुः इव स्फुरेत् ।।१८।।

(सान्वयार्थः)

माया-यवनिका-[1] वृतः	= माया रूपी परदे से ढका हुआ	आवरणापाये	= ढक्कन के हटने से
ईशः	= ईश्वर	सहस्रांशुः[4]	= सूर्य
ईषत्	= थोड़ी[2]	इव	= की तरह
प्रकाशः	= प्रभा[3] का	सम्यक्	= अच्छी तरह से[5]
अभूत्	= था;	स्फुरेत्	= भात हो सकता है[6]।

व्याख्या

१. यवनिका शब्द नाटक के परदे में प्रयुक्त है। माया रूपी परदा भी संसार नाटक का है। अतः इस शब्द प्रयोग में वैशिष्ट्य है।

२. जितने अंश का आवरण भंग विद्या करती है उतने अंश की प्रभा है। स्वरूप प्रभा तो है ही। परिच्छिन्नता ही थोड़ा पना है।

३. ज्ञानरूप प्रभा।

४. अनन्त किरणों से अनन्त ज्ञान बताया। जैसे एक ही जैसा होता हुआ प्रकाश भी किरणों में भेद वाला है उसी प्रकार एक ज्ञान रूप आत्मा भी विषयाकारों में अनन्त भेद का है।

५. अपरिच्छिन्न प्रकार से ही सम्यक् है क्योंकि वही वास्तविक है।

६. मेघ के आवरण के हटने पर सूर्य का स्वसिद्ध प्रकाश से ही स्फुरण होता है। अतः पूर्वसिद्धस्फुरण से ही यथावत्स्वरूप की अभिव्यक्ति-मात्र ही प्रत्यभिज्ञा है। नवीन प्रकाश विद्या नहीं करती।

—१९—

प्रत्यभिज्ञा को पूर्वसिद्धस्वरूप न समझ कर आगन्तुक धर्म क्यों स्वीकार नहीं किया जाता :—

न कारणानां व्यापारात् प्रमाणानान्न वा पुनः ।
प्रत्यभिज्ञापनन्नाम मोहापसरणं परम् ॥१९॥

(पदच्छेदः)

न कारणानाम् व्यापारात्* प्रमाणानाम् न वा पुनः ।
प्रत्यभिज्ञापनम् नाम मोहापसरणम् परम् ॥१९॥

(सान्वयार्थः)

न	=न	पुनः	=फिर (बल्कि)
कारणानाम्	=कारणों[1] के	परम्	=केवल
न	=न	मोहापसरणम्	=मोह का हटाना[3]
वा	=तो	प्रत्यभिज्ञापनम्	=प्रत्यभिज्ञापन
प्रमाणानाम्	=प्रमा साधनों[2] के	नाम	=का स्वरूप[4] है ।
व्यापारात्	=व्यापार से,		

व्याख्या

१. क्रिया के साधन कर्मेन्द्रिय और प्राण से प्रत्यभिज्ञा उत्पाद्य नहीं है। या अन्य कोई कारण सामग्री प्रत्यभिज्ञा को पैदा नहीं कर सकती ।

२. प्रमा के साधन ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण से प्रत्यभिज्ञा ज्ञाप्य नहीं है ।

३. मोह के हटाने मात्र से वह व्यक्त होती है ।

४. समग्र कर्मसाधनों की क्रिया और ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान पहले ही प्रत्यगात्मा की अपेक्षा रखता है। अतः वे प्रत्यगात्मा में प्रवृत्ति करें यह असम्भव है। प्रत्यगात्मा से वे हैं, उनसे प्रत्यगात्मा नहीं । अनित्यत्वादि दोष तो स्वतः सिद्ध हैं ।

*व्यापारः इति पाठान्तरम् ।

—२०—

विद्या से स्वत: सिद्ध आत्मभान होता है। प्रमाण तो आवरण के तिरोधान मात्र के लिये है। इसका सभी प्रमाणों में अतिदेश करते हैं:—

यावन्ति सन्ति मानानि व्यवहारप्रवृत्तये।
तेषां मोहापसरणात् व्यापारोन्यो न विद्यते ॥२०॥

(पदच्छेद:)

यावन्ति सन्ति मानानि व्यवहारप्रवृत्तये।
तेषाम् मोहापसरणात् व्यापार: अन्य: न विद्यते ॥२०॥

(सान्वयार्थ:)

व्यवहारप्रवृत्तये	= व्यवहार[1] की प्रवृत्ति के लिये	मोहापसरणात्	= अज्ञान को हटाने से
यावन्ति	= जितने भी	अन्य:	= भिन्न
मानानि	= प्रमाण[2]	व्यापार:	= कोई काम[3]
सन्ति	= हैं	तेपाम्	= उनका
		न	= नहीं
		विद्यते	= है।

व्याख्या

१. घट पटादि पदार्थों के आनयन आदि ही व्यवहार हैं। व्यवहार का मूल ज्ञान है। जानाति, इच्छति के बाद यतते का नियम मनोविज्ञान का अटूट नियम है। अत: व्यवहारप्रवृत्तये अर्थात् ज्ञानाय।

२. 'यह घडा है' इस प्रकार आँख से अनुभव करने पर घड़े में प्रमाण से कोई विशेषता पैदा होती है जो अपूर्व गुण है, अथवा घट में रहने वाले किसी गुण की निवृत्ति है? प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् उत्पत्ति और नाश को छोड़कर किसी भी प्रमाण या साधन से कुछ भी सम्पन्न नहीं हो सकता यह ध्रुव सत्य है। अत: प्रमाण का फल विवेच्य है।

घड़े में अपूर्व गुण की उत्पत्ति यदि मानें तो चेतन रूप होने से

स्फुरण जड़ घट में जन्म ले यह तो संभव नहीं। 'घटज्ञानवाला मैं' इस प्रकार ज्ञाता में ही ज्ञान का आश्रय अनुभूत है घट में नहीं। घट में स्फुरणरूप उत्पन्न होता तो घटज्ञानवान् घट होता आत्मा नहीं। यदि कहा जाय कि जानाति क्रिया की ज्ञातृगामिता होने पर भी फल की तो प्रमा की विषयगतता ही वक्तव्य है, क्योंकि घटस्तिष्ठति की तरह घटः स्फुरति में स्फुरण की घटकर्तृकत्व प्रतीति है; तो इस प्रकार की शंका घटो मम स्फुरति इस अनुभव से ही निरस्त है, क्योंकि यहाँ ज्ञाता को ही स्फुरण धर्मवत्ता का अनुभव हो रहा है। ज्ञाता ही मुझे अब यह स्फुरण हो रहा है या नहीं हो रहा है ऐसा व्यवहार करते हैं, विषय तो कभी भी ऐसा व्यवहार करते नहीं देखे गये। इतना ही नहीं वस्तु को ज्ञानोत्पत्ति का स्थल मानेंगे तो वहीं संस्कार भी रहेगा और उससे उत्पन्न स्मृति को भी वहीं उत्पन्न होना पड़ेगा। ज्ञान के आश्रय में ही संस्कारजनकता और संस्कार के स्वाश्रय में ही स्मृति उत्पत्ति का नियम तो अनुभव और युक्ति सिद्ध है। अतः पदार्थ को ज्ञानाश्रय मानेंगे तो विषयस्मरण का अभाव प्रसक्त होगा। ज्ञाता में पदार्थ स्मृति न होने पर तो उसका (ज्ञाता का) स्मृतिरहित विषय के व्यवहार न बनने से जीवन भी दुर्घट हो जायगा। अतः यह पक्ष तो सर्वथा परित्याज्य है।

स्फुरण रूप न मान कर ज्ञातता नामक अपूर्व धर्म की उत्पत्ति मानने पर तो उसका निर्वचन ही कठिन है। ज्ञातता को द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य में से किसी के अन्तर्गत मानना पड़ेगा। क्योंकि विषय को आश्रय इन्हीं में से कोई बना सकेगा। इनमें से कोई भी पक्ष सर्वथा युक्ति साध्य नहीं। इनको अतीन्द्रिय मानने पर तो उसका आधार विषय भी स्फुरण न होना चाहिये। तब तो ज्ञातो मया घटः इस प्रकार का व्यवहार ही उदय न हो सकेगा। यदि इन्द्रिय ग्राह्य ज्ञातता को मानेंगे तो घटाश्रित आलोक, रूप आदि की तरह ज्ञातता को दूसरे प्रमाता भी जान लेंगे। परन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। जो जानता है उससे भिन्न को पता नहीं लगता कि किसने

जाना है। घड़े को मेरे जानने का अनुभव कि मैंने इसे जाना मुझ से भिन्न किसी प्रमाता को संभव नहीं। सुन कर परोक्ष ज्ञान भले ही हो अपरोक्ष तो सर्वथा ही नहीं।

फिर यह भी बात है कि स्वजनकज्ञान से ही ज्ञातता प्रतीत होती है या अन्य किसी ज्ञान से ? यदि पूर्व पक्ष स्वीकार करें तो ज्ञातता का जन्म और उसकी प्रतीति साथ साथ तो होंगे नहीं क्योंकि जन्मावभास का यौगपद्य संभव नहीं। एक क्षण में दो क्रियाएँ संभव नहीं। क्रम से मानना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान की व्यापारवत्ता विराम करके अनुपपन्न है। ज्ञानान्तर से ज्ञातता की प्रतीति मानने पर उसका भी दूसरी ज्ञातता की उत्पत्ति में ही उपक्षय होने से अनवस्थाप्रसंग होता है। अतः ज्ञान से विषय में कोई भी अपूर्व धर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

तब तो नैयायिकों को इष्ट ज्ञान से उत्पन्न होने वाली स्फुरण रूपी अपूर्वता आत्मा में ही स्वीकार कर लेनी चाहिये। पर विचार से यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि घटःस्फुरति में स्फुरण का घटत्वसामानाधिकरण्य रूपी अनुभव से विरोध होता है। स्फुरण का घट से असम्बन्ध होने पर दूसरे से ज्ञात की तरह 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रकार स्वात्मा में ज्ञातृज्ञेयसम्बन्ध नहीं होता क्योंकि किसी विशेष का अभाव है। यदि स्वेन्द्रियसंसृष्टता को ही विशेष माना जाय तो यह संसृष्टता अतीन्द्रिय होने से उस की सम्बन्धता का पता ही नहीं लगेगा। तन्निमित्तक ज्ञेयसंबंध का भी आत्मा में प्रत्यक्ष अयुक्त होगा।

ज्ञान का विषय से सम्बन्ध अपने आश्रय आत्मज्ञान के द्वारा मानो तो ज्ञान की आत्माश्रयता सर्वव्यापी मानने पर आत्मा का सर्वसंसर्गी होने से युगपत् सर्वज्ञान का प्रसङ्ग होना चाहिये। देहावच्छिन्न आत्माश्रयता मानने पर देह से बाहिर सम्बन्धाभाव से बाहिर के विषयों के अनवभासता का प्रसंग होगा। अतः आत्मा में भी ज्ञान की उत्पत्ति बनती नहीं।

पुनश्च विषय या आत्मा में उत्पन्न होने वाला ज्ञान उत्पत्ति से

पूर्व असत् माना जाय या सत् ? असत् तो हो नहीं सकता क्योंकि असत् का सत्ता से सम्बन्ध ही असंभव है । सत्ता का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है । समवाय सम्बन्ध सत्पदार्थों का ही माना गया है, न तो असत्पदार्थों का और न सत् और असत् का आपस में । इसी प्रकार अपने कारण के साथ सम्बन्ध या अगले क्षण से सम्बन्ध भी भाव पदार्थों का ही धर्म है अतः उनका भी असत् पदार्थ से योग नहीं । सिद्ध होकर संबन्ध मानने पर तो अन्योन्याश्रय होगा । क्योंकि उक्त सम्बन्धी से सम्बन्ध होने के पहले सिद्धता अनुपपन्न है। उपपन्न होने पर तो सत्कार्यवाद ही हो जायगा । सत्तादि सम्बन्ध के सिद्ध होने पर स्वरूप सिद्धि, और स्वरूप के सिद्ध होने पर सम्बन्ध सिद्धि इस प्रकार अन्योन्याश्रय भी दुर्वार होगा । इसलिये उत्पत्ति से पूर्व असत् मानना तो सर्वथा ठीक नहीं ।

उत्पत्ति से पूर्व सत् मानने पर तो सिद्ध को साध्य माननारूपी व्याघात दोष प्राप्त होगा । वस्तु में विरुद्ध धर्मों की असंभवता के कारण सदसदात्मकता तो सर्वथा अनुपपन्न है । सदसद्विलक्षणत्व तो मिथ्यात्व का ही लक्षण है । अतः आत्मा और विषय में से किसी में भी अपूर्व धर्मोत्पत्ति तो नहीं स्वीकार की जा सकती ।

किंच न विषयस्थित किसी की निवृत्तिरूप ज्ञानकृत अतिशय ही पारमार्थिक दृष्टि से युक्तियुक्त है । सत् की निवृत्ति तो ज्ञान से होना संभव नहीं । ज्ञान में आरोपितमात्र को निवृत्त करने की शक्ति है । जैसे शुक्तितत्त्वज्ञान आरोपित रजत और तद्विशिष्ट अज्ञान को हटाता है, शुक्ति को तो अल्प भी नहीं हटा सकता । यदि कहो कि सत् रूप पूर्वज्ञान की निवृत्ति भी उत्तर ज्ञान से देखी जाती है तो ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानान्तर की उत्पत्ति के बिना भी उत्पन्न ज्ञान का स्वरस से ही निवर्तन देखा जाता है । कभी-कभी उत्तर ज्ञान होने पर भी उसे पूर्व ज्ञान का निवर्तक नहीं माना जा सकता । उत्तरज्ञान निवर्त्य पूर्व ज्ञान मानने से तो सुषुप्ति ही असंभव हो जायगी । किंच प्रमाण-सिद्ध को ही सत् कहा जाता है । उसका प्रमाणान्तर से बाध सम्भव

नहीं। बाध्य तो अप्रामाणिक होता है। अतः प्रमाण का फल सत् की निवृत्ति नहीं हो सकती। असत् तो नित्य निवृत्त होने के कारण निवृत्ति का विषय सर्वथा ही नहीं हो सकता। यद्यपि नैयायिक असत् प्रागभाव की प्रतियोगी की उत्पत्ति से निवृत्ति मानते हैं परन्तु विचारने पर तो प्रागभाव को ध्वंसाभाव का प्रतियोगी मानने पर वह भाव पदार्थ ही सिद्ध होगा। निवृत्ति तो ध्वंस है अतः अभाव धर्म नहीं वरन् भावधर्म है। अतः ज्ञान से असन्निवृत्ति भी साध्य नहीं।

सदसदात्मक उभयरूप तो पदार्थ ही नहीं तो उसकी निवृत्ति कैसी? अतः किसी अनिर्वचनीय की किसी अनिर्वचनीय से निवृत्ति ही मोहनिवृत्तिमात्र है जो प्रमाण का कार्य है यह सिद्ध होता है।

३. उपनिषदों के महावाक्य आत्मा के वास्तविक स्वरूप में प्रमाण हैं। इनसे आत्मा के स्वरूप के आच्छादक अज्ञान की निवृत्तिमात्र होती है। अज्ञान निवृत्ति के अतिरिक्त शास्त्र का अन्य प्रयोजन नहीं।

—२१-२२—

इस प्रकार अपने अपने विषय के अज्ञानरूप मोह का निवर्तन ही सारे प्रमाणों का स्वभाव सिद्ध हुआ है। अतः वेदान्त वाक्य जनितवृत्ति-रूप प्रमाण भी आत्मा में रहने वाले अनादि, अनिर्वचनीय, अज्ञान रूप मोह की निवृत्ति के द्वारा उसके कार्य देहादिबन्धनिवृत्ति मात्र करता है, अधिक कुछ नहीं। इसका निरूपण विस्तार से करने के लिये भगवान वार्तिककार संसारबन्धन की देह और आत्मा के अन्योन्याध्यास-निमित्तकता का प्रतिपादन करते हुये उसकी वास्तविकता के भ्रम को दूर करते हैं। विचार करने से यही प्रतीत होता है कि संसार बन्धन यदि ज्ञान से निवृत्त होगा तो ही प्रमाणजन्य होगा और ज्ञाननिवर्त्य तभी होगा जब अध्यस्त होगा। अतः संसार बन्धन की निवृत्ति तभी होगी जब अध्यास की सिद्धि हो। (दृ० अद्वैतसिद्धिः) इसीलिये आचार्य भगवान शंकर सर्व प्रथम ब्रह्मसूत्र में भूमिका व्याज से अध्यास की

सिद्धि करते हैं। यहाँ से प्रारंभ करके एवं विशेषतया अगले उल्लास में वार्तिककार इसी का विस्तार करते हैं--

जडानृतपरिच्छिन्नदेहधर्माश्चिदात्मनि ।
सत्यज्ञानसुखात्मत्वं मोहाद्देहेपि कल्प्यते ॥२१॥
शुक्तौ रजतमित्येवं यथा व्यामुह्यतेन्यथा ।
सदेव रूप्यञ्चेद्भाति विलयस्ते न सिध्यति ॥२२॥

(पदच्छेदः)

जडानृतपरिच्छिन्नदेहधर्माः चिदात्मनि ।
सत्यज्ञानसुखात्मत्वम् मोहात् देहे अपि कल्प्यते ॥२१॥
शुक्तौ रजतम् इति एवम् यथा व्यामुह्यते अन्यथा ।
सत् एव रूप्यम् चेत् भाति विलयः ते न सिद्ध्यति ॥२२॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	कल्प्यते	=कल्पित की जाती है।
मोहात्	=अज्ञान से	अन्यथा	=ऐसा[3] न मानने से
शुक्तौ	=सीप में[1]	रूप्यम्	=चांदी
रजतम्	=चाँदी	सत्	=सच्ची[4]
इति	=ऐसा	एव	=ही
व्यामुह्यते[2]	=व्यामोह या भ्रम हो जाता है	भाति	=भान होती है
एवम्	=इसी प्रकार	चेत्	=यदि कहोगे तो
चिदात्मनि	=चिदात्मा में	ते	=तुम्हारे मत में
जडानृतपरिच्छिन्नदेहधर्माः	=जड़, असत्, सान्त आदि देह धर्म	विलयः	=(चांदी का) समूलनाश या बाध
अपि	=एवम्	न	=नहीं
देहे	=देह में	सिद्ध्यति	=सिद्ध होगा।
सत्य-ज्ञान-सुखात्मत्वम्	=सत्य, ज्ञान, सुख रूपता		

नहीं। बाध्य तो अप्रामाणिक होता है। अतः प्रमाण का फल सत् की निवृत्ति नहीं हो सकती। असत् तो नित्य निवृत्त होने के कारण निवृत्ति का विषय सर्वथा ही नहीं हो सकता। यद्यपि नैयायिक असत् प्रागभाव की प्रतियोगी की उत्पत्ति से निवृत्ति मानते हैं परन्तु विचारने पर तो प्रागभाव को ध्वंसाभाव का प्रतियोगी मानने पर वह भाव पदार्थ ही सिद्ध होगा। निवृत्ति तो ध्वंस है अतः अभाव धर्म नहीं वरन् भावधर्म है। अतः ज्ञान से असन्निवृत्ति भी साध्य नहीं।

सदसदात्मक उभयरूप तो पदार्थ ही नहीं तो उसकी निवृत्ति कैसी? अतः किसी अनिर्वचनीय की किसी अनिर्वचनीय से निवृत्ति ही मोहनिवृत्तिमात्र है जो प्रमाण का कार्य है यह सिद्ध होता है।

३. उपनिषदों के महावाक्य आत्मा के वास्तविक स्वरूप में प्रमाण हैं। इनसे आत्मा के स्वरूप के आच्छादक अज्ञान की निवृत्तिमात्र होती है। अज्ञान निवृत्ति के अतिरिक्त शास्त्र का अन्य प्रयोजन नहीं।

—२१-२२—

इस प्रकार अपने अपने विषय के अज्ञानरूप मोह का निवर्तन ही सारे प्रमाणों का स्वभाव सिद्ध हुआ है। अतः वेदान्त वाक्य जनितवृत्तिरूप प्रमाण भी आत्मा में रहने वाले अनादि, अनिर्वचनीय, अज्ञान रूप मोह की निवृत्ति के द्वारा उसके कार्य देहादिबन्धनिवृत्ति मात्र करता है, अधिक कुछ नहीं। इसका निरूपण विस्तार से करने के लिये भगवान वार्तिककार संसारबन्धन की देह और आत्मा के अन्योन्याध्यासनिमित्तकता का प्रतिपादन करते हुये उसकी वास्तविकता के भ्रम को दूर करते हैं। विचार करने से यही प्रतीत होता है कि संसार बन्धन यदि ज्ञान से निवृत्त होगा तो ही प्रमाणजन्य होगा और ज्ञाननिवर्त्य तभी होगा जब अध्यस्त होगा। अतः संसार बन्धन की निवृत्ति तभी होगी जब अध्यास की सिद्धि हो। (द्र० अद्वैतसिद्धिः) इसीलिये आचार्य भगवान शंकर सर्व प्रथम ब्रह्मसूत्र में भूमिका व्याज से अध्यास की

सिद्धि करते हैं। यहाँ से प्रारंभ करके एवं विशेषतया अगले उल्लास में वार्तिककार इसी का विस्तार करते हैं—

जडानृतपरिच्छिन्नदेहधर्माश्चिदात्मनि ।
सत्यज्ञानसुखात्मत्वं मोहाद्देहेपि कल्प्यते ।।२१।।
शुक्तौ रजतमित्येवं यथा व्यामुह्यतेन्यथा ।
सदेव रूप्यञ्चेद्भाति विलयस्ते न सिध्यति ।।२२।।

(पदच्छेदः)

जडानृतपरिच्छिन्नदेहधर्माः चिदात्मनि ।
सत्यज्ञानसुखात्मत्वम् मोहात् देहे अपि कल्प्यते ।।२१।।
शुक्तौ रजतम् इति एवम् यथा व्यामुह्यते अन्यथा ।
सत् एव रूप्यम् चेत् भाति विलयः ते न सिद्ध्यति ।।२२।।

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	कल्प्यते	=कल्पित की जाती है।
मोहात्	=अज्ञान से	अन्यथा	=ऐसा[1] न मानने से
शुक्तौ	=सींप मे[1]	रूप्यम्	=चांदी
रजतम्	=चाँदी	सत्	=सच्ची[4]
इति	=ऐसा	एव	=ही
व्यामुह्यते[2]	=व्यामोह या भ्रम हो जाता है	भाति	=भान होती है
एवम्	=इसी प्रकार	चेत्	=यदि कहोगे तो
चिदात्मनि	=चिदात्मा में	ते	=तुम्हारे मत में
जडानृतपरिच्छिन्नदेहधर्माः	=जड़, असत्, सान्त आदि देह धर्म	विलयः	=(चांदी का) समूलनाश या बाध
अपि	=एवम्		
देहे	=देह में		
सत्य-ज्ञान-सुखात्मत्वम्	=सत्य, ज्ञान, सुख रूपता	न	=नहीं
		सिद्ध्यति	=सिद्ध होगा।

व्याख्या

१. सींप रूपी अरजत में 'यह रजत है' इस प्रकार से और 'रजत जो यह नहीं है' में 'यह रजत है' इस प्रकार से अन्योन्याध्यास समझना चाहिये।

२. वस्तुगत्या शुक्त्यादावरजते रजतमिदमिति। अन्यथा अनिदमि रजते इदं रजतमिति च। एवं परस्पराध्यासरूपं व्यामोहं प्राप्नोति लोकः।

३. शुक्ति में भासमान रजत की अनिर्वचनीयता का उपपादन करके उसकी मायामयता साधते हैं।

४. 'नाभावो विद्यते सतः' (गी० २·१६) इस प्रकार के भगवद्वचन से।

—२३—

सत्त्व के निषेध से शुक्तिरजत को असत्त्व की प्राप्ति होने पर अनिर्वचनीयता की सिद्धि के लिये उसका भी निषेध करते हैं :—

नात्यन्तासत्प्रकाशेत नरशृङ्गादिवत्क्वचित्।
कान्ताकरादौ रजतमिति स्यात्स्मरणम्भ्रमे ॥२३॥

(पदच्छेदः)

न अत्यन्तासत् प्रकाशेत नरशृङ्गादिवत् क्वचित्।
कान्ताकरादौ रजतम् इति स्यात् स्मरणम् भ्रमे ॥२३॥

(सान्वयार्थः)

नरशृङ्गादिवत्	=मनुष्य के सींग कीतरह
अत्यन्तासत्	=अत्यन्त असत्[1] पदार्थ
क्वचित्	=कहीं भी
न	=नहीं
प्रकाशत	=अनुभव होता[2]।
भ्रमे	=भ्रम में[3]
स्मरणम्	=स्मृति[4] (यदि मानो तो)
कान्ताकरादौ	=स्त्री के हाथ आदि में
रजतम्	=चांदी
इति	=इस प्रकार से
स्यात्	=(भान)[5] होता

व्याख्या

१. अत्यन्त असत् पदार्थ वही होता है जिसकी किसी देश काल में प्रतीति न हो। अतः शुक्ति में दृष्ट रजत असत् नहीं माना जा सकता। यह जवाब शून्यवादी और वैष्णव दोनों के विरुद्ध है। शून्यवाद का असद्वाद वेदान्ती को इष्ट नहीं। और वैष्णवों का आरोप कि वेदान्ती असद्वादी है भी अनुचित है।

२. सत् और असत् दोनों पक्षों को एक एक करके निराकरण करने से समुच्चयपक्ष तो स्वयं निराकृत है। उपजीव्य के निषेध से उपजीवक का निषेध तो स्वतः सिद्ध हो ही जाता है।

३. प्राभाकर मत में भ्रान्ति होती ही नहीं है। एक के साथ विषयेन्द्रिय संयोग काल में दूसरे विषय का ज्ञान स्मृति कही जाती है, अनुभूति नहीं। अतः भ्रम कहाँ सिद्ध होगा? शुक्ति के साथ चक्षुरिन्द्रिय संयोग काल में रजतस्मृति होती है, रजतानुभूति नहीं।

४. स्मरणाकार से भ्रम में विपरीतता होने से भ्रम सिद्ध भी होता है और भ्रम को स्मृति से भिन्न भी स्वीकार करना पड़ता है। यदि पूर्वदृष्ट ही प्रतीत होता तो जहाँ दृष्ट था उस आश्रय की स्मृति भी साथ ही होती। पर ऐसा नहीं होता। स्त्री के हाथ में देखे गये रजत का भान शुक्ति में स्त्री के हाथ से रहित ही होता है। यदि दोष के कारण तत्ता का प्रमोष मानें तो भी तत्ता के प्रमोष से स्मृतित्व का ही निश्चय न हो सकेगा। अनिश्चित स्मृति की अपेक्षा तो जैसी प्रतीति हो वैसी ही अनुभूति उपपन्न हो जायगी। अतः अख्यातिवाद अप्रामाणिक ही सिद्ध होता है।

५. प्रतीति होती है अनुभव की परन्तु स्वीकार करें उसको स्मृति यह विरोध सुस्पष्ट है। वस्तुतः स्मृति में पदार्थ का स्फुरण ही नहीं होता और भूत कालविशिष्ट प्रतीति होती है। भ्रम में इससे विपरीतता होने से दोनों को एक मानना केवल प्रौढिवाद है।

—२४—

अख्यातिवाद का निराकरण करके अन्यथाख्यातिवाद का निराकरण करते हैं:—

तेनेदम् तुल्यमित्येवं स्यात्साद्दश्यात्तु विभ्रमः ।
पीतश्शङ्खो गुडस्तिक्त इत्यादौ नास्ति तुल्यता ।।२४।।

(पदच्छेद:)

तेन इदम् तुल्यम् इति एवम् स्यात् सादृश्यात् तु विभ्रम:* ।
पीतः शङ्खः गुडः तिक्तः इति आदौ न अस्ति तुल्यता ।।२४।।

(सान्वयार्थ:)

सादृश्यात्	=समानता[1] से
विभ्रम:	=भ्रान्ति हो
तु	=तो
इदम्	=यह
तेन	=इसके
तुल्यम्	=समान[2] है
इति	=इस प्रकार प्रतीत
स्यात्	=होता
एवम्	=और
पीत:	=पीला[3]
शङ्खः	=शंख,
तिक्त:	=तीता
गुड:	=गुड़
इति	=इस प्रकार के
आदौ	=और अनुभवों में (तो)
तुल्यता	=समानता (ही)
न	=नहीं
अस्ति	=है ।

व्याख्या

१. भ्रमस्थल में भ्रम के विषय को स्मर्यमाणता न होने पर भी मायामयत्व की सिद्धि संभव नहीं है । पूर्व दृष्ट की समानता के दर्शन से उसके संस्कार का उद्बोधन हो जाता है । पुरोवर्ती में स्मृत का आरोप होने पर प्रतीति भी संभव है । जैसे शुक्ति दर्शन से कान्ताकरस्थ रजत-संस्कार का उद्बोधन होकर स्मृतरजत का शुक्ति में आरोप 'रजतमिदम्' इस प्रकार की अनुभूति का कारण हो जायगा । इस प्रकार अन्यथाख्यातिवाद में सादृश्य से विभ्रम है ।

२. यदि सादृश्य से विभ्रम हो तो 'उस रजत से इस सामने वाले की समानता है' या 'यह उसके समान है' इस प्रकार भ्रम का उल्लेख होता। पर होता है 'यह रजत है' इस प्रकार से। अतः अनुभव का विरोध अन्यथा ख्याति का भी निवर्तक है।

३. सादृश्य से भ्रम मानने पर क्या सादृश्य व्याप्य है या व्यापक है? दूसरे शब्दों में जहाँ जहाँ भ्रम है वहाँ वहाँ सादृश्य है या जहाँ जहाँ सादृश्य है वहाँ वहाँ भ्रम है? व्यापक मानने से पीतः शंखः में व्यभिचार है। यहाँ सादृश्य है नहीं, पर भ्रम है। श्वेत और पीत में समानता तो अनुभव विरुद्ध है अन्यथा शुक्ति में सुवर्ण की भ्रान्ति भी संभव थी। इसी प्रकार पित्तरोगी को गुडगत तिक्तता अनुभव में आती है। मधुर से तिक्त का कोई सादृश्य नहीं है। व्याप्य मानोगे तो एक शुक्तिका का शुक्तिकान्तर से सादृश्य होने पर भी उसके भ्रम की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। अतः अन्यथा ख्याति संभव नहीं।

*श्यार्द्यादि विभ्रमः इति पाठभेदः।

—२५—

अन्यथा ख्याति को पुनरुज्जीवित करने के लिये कुछ वादी प्राचीन लक्षण को छोड़कर स्मर्यमाण रजत के अभेद से शुक्ति का ही रजत-रूपता से अनुभव है इस प्रकार का लक्षण करते हैं पर वह भी ठीक नहीं। उनके दोषों का प्रतिपादन करते हैं:—

तादात्म्येन स्फुरति चेद्रजतत्वेन शुक्तिका।
विभ्रमो निरधिष्ठानो बाधो निरवधिर्भवेत् ॥२५॥

(पदच्छेदः)

तादात्म्येन स्फुरति चेत् रजतत्वेन शुक्तिका।
विभ्रमः निरधिष्ठानः बाधः निरवधिः भवेत् ॥२५॥

(सान्वयार्थः)

शुक्तिका =सीप
रजतत्वेन =चाँदी रूप से

तादात्म्येन = { तादात्म्य[1] के द्वारा (एकत्व या तद्रूपता को प्राप्त हुई)

स्फुरति	=भान होती है	बाधः	=(और) बाध (निवृत्ति)
चेत्	=तो		
विभ्रमः	=भ्रम	निरवधिः	=बिना किसी शेष[1] के
निरधिष्ठानः	=बिना अधिष्ठान[2] के	भवेत्	=होगा।

व्याख्या

१. यदि सीप ज्ञान रूप से मानस चेतना में प्रविष्ट ही न हो तो केवल चांदी रूप से ही जो मानस चेतना में प्रविष्ट है, सीप का भान होगा। तब तो सारी मानस चेतना में केवल भ्रम ही रहा क्योंकि सम्पूर्ण चेतना वास्तविकता से भिन्न है। इस मत में भ्रम विना किसी सत्य आधार के संभव होगा और विवेक से शून्य में समाप्त होगा। यदि हमारे अनुभव का एक रूप भी सर्वतोभावेन सत्यता से स्वतंत्र होकर रहता है तो बाकी सारे अनुभव इसी प्रकार के नहीं इसमें क्या प्रमाण होगा? अतः अन्यथा-ख्याति वाद अन्ततः शून्यवाद में परिसमाप्त होगा।

२. यदि शुक्ति और रजत का तादात्म्य ही भ्रम का आलम्बन है तो दोनों का अध्यस्त होने से दोनों को मिथ्यात्व की प्राप्ति होगी और अन्य सत्य पदार्थ के अभाव में निरधिष्ठान या शून्यवाद सिद्ध होगा। निरधिष्ठान भ्रम देखा नहीं गया ऐसा अनुभवविरोध कहना भी ठीक नहीं क्योंकि मोतियाबिन्द वाले को बालों के गुच्छे शून्य में दिखाई देते हैं। इस प्रकार यदि शून्यवादी का अनुयायी बीच में बोले तो यह सर्वथा अनुचित है। यहाँ भी अधिष्ठान महर्षि वसिष्ठ ने बताया है 'तिमिरान्धकदृष्टीनां यथा केशोण्ड्रकादि खे। स्फुरत्येवं जगद्रूपमनात्मन्येव तिष्ठति।।' दृश्यमान आलोकादि के बिना इन भ्रमों का न होना ही उनको अधिष्ठान रूप से सिद्ध कर रहा है। अतः कोई भी दृष्टान्त शून्यवादी को नहीं मिलेगा। शून्यवाद में दोष दिखाने से अर्थतः असत्ख्याति भी इससे निराकृत समझनी चाहिये।

३. बाध का स्वरूप ही अधिष्ठान में अध्यस्त का त्रैकालिक अत्यन्ताभावनिश्चय है जो अधिष्ठान ज्ञान के बिना संभव नहीं। अधिष्ठान ही नहीं तो उसका ज्ञान सर्वथा नहीं हो सकता। अतः भ्रमनिवृत्ति

असंभव हो जायगी । 'नायं सर्पः किन्तु रज्जुः' इस प्रकार भ्रमनिवृत्ति का रूप है । भ्रम का निषेध करने पर तुरन्त प्रश्न होता है 'फिर यह क्या है?' और उसके स्वरूपनिर्देश पर ही भ्रम का निश्चय होता है ।

—२६—

अब आत्मख्यातिवाद का निराकरण करते हैं :—

बुद्धिस्थितं चेद्रजतं बाह्यत्वेन प्रतीयते ।
गुञ्जादौ ज्वलनारोपे देहदाहः प्रसज्यते ॥२६॥

(पदच्छेदः)

बुद्धिस्थितम् चेत् रजतम् बाह्यत्वेन प्रतीयते ।
गुन्जादौ ज्वलनारोपे देहदाहः प्रसज्यते ॥२६॥

(सान्वयार्थः)

बुद्धिस्थितम्	=बुद्धि में स्थित[1]	गुन्जादौ	=गुंजा आदि में
रजतम्	=चांदी	ज्वलनारोपे	=जलने का आरोप[2] होने पर
बाह्यत्वेन	=बाह्यरूप से	देहदाहः	=शरीर का जलना
प्रतीयते	=प्रतीत होती है	प्रसज्यते	=प्राप्त हो जायगा ।
चेत्	=ऐसा माने तो		

व्याख्या

१. पदार्थ के अनुभवानन्तर पदार्थ को अव्यक्त रूप से बुद्धि में स्थित स्वीकार करना ही पड़ता है । अतः वही अव्यक्त बाहिर व्यक्त हो जाता है । अतः शुक्तिरजत भी सत्य ही है । बुद्धि में अव्यक्त भाव से स्थित का बुद्धि से बाहिर व्यक्त हो जाना ही भ्रम रूप है । असत्य पदार्थ की प्रतीति नहीं होती । यह वादि पक्ष है ।

२. यदि वादी की मान्यता ठीक होती तो गुंज़ा के लाल फूलों में दिखने वाली ज्वाला भी बुद्धिस्थ सत्य होने से बाह्य रूप से अभिव्यक्त होकर शरीर को जलाने में भी समर्थ होती । जैसे रूप बाहिर प्रकट होता है वसे दाह नहीं हो सकता यह मानना तो ठीक नहीं । पर अनुभवविरोध होने से यह मान्यता भी ठीक नहीं ।

—२७—

अतः सारी ख्यातियों की निराकृति ही अनिर्वचनीयख्याति में प्रमाण है :—

युक्तिहीनप्रकाशत्वाद् भ्रान्तेर्नह्यस्ति लक्षणम् ।
यदि स्याल्लक्षणं किंचिद् भ्रान्तिरेव न सिध्यति ॥२७॥

(पदच्छेदः)

युक्तिहीन-प्रकाशत्वात् भ्रान्तेः न हि अस्ति लक्षणम् ।
यदि स्यात् लक्षणम् किंचित् भ्रान्तिः एव न सिद्धयति ॥२७॥

(सान्वयार्थः)

युक्तिहीन-प्रकाशत्वात्	= विचार से रहित प्रतीति रूप[1] होने से	किञ्चित्	= कुछ भी[3]
भ्रान्तेः	= भ्रम का	लक्षणम्	= लक्षण
लक्षणम्	= लक्षण[2]	स्यात्	= हो तो
न	= नहीं	भ्रान्तिः	= भ्रम
अस्ति	= होता है ।	एव	= ही
हि	= क्योंकि	न	= नहीं
यदि	= अगर	सिद्धयति	= सिद्ध होता है ।

व्याख्या

१. जब तक विचार न किया जाय तब तक प्रतीत हो और विचार करने पर सिद्ध न हो वह भ्रम है ऐसी वैदिक सिद्धान्त की मान्यता है। अविचारित प्रतीति भ्रमरूप सिद्ध होती है क्योंकि विचारित सारे लक्षण भ्रम में घटते नहीं। यहाँ प्रमाण और युक्ति पूछना व्यर्थ है क्योंकि युक्ति शून्य में युक्ति नहीं हो सकती। यहाँ घट नहीं है कहने वाले को कुछ नहीं दिखाना पड़ता। पर यदि कोई घट दिखा दे तो उसका पक्ष निराकृत हो जाता है। इसी प्रकार किसी वादी के द्वारा भ्रम युक्ति सिद्ध हो जाय तो अनिर्वचनीय ख्याति निवृत्त हो जाती है। जब तक वादी का पक्ष सिद्ध नहीं होता तब तक सिद्धान्ती स्वतः सिद्ध है।

२. लक्षण से वस्तु सिद्ध होती है। जिससे वस्तु का 'यह ऐसी ही है' इस प्रकार का निर्णय हो जाय वह लक्षण है। इस प्रकार का अनिर्णय ही भ्रम है अतः उसका लक्षण ही नहीं।

३. भ्रान्ति न सद्रूप है, न अत्यन्त असद्रूप है क्योंकि बाध सत् का नहीं होता और प्रतीति असत् की नहीं होती और उभयरूपता असंभव है तो यह क्या अलौकिक पदार्थ है? बुद्धि में अनारूढ़ ही रजत का शुक्तिस्थल में कैसे भान है? इस प्रकार की शङ्काएँ व्यर्थ हैं। क्योंकि किसी भी प्रकार से निरूपित होने पर प्रामाणिक होने से भ्रम ज्ञान से अपनोद्य न रह सकेगा। ज्ञान से अपनोद्य ही भ्रम कहा जाता है और रजत निवृत्ति शुक्ति ज्ञान से सर्वलोक प्रसिद्ध है अतः यही वास्तविकता सिद्ध होती है।

—२८—

भ्रान्ति के रूप की मायामयता का निरूपण करके भगवान वार्तिककार समग्र विश्व की भ्रान्तिरूपता का प्रतिपादन करते हैं :—

जलचन्द्रवदेकस्मिन् निर्भये रज्जुसर्पवत्।
प्रतीयते यथा स्वर्णे कारणे कटकादिवत् ॥२८॥

(पदच्छेदः)

जलचन्द्रवत् एकस्मिन् निर्भये रज्जुसर्पवत्।
प्रतीयते यथा स्वर्णे कारणे कटकादिवत् ॥२८॥

(सान्वयार्थः)

जलचन्द्रवत्	= जल में चन्द्र के समान[1],	यथा	= जैसे
रज्जुसर्पवत्	= रस्सी में साँप की तरह[2],	एकस्मिन्	= एक[4]
स्वर्णे	= सोने में	निर्भये	= निर्भय[5]
कटकादिवत्[7]	= असत्य कड़े के[3]	कारणे	= कारण में[6]
		प्रतीयते	= प्रतीत होता है।

व्याख्या

१. एक ही होते हुये चन्द्रमा में जलरूपी उपाधि के भेद से अनेकता प्रतीत होती है। उसी प्रकार अखण्ड एकरस ब्रह्म में अन्तःकरण उपाधियों

के भेद से अनेकता प्रतीत होती है। उपाधि के चंचलत्व मलिनत्व आदि धर्मों का अध्यास भी यहाँ उक्त है।

२. भयरहित रस्सी में भयावने सर्प की तरह निर्भय महेश्वर में भयावना जगत् प्रतीत होता है।

३. कारण स्वर्ण की ही कार्य कटक की तरह प्रतीति है उसी प्रकार कारण ईश्वर ही कार्य जगदाकार से प्रतीत होता है।

४. 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि श्रौत प्रमाण और युक्तियों से सदाशिव की एकता सिद्ध है।

५. भय सर्वदा अन्य से होता है। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' यह श्रुति भी इसी का प्रतिपादन करती है। भगवान गौडपादाचार्य 'अभये भयदर्शिनः' कहकर इसी तत्व का निदर्शन करते हैं।

६. सभी श्रुति और स्मृति 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र. सू. १.१.२) के न्याय से एकमात्र महेश्वर को ही जगत्कारणत्वेन प्रतिपादन करती हैं। अन्याभाव से महेश्वर ही सर्वाकार है।

७. कटकादिवदिति स्वार्थे कवति प्रत्ययः कटकासत्यत्वार्थः। स्वार्थिको वति प्रत्यय इति वा।

—२९—

उपात्ते रूप्यवच्छुक्तौ व्याप्ते यक्षपुरीव खे।
रश्म्यम्बुवत्स्फुरद्रूपे स्थाणौ चोरवदक्रिये ॥२९॥

(पदच्छेदः)

उपात्ते रूप्यवत् शुक्तौ व्याप्ते यक्षपुरी इव खे।
रश्म्यम्बुवत् स्फुरत् रूपे स्थाणौ चोरवत् अक्रिये ॥२९॥

(सान्वयार्थः)

उपात्ते	=गृहीत[1]	व्याप्ते	=व्यापक[2]
शुक्तौ	=सीप में	खे	=आकाश में
रूप्यवत्	=चाँदी की तरह;	यक्षपुरी	=गन्धर्वनगर

इव	=की तरह;	अक्रिये	=क्रियारहित
स्फुरत्	=स्फुरती हुई	स्थाणौ	=ठूंठ में
रूपे	=रोशनी में	चोरवत्	=चोर की तरह
रश्म्यम्बुवत्	=मृगी के जल की तरह;		

व्याख्या

१. उपात्त अर्थात् जिसका ग्रहण कर लिया गया हो अथवा जिसका ज्ञान हो गया हो क्योंकि इन्द्रियों से ग्रहण होना ही ज्ञान होना है । सिद्ध पदार्थ का ही ग्रहण या ज्ञान संभव है अतः सिद्ध पदार्थ में ही यहाँ तात्पर्य समझना चाहिये । जैसे सिद्ध अर्थात् सद्रूप शुक्ति में रजत भ्रान्ति है, वैसे ही चिदात्मा में असत्कल्प विश्व है ।

२. व्याप्त अर्थात् अपरिच्छिन्न आकाश में परिच्छिन्न गन्धर्वनगर की तरह अपरिच्छिन्न महेश्वर में परिच्छिन्न विश्व है ।

३. सूर्य रश्मियाँ प्रकाशरूप हैं पर उनमें कल्पित जल अप्रकाशरूप है । उसी प्रकार सदाशिव ज्ञानस्वरूप है पर विश्व अचेतन रूप है ।

४. व्यापाररहित में व्यापारवत्ता की कल्पना का दृष्टान्त है; क्योंकि परमनिष्क्रिय ईश्वर में सर्वक्रियाधिष्ठाता की कल्पना है ।

—३०—३१—

असत्कल्पमिदं विश्वमात्मन्यारोप्यते भ्रमात् ।
स्वयं प्रकाशं सद्रूपं भ्रान्तिबाधविवर्जितम् ॥३०॥
प्रत्यभिज्ञायते वस्तु प्राग्वन्मोहे व्यपोहिते ।
देहाद्युपाधौ निर्धूते स्यादात्मैव महेश्वरः ॥३१॥

(पदच्छेदः)

असत्कल्पम् इदम् विश्वम् आत्मनि आरोप्यते भ्रमात् ।
स्वयम् प्रकाशम् सद्रूपम् भ्रान्तिबाधविवर्जितम् ॥३०॥
प्रत्यभिज्ञायते वस्तु प्राग्वत् मोहे व्यपोहिते ।
देहाद्युपाधौ निर्धूते स्यात् आत्मा एव महेश्वरः ॥३१॥

(सान्वयार्थः)

इदम्	=यह	मोहे	=अविवेक
असत्कल्पम्	=असत् के जैसा[1]	व्यपोहिते	=हट जाने पर
विश्वम्	=जगत्	प्राग्वत्	=पहले[4] की तरह
भ्रमात्	=भ्रान्ति से	प्रत्यभिज्ञायते	=पहचान लिया जाता है।
आत्मनि	=आत्मा में		
आरोप्यते	=आरोपित[2] किया जाता है।	देहाद्युपाधौ	=शरीर आदि उपाधि के
स्वयम्	=खुद	निर्धूते	=निवृत्त होने पर
प्रकाशम्	=प्रकाशरूप,	आत्मा	=आत्मा
सद्रूपम्	=सदात्मक,	एव	=ही
भ्रान्ति-बाध-विवर्जितम्	=भ्रान्ति और बाध से रहित,[3]	महेश्वरः	=परमेश्वर[5]
		स्यात्	=होता है।
वस्तु	=पदार्थ		

व्याख्या

१. उपर्युक्त सारे दृष्टान्तों में कथित विरुद्ध धर्मों से आक्रान्त विश्व कल्पित है। श्रुति और युक्ति से निर्णीत विवर्तवाद का आश्रय लेकर अधिष्ठान से अत्यन्त भिन्न रूप होने पर भी दृश्य की भिन्न सत्ता नहीं है यह प्रतिपादन किया गया है। अधिष्ठान में भ्रान्तिसिद्ध ही जगत् है।

२. भ्रम अर्थात् मिथ्या ज्ञान से आरोपित अर्थात् व्यवहृत किया जाता है।

३. भ्रान्ति और बाध दोनों अनिर्वचनीय हैं। जो माया सारे संसार को कल्पित करती है वह अपने सम्बन्ध को भी कल्पित कर लेती है अतः माया ब्रह्म का सम्बन्ध भी मायिक है। अतः उस सम्बन्ध की निवृत्ति भी मायिक है। यद्यपि माया और विद्या जो भ्रान्ति और मोक्ष की कर्त्री हैं माहेश्वरी शक्ति हैं पर शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध

वेदान्त में अनिर्वचनीय ही माना गया है। भ्रान्तिबाधविवर्जितमनागमापायधर्मकमित्यर्थ:।

४. तत्त्वज्ञान से अज्ञान हट जाने पर अविवेक के पूर्व यथावस्थित स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा अर्थात् साक्षात्कार होता है। वस्तुतस्तु अविद्या के अनादि होने से प्राग्वत् कहना अटपटा लगता है परन्तु संकोच-विकास या आविर्भाव-तिरोधान जो सदाशिव की दृष्टि है, उस दृष्टि से ही यह कहा गया है। प्रत्यभिज्ञा शब्द की सार्थकता भी इसी में है। यह वेदान्त की एक अपूर्व दृष्टि है जो प्राय: परकालीन वेदान्त में दुर्लभ है। ईश्वराद्वयवाद में इसका विमर्श आदि विस्तार किया गया है। माया का हल इसी में सन्निहित है।

५. कारण अविद्या के बाध से कार्यबाध होता है। दोनों के बाध होने पर आत्मा के महेश्वर रूप से भान होने का प्रतिबन्धक ही नहीं रहने से आत्मा का ही परमेश्वरत्वेन भान होता है। यद्यपि देहादि उपाधि कहने से जीवन्मुक्ति पक्ष नहीं बनता पर यहाँ देहादि दृष्टि समझना चाहिये, स्वरूपनिवृत्ति नहीं। आभासवाद में कार्योपाधि ही जीव है और कार्य की अभिव्यक्ति की कारण से अभिन्न रूप से कल्पना है। अत: प्राय: इस ग्रन्थ में जीव का निर्देश कार्योपाधि से ही किया जाता है।

—३२—

अब तक सिद्ध किये हुये सिद्धान्त में प्रमाणों का संग्रह बताते हैं:—

स्मृति: प्रत्यक्षमैतिह्यमित्यादीन्यपराण्यपि।
प्रमाणान्याप्तवागाह प्रत्यभिज्ञाप्रसिद्धये ॥३२॥

(पदच्छेद:)

स्मृति: प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् इति आदीनि अपराणि अपि।
प्रमाणानि आप्तवाक् आह प्रत्यभिज्ञाप्रसिद्धये ॥३२॥

(सान्वयार्थ:)

आप्तवाक्	=वेदने[1]	स्मृति:	=स्मृति,
प्रत्यभिज्ञा-प्रसिद्धये	=प्रत्यभिज्ञा की प्रसिद्धि के लिये	प्रत्यक्षम्	=प्रत्यक्ष,
		ऐतिह्यम्	=ऐतिह्य

इति	=इस प्रकार के	अपि	=भी
आदीनि	=और	प्रमाणानि	=प्रमाण
अपराणि[१]	=दूसरे	आह	=कहे[१] हैं ।

व्याख्या

१. 'आप्त जो वाणी' इस प्रकार के विग्रह से 'वेद' यह अर्थ संभव है। अथवा परम आप्त जो महेश्वर उस की जो वाणी वह भी वेद ही है। अथवा आप्त पुरुषों ने कहा है। अन्तिम पक्ष में प्रत्यक्ष से श्रुति और ऐतिह्य से पुराण का ग्रहण संभव है। प्रत्यक्ष का अर्थ श्रुति प्रायः सूत्रग्रन्थों में है। अथवा वेद के ही अंगविशेषों को स्मृति, प्रत्यक्ष और ऐतिह्य समझना चाहिये। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि प्रत्यक्ष हैं। 'यो देवानां मध्ये प्रत्यबुध्यत स तदभवत्' आदि स्मृति है। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' आदि ऐतिह्य है। 'वटधानादि' युक्तियाँ अनुमान है। अथवा 'क्षेत्रज्ञञ्चापि मां' (गी० १३.२) आदि स्मृतियाँ संग्राह्य हैं। ब्रह्माहमस्मि इत्यादि विद्वदनुभव प्रत्यक्ष है। गुरु के उपदेश वाक्य ऐतिह्य हैं।

२. जीवेश्वरौ, न तत्त्वतो भिन्नौ, एकस्वभावत्वे सति उपाधि-परामर्शमन्तरेणाविभाव्यमानभेदवत्त्वात्, आकाशवत् इत्यादि अनुमान एवं स्मृत्यन्यथानुपपत्ति आदि अर्थापत्ति प्रमाण भी यहाँ समझने चाहिये :

३ 'स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम् ।' (तै० आ० १.२) में वेद ने कहा है।

—३३—

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके ।
प्रबन्धे मानसोल्लासे सप्तमोल्लाससंग्रहः ॥३३॥

इस प्रकार श्री दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लासनामक प्रबन्धका सप्तमोल्लास संक्षेप से समाप्त हुआ।

अथाष्टमोल्लास संग्रहः

प्रधानविषय के प्रतिपादन के पश्चात् अष्टमश्लोक में समग्र शास्त्रार्थ का तात्त्विक उपसंहार करके फिर साधन और फल का विवेचन करेंगे। उसकी उत्थापना करते हैं :—

प्रकाशव्यतिरेकेण पदार्थः कोपि नास्तिचेत्।
परमार्थोपदशान्तो व्यवहारः कथं भवेत् ॥१॥

(पदच्छेदः)

प्रकाशव्यतिरेकेण पदार्थः कः अपि न अस्ति चेत्।
परमार्थोपदेशान्तः व्यवहारः कथम् भवेत् ॥१॥

(सान्वयार्थः)

प्रकाशव्यतिरेकेण	=प्रकाश रूप से भिन्न	चेत्	=तो
कः	=कोई	परमार्थोपदेशान्तः	=तत्त्व ज्ञान की शिक्षा पर्यन्त
अपि	=भी	व्यवहारः	=व्यवहार
पदार्थः	=वस्तु	कथम्	=किस प्रकार[1]
न	=नहीं	भवेत्	=होता है ?
अस्ति	=है		

व्याख्या

१. कालत्रय में भी चैतन्य से भिन्न वास्तविक पदार्थ तो है ही नहीं। जब भूतभौतिक रूप प्रपंच ही नहीं तो गुरु से तत्त्वज्ञान ग्रहण के पहले का संसाररूप व्यवहार किस आश्रय से होगा ? यह संसार व्यवहारविपयक प्रश्न है। माहेश्वरदीक्षा के पूर्व सारे अनुभव कैसे सिद्ध होते हैं ?

—२-३—

जीवविषयक प्रश्न पूछते हैं :—

कस्य बन्धश्च मोक्षश्च बध्यते केन हेतुना ।
मायाया लक्षणं किं स्यात् इत्येवं परिपृच्छतः ॥२॥
प्रश्नस्स्यादुत्तरं वक्तुं प्रतिपत्तुं सुखेन च ।
उक्तोर्थस्सप्तभिश्लोकैः पुनस्संक्षिप्य कथ्यते ॥३॥

(पदच्छेदः)

कस्य बन्धः च मोक्षः च बध्यते केन हेतुना ।
मायायाः लक्षणम् किम् स्यात् इति एवम् परिपृच्छतः ॥२॥
प्रश्नः स्यात् उत्तरम् वक्तुम् प्रतिपत्तुम् सुखेन च ।
उक्तः अर्थः सप्तभिः श्लोकैः पुनः संक्षिप्य कथ्यते ॥३॥

(सान्वयार्थः)

कस्य	=किस[1] का	प्रश्नः	=सवाल[4]
बन्धः	=बन्धन	स्यात्[5]	=हो सकते हैं।
च	=और	उत्तरम्	=जवाब[6]
मोक्षः	=मोक्ष है ?	वक्तुम्	=देने के लिये
च	=और	च	=और
केन	=किस	सुखेन	=आसानी से[7]
हेतुना	=कारण[2] से	प्रतिपत्तुम्	=समझाने के लिये
बध्यते	=बन्धन में पड़ता है ?	सप्तभिः	=सात
मायायाः	=माया[3] का	श्लोकैः	=श्लोकों से
लक्षणम्	=लक्षण (स्वरूप)	उक्तः	=बताये हुये
किम्	=क्या	अर्थः	=विषय को
स्यात्	=है ?	संक्षिप्य	=संक्षेप कर के
इति एवम्	=इस प्रकार से	पुनः	=फिर से
परिपृच्छतः	=पूछने वाले के	कथ्यते	=कहा जाता[8] है।

व्याख्या

१. बन्धन और मोक्ष का विषय भी एकात्मवाद में दुर्घट है। एक का बन्धन मानो तो किससे बन्धन? स्वयं तो अपना बन्धन होता नहीं और दूसरे का अभाव है। बन्ध ही सिद्ध नहीं तो बन्धन निवृत्तिरूप मोक्ष तो कथमपि संभव नहीं हो सकेगा। यह दोनों प्रश्न आश्रयविषयक हैं।

२. नित्यसच्चिदानन्द सदाशिव को ही अविद्या का आश्रय मानना पड़ता है क्योंकि अविद्या से जीव की उत्पत्ति होने से जीव, जो पर है, अविद्या, जो पूर्व है, का आश्रय नहीं हो सकता। अतएव 'आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' कहा गया है। प्रश्न होता है सदाशिव के जीव भाव प्राप्ति का क्या कारण है। सकारण मानने से द्वैत प्राप्ति और निष्कारण मानने से मुक्त का भी पुनः बन्धन बन जायगा। अतः यह भी दुर्घट है।

३. यदि मायामयता से इन सभी को बना लो तो उस माया का लक्षण बताना चाहिये।

४. इन प्रश्नों में सारे वेदान्त के मूलभूत प्रश्न सन्निहित हैं। इनको अच्छी प्रकार से समझने से और ज्ञातव्य शेष नहीं रहता।

५. सम्भावनायां लिङ्।

६. प्रश्नकर्ता वादी है अतः उसको उत्तर देकर उसके वाद को समाप्त करना एक प्रयोजन है। अतः यहाँ वाद प्रयोग होना स्वाभाविक है।

७. प्रश्नकर्ता को सारे जवाब मिल चुके हैं पुनः प्रवृत्ति निष्प्रयोजन मानो तो समास और व्यास से कथित पदार्थ हृदयंगम होता है अतः शिष्य को समझाने के लिये भी गुरु की प्रवृत्ति बन सकेगी। सारे विषय को विस्तार से समझ कर सर्वदा स्मरण रखने के लिये लोग संक्षेप (Digest) से खास विषयसूची का निर्माण करते देखे जाते हैं। इस अध्याय को भी ऐसा ही समझा जा सकता है।

८. 'भाष्यकार शंकरभगवत्पादाचार्यों के द्वारा' यह अवशिष्ट है।

—४—

अशेष शास्त्रार्थ के बाद उसी ग्रन्थ में पुनरुक्ति न कर अन्य ग्रन्थ में संक्षेप से वर्णन करने की प्रथा देखी गई है। अतः पुनरुक्ति दोष और प्रतिपादित विषय के पुनः कथन में निरर्थकता दोष भी प्राप्त होगा। इस का जवाब देते हैं:—

पौनरुक्त्यन्न दोषोत्र शब्देनार्थेन वा भवेत् ।
अभ्यासेन गरीयस्त्वमर्थस्य प्रतिपाद्यते ॥४॥

(पदच्छेदः)

पौनरुक्त्यम् न दोषः अत्र शब्देन अर्थेन वा भवेत् ।
अभ्यासेन गरीयस्त्वम् अर्थस्य प्रतिपाद्यते ॥४॥

(सान्वयार्थः)

अत्र	= इस (शास्त्र)[1] में	(अपितु	= बल्कि)
शब्देन	= शब्द[2] से	अभ्यासेन	= पुनरुक्ति से
वा	= या	अर्थस्य	= विषय (ब्रह्मात्मैक्य) की
अर्थेन	= अर्थ से	गरीयस्त्वम्	= गरिमा[3] का
पौनरुक्त्यम्	= बार बार कहना	प्रतिपाद्यते	= प्रतिपादन किया जाता है।
न दोषः	= दोष नहीं है।		

व्याख्या

१. वेदान्त शास्त्र में पुनरुक्ति दोष, जो साहित्यशास्त्र में वर्णित है, नहीं लगता। प्रत्येक शास्त्र के अपने नियम होते हैं। अन्य शास्त्रों के नियम लागू नहीं होते। अन्यथा दार्शनिक या धार्मिक सत्य, ब्रह्मचर्यादि के नियमों से साहित्य सौन्दर्य ही नष्ट हो जायगा।

२. पुनरुक्ति शब्द से भी होती है और अर्थ से भी होती है। एक ही शब्द का बार बार कथन या एक ही अर्थ का बार बार प्रतिपादन, दोनों ही दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त हैं।

३. प्रतिपाद्यविषय की अतिसूक्ष्मता एक बार में विषय को दुर्गम ही रखती है। अनेक बार सुनने पर भी 'श्रृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्युः' (क० २.७) ज्ञान कठिन है। अनुभव भी यही है कि सत्संग में कई बार सुनना पड़ता है।

गरीयस्त्वं श्रुतितात्पर्यगोचरत्वम्। इसका निरूपण भगवान भाष्यकार छान्दोग्य भाष्य में करते हैं।

विश्वम्पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः
शिष्याचार्यतथा तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामित--
स्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

(पदच्छेदः)

विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्व-स्वामि-संबन्धतः
शिष्य-आचार्यतया तथा एव पितृ-पुत्र-आदि-आत्मना भेदतः
स्वप्ने जाग्रति वा यः एष पुरुषः माया-परिभ्रामितः तस्मै०

(सान्वयार्थः)

माया-परिभ्रामितः	= माया से भ्रम में पड़ा हुआ
यः	= जो
एष	= (सब प्राणियों को अपरोक्षरूप से भान होने वाला) यह
पुरुषः	= परमेश्वर
कार्य-कारण-तया	= कार्य और कारण के (द्वैत) रूप से,
स्व-स्वामि-संबन्धतः	= मालिक और नौकर रूप से,
शिष्य-आचार्यतया	= गुरु और शिष्य रूप से
तथा	= एवं
पितृ-पुत्र-आदि-आत्मना	= पिता और पुत्रादि रूप से
भेदतः	= अनेक भेद रूप से
एव	= ही
विश्वं	= संसार को
स्वप्ने	= स्वप्न में
वा	= या
जाग्रति	= जाग्रत में
पश्यति	= देखता है
तस्मै०	= उस···भगवान को नमस्कार है

[सारे संबन्ध और संबन्धी अखण्ड परमात्मा में ही कल्पित हैं। वस्तुतः स्वप्न में बछड़ा, गाय और उनका जन्य-जनक संबंध सभी मनः कल्पित हैं। इसी प्रकार जाग्रत में भी समझना चाहिये। दृश्यत्व, सत्यत्वप्रतीति, कार्यनिर्वाहकत्वादि तो सर्वत्र समान है।]

अस्यायमभिसन्धिः :— इसका अन्तर्हृदय यह है :—

—५—

अखण्डानन्दचिदात्मा में, विद्या से जब तक अविद्या की निवृत्ति नहीं होती तब तक अविद्या, माया, अव्यक्त आदि नामों से प्रतिपादित अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान से विलसित प्रपंच की, आश्रयता का विरोध नहीं हो सकता इस का प्रतिपादन करते हैं :—

स्वयम्प्रकाशे सद्रूपेऽप्येकस्मिन् परमेश्वरे ।
कार्यकारणसम्बन्धाद्यनेकविधकल्पना ॥५॥

(पदच्छेदः)

स्वयम्प्रकाशे सद्रूपे अपि एकस्मिन् परमेश्वरे ।
कार्यकारणसम्बन्धाद्यनेकविधकल्पना ॥५॥

(सान्वयार्थः)

एकस्मिन्	=एक	कार्य-कारण-सम्बन्धाद्यनेक-विध-कल्पना	= कार्य, कारण, उनका सम्बन्ध आदि अनेक प्रकार की कल्पनाएँ (होती हैं)।
सद्रूपे	=सत्य		
स्वयम्प्रकाशे	=स्वयं ज्ञान स्वरूप		
परमेश्वरे	=परमेश्वर में		
अपि	=भी		

—६—

कल्पना के प्रकार दृष्टान्तों से बताते हैं :—

राहोश्शिरस्सुषिः खस्य ममात्मा प्रतिमावपुः ।
इत्यादि कल्पना तुल्या न पृथग्वस्तुगोचरा ॥६॥

(पदच्छेद:)

राहो: शिर: सुषि: खस्य मम आत्मा प्रतिमावपु: ।
इति आदि कल्पनातुल्या न पृथक् वस्तुगोचरा ।।६।।

(सान्वयार्थ:)

राहो:	=राहु का[1]	इति	=इस प्रकार की
शिर:	=सिर;	आदि	=और भी
खस्य	=आकाश[2] का	कल्पनातुल्या	=कल्पनाओं के तुल्य है।
सुषि:	=छेद;	पृथक्	=अलग[5]
मम	=मेरी[3]	वस्तुगोचरा	=पदार्थ विषयक
आत्मा	=आत्मा;	न	=नहीं है।
प्रतिमावपु:	=प्रतिमा[4] का शरीर		

व्याख्या

१. राहु उस राक्षस का सिर है जो अमृत पीने के समय काटा गया था। अतः सिर से अतिरिक्त राहु का कोई अंग है नहीं। अतः यहाँ अवयव को ही अवयवी से अभिन्न होते हुए भी भिन्न मानकर प्रयोग है।

२. आकाश ही अवकाश स्वरूप है। अवकाश से भिन्न आकाश का स्वरूप नहीं। यहाँ भी स्वरूप में ही भेद कल्पित कर सम्बन्धवाची पद का प्रयोग है।

३. मैं का वाच्य ही आत्मा है। अतः यहाँ वाच्य वाचक में, जो अभिन्न हैं, भेद कल्पित करके व्यवहार है।

४. प्रतिमा प्रस्तर का वपु है या प्रस्तर का वपु प्रतिमा है। वस्तुतः प्रतिमा का अर्थ होता है 'बराबरी का' या 'जैसा'। किसी के जैसा वपु है अतः जिसके जैसा है उसकी प्रतिमा कही जाती है। इन्द्र की प्रतिमा या राम की प्रतिमा प्रयुक्त होते हैं। अतः वपु के जैसी प्रतिमा अर्थात् प्रतिमा गुणद्योतक है और वपु पदार्थ को बताता है। अतः यहाँ गुणगुणी के अभिन्न होने पर भी भिन्न मानकर व्यवहार है।

५. एक होने पर भी अनेक प्रकार से व्यवहारास्पद बनने में ये सारे दृष्टान्त हैं। निरवयव होने पर भी परमेश्वर में त्रिपादी आदि का व्यवहार, ज्ञानस्वरूप या आनन्दस्वरूप होने पर भी महेश्वर का ज्ञान या शिव का आनन्द आदि व्यवहार, ऊँकार का ईश्वर से अभेद होने पर भी 'तस्य वाचकः प्रणवः' आदि सूत्र, शक्तिस्वरूप होने पर भी शक्तिमान् परमेश्वर या माहेश्वरी शक्ति एवं इसी प्रकार के सारे प्रयोग समझने चाहिये। यद्यपि सम्बन्धवाची षष्ठी का प्रयोग यहाँ अनुचित प्रतीत होता है पर यह व्याकरण का विषय है, दर्शनशास्त्र का नहीं। अतः भाषाप्रयोगों से केवल यह बताया जा रहा है कि इतने मात्र से द्वैत की सिद्धि नहीं। कार्यकारणादि रूप से प्रपञ्च भेद कल्पना है, तत्त्वतः पृथक् वस्तुविषयक नहीं।

—७—

भिन्न पदार्थ न होने पर भी व्यवहार का प्रकार सिद्ध करके उसका परमेश्वर में अतिदेश करते हैं :—

उपास्योपासकत्वेन गुरुशिष्यक्रमेण च।
स्वामिभृत्यादिरूपेण क्रीडति स्वेच्छयेश्वरः ॥७॥

(पदच्छेदः)

उपास्योपासकत्वेन गुरुशिष्यक्रमेण च।
स्वामिभृत्यादिरूपेण क्रीडति स्वेच्छया ईश्वरः ॥७॥

(सान्वयार्थः)

ईश्वरः	= सदाशिव[1]	स्वामिभृत्यादि-रूपेण	= मालिक और नौकर बनकर[4]
स्वेच्छया	= अपनी इच्छा[2] से	च	= और
उपास्योपासक-त्वेन	= उपासना का आश्रय और विषय रूप धारण करके[3]	गुरु-शिष्य-क्रमेण	= गुरु शिष्य क्रम से[5]
		क्रीडति	= खेलता[6] है।

व्याख्या

१. परमेश्वर में कार्यकारण भाव भी कल्पित है। परमेश्वर जगत् का कारण है कहने से परमेश्वर और जगत् में द्वैत प्रतीत हो रहा है। अतः इस द्वैत का निराकरण करके अद्वैत स्थापन करते हैं। परमेश्वर ही एक मात्र वस्तु है। श्रुति 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' (श्वे० ६.८) आदि से यही निर्देश करती है। इससे प्रथम प्रश्न का उत्तर समझना चाहिये।

२. बन्धन का कारण स्वेच्छा यहाँ बताकर तृतीय प्रश्न का उत्तर दे दिया। 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' (ब्र० सू० २.२.३३) में यही प्रतिपादन किया है। स्वेच्छावाद ही उच्च वेदान्त या ईश्वराद्वयवाद का प्राण है। अनादि कहने से जो त्रुटि रहती है वह इससे दूर होती है। 'देवस्यैष स्वभावः' कह कर भगवान गौडपाद भी स्वेच्छावाद ही मानते हैं। पर रागद्वेषकलुषितान्तः करण में यह विषय ग्राह्य नहीं होता अतः अनादि कथन से सन्देह निवारण मात्र है। इच्छा में क्यों का प्रश्न अनुचित होता है।

३. द्वितीय प्रश्न का उत्तर यहाँ दे दिया। परमेश्वर का ही बन्ध और मोक्ष है। 'ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च' ही सिद्धान्त है ! वही उपासना करता है और उसी की उपासना होती है। जैसे हम स्वयं अपने हाथों से हाथों की ही मालिश करते हैं।

उपास्य उपासक भेद भी तो गुणों के तारतम्य से है। अल्पगुण वाला अपने से बड़े गुणवालों की उपासना करेगा और वह पुनः अपने से बड़े की। अतः जो एक का उपास्य है वही दूसरे का उपासक है। जैसे मानव देवों की उपासना करते हैं, पर देव इन्द्रादि के उपासक हैं, वे प्रजापति के और प्रजापति विष्णु के। इस प्रकार क्रम है। यदि उपासक उपास्य भाव नित्य होता तो जो उपासक होता वह किसी का भी उपास्य न बनता। कालभेद से भी आज का उपासक अभेदानुसन्धान से अपने इष्ट से तादात्म्य प्राप्त कर कल उपास्यरूप बन जाता है। स्वयं अपने

में गुणतारतम्य से कभी उपास्यभाव है कभी उपासक भाव। पुराणों में विष्णु, रुद्र के इस प्रकार के भावों को देख जनसाधारण भ्रान्त हो जाते हैं। पर गुण व्यतिक्रम से विष्णु और ब्रह्मा तक में व्यवहार व्यतिक्रम होता है। वे परमेश्वर की अभिव्यक्ति के प्रधान आश्रय होने से सर्वदा स्वरूप से अभिज्ञ रहकर गुणाधीश्वर ही बने रहते हैं यह निर्विवाद है पर गुण के अनुरूप व्यवहार तो वहाँ भी है। विपश्चित् वृन्द तो तप-काल में उपास्य ही फलदान में उपासक है ऐसा भी मानते हैं। अतः भेद के युक्तिसिद्ध न होने से वही परमेश्वर उपास्य और उपासक दोनों बन जाता है।

४. प्रथम दृष्टान्त मानस व्यवहार का था। यह दैहिक व्यवहार का है। यहाँ भी युक्तिसिद्धता नहीं है क्योंकि राजा का नौकर अपनी घरवाली का मालिक है। काल भेद से भी छोटा राजपुरुष कभी अपने प्रधान का भी प्रधान बन जाता है। जेल के कैदी जेलमंत्री बनते तो आधुनिक युग में सभी ने देखे हैं।

५. जो आज उपदेश ग्रहण करता है वही कल ग्रहण कराता है। प्रत्येक गुरु किसी का शिष्य अवश्य है। शास्त्रों में तो शिष्य को 'त्वं ततोसि गुरोर्गुरुः' तक कह दिया है। कभी कभी तो एक विषय का गुरु दूसरे विषय में अपने शिष्य का भी शिष्य बन जाता है। वह ईश्वर ही शिष्यरूप से अज्ञानी बनकर गुरुरूप से ज्ञानी है। उससे भिन्न नहीं। यह आध्यात्मिक व्यवहार है। अतः सिद्ध हुआ कि आधिदैविक, आधि-भौतिक और आध्यात्मिक तीनों व्यवहारों में केवल महेश्वर ही सब रूप धारण करता है।

६. शिष्य, उपास्य, भृत्य रूप से फिर वह दुःखी भी होता होगा ऐसी शंका न हो क्योंकि प्रतिबिम्ब के सुखदुःखादि धर्म हैं बिम्ब के नहीं। अन्तःकरण रूपी उपाधि के धर्म बिम्ब को स्पर्श नहीं कर सकते। इससे आधुनिकों की शंका कि ईश्वर सर्वरूप हो तो दुःखरूप संसार में सर्वाधिक दुःखी वही होगा भी निरस्त होगई। खेल में खेलने वाला तो आनन्दो-ल्लासार्थ प्रवृत्त होता है।

—८—

अनियतता और सापेक्षता से भी भेद युक्तिसिद्ध नहीं है :—

पितरं प्रति पुत्रो यः पुत्रं प्रति पितैव सः ।
एक एव हि नानेव कल्प्यते शब्दमात्रतः ॥८॥

(पदच्छेदः)

पितरम् प्रति पुत्रः यः पुत्रम् प्रति पिता एव सः ।
एक एव हि नाना इव कल्प्यते शब्दमात्रतः ॥८॥

(सान्वयार्थः)

यः	=जो	हि	=क्योंकि
पितरम्	=पिता	एक	=एक[1]
प्रति	=के लिये	एव	=ही
पुत्रः	=पुत्र है,	शब्दमात्रतः	=केवल शब्दों के कारण[2]
सः	=वह		
एव	=ही	नाना	=अनेक
पुत्रम्	=पुत्र	इव	=तरह[3] से
प्रति	=के लिये	कल्प्यते	=सोचा जाता है ।
पिता	=पिता है ।		

व्याख्या

१. एक ही व्यक्ति का एक ही काल में अखण्ड होते हुये भी दो विरुद्ध धर्मों से आक्रान्त होना दोनों धर्मों को कल्पित सिद्ध करता है क्योंकि सचमुच तो ऐसा होना संभव नहीं। पितृदृष्टि या पुत्रदृष्टि से सापेक्षता है अन्यथा न पिता है न पुत्र है। अतः परमार्थरूप से तो दोनों ही नहीं। इसी प्रकार भृत्यस्वामित्व आदि भी विरुद्ध धर्म होने से परमेश्वर में सापेक्ष हैं। वस्तुतः तो वह अखण्ड शिव मात्र है।

२. वस्तुतस्तु पिता का जन्म पुत्र जन्म के साथ है। पुत्र जन्म के एक क्षण पहले तक उसमें पिता शब्द अनुपपन्न है। पिता के निधन के साथ ही पुत्र का (पुत्रत्व धर्म विशिष्ट व्यक्ति) भी निधन है। अतः ये सब शब्दमात्र से भेद हैं। हमारे यहाँ रिश्तेदारी के अधिक

शब्द होने से रिश्ते भी अधिक हैं। पाश्चात्यदेशों में शब्दों की कमी से रिश्तेदारी भी कम है। मामा, चाचा का व्यावहारिक भेद पश्चिम में नहीं है क्योंकि सभी एक ही रिश्ते के शब्द से द्योतित हैं। इसी प्रकार विद्वानों का पारिभाषिक और विचारों के सूक्ष्मभेदों के शाब्दिक भण्डार के विस्तार से उनकी कल्पना भी विस्तृत होती जाती है। मानवीय ज्ञान शब्दाधीन है। अतः शब्दों की अधिकता से ही कल्पना का विस्तार है। वास्तविक भेद होता तो सब की प्रतीति एक सी होती।

३. 'नानेव' से ही मृत्यु है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (क० ४·१०)। वस्तुतस्तु नानात्व का अत्यन्ताभाव है। सदाशिव ही एक तत्त्व है जो भिन्न दृष्टियों से भिन्न प्रतीत होता है।

—९—

उपसंहार करते हैं:—

तस्मात्प्रकाश एवास्ति परमार्थनिरूपणे।
भेदप्रतीतिर्मिथ्यैव मायया‍ऽऽत्मनि कल्पिता ॥९॥

(पदच्छेदः)

तस्मात् प्रकाशः एव अस्ति परमार्थनिरूपणे।
भेदप्रतीतिः मिथ्या एव मायया आत्मनि कल्पिता ॥९॥

(सान्वयार्थः)

तस्मात्	=इसलिये[1]	आत्मनि	=सदाशिव में
परमार्थ-निरूपणे	=परम सत्य का विचार करने से	मायया	=(उसीकी) माया शक्ति से
प्रकाशः	=सदाशिव	कल्पिता	=कल्पना की हुई
एव	=ही (एकमात्र)	मिथ्या	=झूठी[3]
अस्ति	=है[2];	एव	=ही है।
भेदप्रतीतिः	=भेद की अनुभूति		

व्याख्या

१. जो सापेक्ष होता है वह मायामय होता है। जैसे रज्जु में सर्प, दण्ड, धारा, माला, भूच्छिद्र, वलीवर्दमूत्र आदि द्रष्टा सापेक्ष होने से मिथ्या

हैं, या स्वप्नानुभव साक्षी सापेक्षता से मिथ्या है ऐसे ही जगत् भी सापेक्षता से मिथ्या है।

२. सदाशिव की ही त्रिकालाबाधित निरपेक्ष सत्ता सिद्ध है।

३. माया कार्य होने से जगदनुभव मिथ्या है। प्रत्यभिज्ञा काल में विश्वप्रतीति रहती नहीं। विद्या से उसका बाध दृष्ट है। अतः उसकी व्यावहारिक सत्ता मात्र स्वीकार्य है।

—१०—

अन्तिम प्रश्न माया के लक्षण का था। उसका उत्तर देते हुये पूर्व श्लोकोक्त मिथ्या पद को भी बता देते हैं :—

मिथ्यात्वन्नाम बाध्यत्वं सम्यग्ज्ञानोदये सति ।
शिष्याचार्योपदेशादि स्वप्नवत्प्रतिभासते ॥१०॥

(पदच्छेदः)

मिथ्यात्वम् नाम बाध्यत्वम् सम्यक् ज्ञानोदये सति ।
शिष्याचार्योपदेशादि स्वप्नवत् प्रतिभासते ॥१०॥

(सान्वयार्थः)

सम्यक्	= ठीक प्रकार से दृढ़[१]	मिथ्यात्वम्	= मिथ्यात्व है।
ज्ञानोदये	= अपरोक्षानुभव[२] के उदय	शिष्याचार्योपदेशादि[५]	= (तब) शिष्य गुरु, उपदेश आदि सारे व्यवहार
सति	= होने पर	स्वप्नवत्	= सपने की तरह
बाध्यत्वम्	= बाध्यता[३]	प्रतिभासते	= प्रतीत होते हैं।
नाम	= का नाम[४] (ही लक्षण या स्वरूप)		

व्याख्या

१. अदृढ ज्ञान में संशय विपर्यय की संभावना रहने से वह अत्यन्त-निश्चय का प्रतिबन्धक बन जाती है।

२. ज्ञान का अर्थ बौद्धिक विश्वास नहीं है वरन् प्रमाण जन्य प्रमा है । शास्त्राचार्योपदेश से संस्कृत अन्तः करण की अखण्ड ब्रह्माकारा-वृत्ति ही प्रमाण है। उससे अपरोक्षानुभव का उदय होता है।

३. बाध अर्थात् जिसमें जिसका ज्ञान हुआ था उसमें उसी का तीनों कालों में अभाव का दृढनिश्चय रूपी व्यवहार के योग्य रूप से लीन हो जाना ।

४. तत्वज्ञानापनोद्यत्वम्बाध्यत्वं मिथ्यात्वम् यही माया का लक्षण है। प्रमाणसिद्ध प्रमाणज्ञान बाध्य नहीं हो सकता क्योंकि बाध्य होने से उसकी प्रामाणिकता व्याहत है।

५. विमतः शिष्याचार्यरूपो भेदप्रपञ्चो वस्तुत आत्मन्यन्यत्र वा न कालत्रयेप्यस्ति, यत्र यत्प्रतिपन्नन्तत्रैव ज्ञानापनोद्यत्वात्स्वप्नदृष्टप्रपंचव-दित्यनुमानं सूचयति ।

६. ज्ञान के पूर्व सर्वकर्मसंन्यास की अवश्यंभाविता से अन्य सारे व्यवहार तो प्राप्त ही नहीं हैं। केवल गुरु आदि का व्यवहार ही है और वे भी ज्ञानानन्तर स्वप्न की तरह भात होते हैं। जब तक जीवन है तब तक गुरु आदि के साथ स्वप्न की तरह व्यवहार चलता रहता है । पर वहाँ भी आग्रह का अभाव है। ज्ञानी को संसार में सत्यधी क्षणमात्र को भी नहीं हो सकती।

—११—

गुरु और वेदान्तशास्त्र को मिथ्या मानने पर उनसे प्रमोत्पत्ति कैसे स्वीकार करेंगे :—

मिथ्याभूतोपिवेदान्तस्सत्यमर्थं प्रबोधयेत् ।
देवताप्रतिमावच्च चित्रवत्प्रतिबिम्बवत् ।।११।।

(पदच्छेदः)

मिथ्याभूतः अपि वेदान्तः सत्यम् अर्थम् प्रबोधयेत् ।
देवता-प्रतिमावत् च चित्रवत् प्रतिबिम्बवत् ।।११।।

(सान्वयार्थः)

देवताप्रतिमावत्	= देवता प्रतिमा[1] की तरह
चित्रवत्	= चित्र[2] की तरह
च	= और
प्रतिबिम्बवत्	= प्रतिबिम्ब[3] की तरह
वेदान्तः	= वेदान्त शास्त्र

मिथ्याभूतः	= (स्वरूप से) मिथ्या होते हुये
अपि	= भी
सत्यम्	= सत्य
अर्थम्	= तत्त्व का
प्रबोधयेत्	= ज्ञान करा देता[4] है।

व्याख्या

१. देवता का प्रतिमा पर आरोप होता है क्योंकि प्रतिमा तो देवता हो नहीं सकती। देवता की शक्तियाँ वहाँ उपलब्ध नहीं हैं। और देवता के उचित अनेक लौकिक व्यापारों की प्रसक्ति भी हो जायगी। देवता में अधिष्ठित चेतन सत्ता स्वीकार करने पर भी अन्तःकरणादि का अभाव होने से पदार्थ ग्रहण आदि संभव न होगा और न फलदातृत्व ही होगा। अतः प्रतिमा देवता नहीं है। देवता का प्रतिरूप भी प्रतिमा सिद्ध नहीं हो सकती। इस विषय का विस्तृत विचार मीमांसा शास्त्र में है। अतः अमुक प्रकार की प्रतिमा का निर्माण करके अमुक मंत्रों से संस्कृत करके अमुक विधि से पूजन का अमुक विशिष्ट फल होता है इत्याकारक शास्त्र वचनों से देवपूजन का अपूर्व सिद्ध होता है। यहाँ देवता और प्रतिमा में भेद होने पर भी पूजा और फल की दृष्टि से अभेद है। प्रतिमा पूजा का फल देवपूजा का फल माना गया है। वस्तुतः प्रतिमा देव नहीं है। इसी प्रकार वेदान्त ज्ञान के प्राप्ति करने के साधनों से ही आत्म ज्ञान की साधना हो जाती है यद्यपि वेदान्तज्ञान आत्मज्ञान नहीं है। भगवान भाष्यकारों ने इसीलिये उपनिषद् का अर्थ ब्रह्माकार वृत्ति करके 'तत्साधनत्वेन ग्रन्थोप्येवमुपचर्यते' उसका साधन होने से ही ग्रन्थ को भी उपनिषद् स्वीकार किया है।

२. राजा का चित्र राजा नहीं होने पर भी उसका सम्यक् ज्ञान करा देता है। आजकल तो शादी भी चित्र देखकर कर लेते हैं। वार्ता-चित्र (News-reel)देखकर घटनाओं का ज्ञान तो सामान्य हो गया है। आज तो चलचित्रों के सहारे इतिहास का भी ज्ञान मान लिया जाता है।

३. अपने मुख के केशविन्यास, अधरराग आदि में प्रतिबिम्ब प्रमा ही उत्पन्न करता है यद्यपि स्वरूपतः मिथ्या है।

तीनों दृष्टान्तों में कल्पित शास्त्रीय साम्यरूप प्रथम है, दूसरे में व्यावहारिक साम्य है, तीसरे में प्रातिभासिक साम्य है। प्रथम में व्यव-हार योग्यता है। अन्य दो ज्ञापक मात्र हैं। इसी प्रकार वेदान्त ब्रह्म का स्वरूपनिर्देश करते हैं। सत्य ज्ञान आनन्द आदि शब्दों से ब्रह्म का ज्ञान शास्त्रीय साम्य है। वेदान्तों में सृष्टिप्रक्रिया आदि से ब्रह्म का चित्र खींच दिया है। स्वप्नादि दृष्टान्त निर्देश के द्वारा स्रष्टा आदि रूप से ब्रह्म का प्रातिभासिक साम्य दिखाया है।

४. वस्तुतस्तु स्वप्नवत् सब समझना चाहिये। जैसे स्वप्नस्थ मिथ्या व्याघ्र भी जगा देता है या स्वप्नस्त्रीसंगम मिथ्या होकर भी देहगत शुक्रक्षरण का हेतु बन जाता है, इसी प्रकार वेदान्त माया का कार्य होकर भी सत्य ब्रह्म रूप से जगा देता है। स्वप्न का विकार विशेष ही जैसे स्वप्न नाश का कारण बनता है वैसे ही मायाविकार विशेष ही मायानाश का कारण है। मायानिवृत्ति मद्रूप है इस में दूसरा दृष्टान्त है। अतः सब विचार दोष रहित हैं। जैसे जागृत में रहने वाला पुरुष स्वप्नस्थ को किसी अपूर्व प्रकार से जगाता है क्योंकि स्वप्नस्थ की इन्द्रियां आदि लीन होने से पाणिपेषण, ध्वनि आदि की कारणता कथमपि बनती नहीं। इसी प्रकार मुक्त पुरुष या परमेश्वर ही गुरुरूप से होकर किसी अपूर्व प्रकार से ही जगाता है। अन्यथा ज्ञानी की दृष्टि में शिष्य के बंधनादि का अत्यन्त अभाव है। दोनों की दृष्टि तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभाव वाली हैं। इस विषय में अधिक विवेचन व्यर्थ है। अनुभवसिद्ध है कि गुरु की दृष्टि में संसार का अत्यन्ताभाव होने पर भी उपदेश बनता है।

—१२—

सर्वोऽपि व्यवहारोऽयं मायायाः परिज्जृम्भणम् ।
सुषुप्तिसदृशी माया स्वप्रबोधेन बाध्यते ॥१२॥

(पदच्छेदः)

सर्वः अपि व्यवहारः अयम् मायायाः परिजृम्भणम् ।
सुषुप्तिसदृशी माया स्वप्रबोधेन बाध्यते ॥१२॥

(सान्वयार्थः)

अपि	= और
अयम्	= यह
सर्वः	= सारा
व्यवहारः	= व्यवहार
मायायाः	= माया का
परिजृम्भणम्[1]	= फैलाव (विस्तार) है ।
सुषुप्तिसदृशी	= गहरी नींद के जैसी[2]
माया	= माया
स्वप्रबोधेन	= आत्मा के सम्यक्‌विज्ञान[3] से
बाध्यते	= नष्ट हो जाती है ।

व्याख्या

१. परिजृंभण अर्थात् खुलकर जंभाई लेना । जैसे जंभाई लेने से देहावयव का स्पष्ट भान हो जाता है ऐसे ही व्यवहार में माया का स्पष्ट भान है । आकर्षकता भी समान है । इसको विवर्त भी कह सकते हैं ।

२. स्वरूप से माया अज्ञान रूप होने से जैसे सुषुप्ति अव्यवहार्य है ऐसे ही माया भी; पर सुषुप्ति में जैसे सब अव्यक्त रूप से है वैसे ही माया में भी ।

३. वेदान्तवाक्य-जन्य-आत्मापरोक्षानुभव से माया का अपलाप हो जाता है । जैसे जगने से सुषुप्ति नहीं रहती ।

—१३—

मिथ्या का सामान्य लक्षण करके उसे माया से कार्य कारण सम्बन्ध के द्वारा अभिन्न बताया । अब माया का साक्षात् लक्षण करके उसके स्वरूप पर विचार करते हैं :—

युक्तिहीनप्रकाशस्य संज्ञा मायेतिकथ्यते ।
नासती दृश्यमाना सा बाध्यमाना न वा सती ॥१३॥

(पदच्छेदः)

युक्तिहीनप्रकाशस्य सञ्ज्ञा माया इति कथ्यते ।
न असती दृश्यमाना सा बाध्यमाना न वा सती ॥१३॥

(सान्वयार्थः)

माया	=माया	असती	=असत् (हो सकती है)
इति	=यह	वा	=और
युक्तिहीनप्रकाशस्य[2]	=विचार रहित[1] प्रतीति का	बाध्यमाना	=बाधित होती हुई
सञ्ज्ञा	=नाम	न	=न
कथ्यते	=कहा जाता है ।	सती	=सत् (ही हो सकती है)
सा	=वह		
दृश्यमाना	=दिखती[3] हुई		
न	=न		

व्याख्या

१. प्रमाण से सिद्ध न होकर भी प्रतीत होना माया का लक्षण है।

२. 'युक्तिहीनः प्रकाशः प्रतीतिमात्रं यस्य तस्य भासमानस्य मायेति संज्ञा। सर्वप्रकारयुक्त्यसहत्वे सत्यपि प्रकाशमानत्वम् मायाया लक्षणमिति ।'

३. प्रतीति होने से असद्विलक्षण है और ज्ञान निवर्त्य होने से सद्विलक्षण है। प्रमाण से सत् या असद्रूपता ही सिद्ध हो सकती है। सदसद्विलक्षण होने से ही यक्ति हीन है। दृश्यमाना और बाध्यमाना हेतुगर्भविशेषण हैं।

—१४—

युक्तिहीनता को ही स्पष्ट करते हैं :—

न प्रकाशादियं भिन्ना छायेवार्कस्य तामसी ।
न चाभिन्ना जडत्वेन विरोधान्नोभयात्मिका ॥१४॥

(पदच्छेदः)

न प्रकाशात् इयम् भिन्ना छाया इव अर्कस्य तामसी ।
न च अभिन्ना जडत्वेन विरोधात् न उभयात्मिका ॥१४॥

(सान्वयार्थः)

अर्कस्य	=सूर्य की	च	=और
तामसी	=अन्धकार-रूपिणी[1]	जडत्वेन	=अचेतन रूप होने से
छाया	=छाया	अभिन्ना	=अभिन्न
इव	=की तरह	न	=नहीं है ।
इयम्	=यह (माया)	विरोधात्	=विरोध होने से
प्रकाशात्	=परमेश्वर से (ज्ञान प्रकाश से)	उभयात्मिका	=(जड और चेतन) दोनों एक साथ
न	=न	न	=नहीं है ।
भिन्ना	=अलग है,		

व्याख्या

१. अन्धकारमयी रात्रि ही छाया का अर्थ ले सकते हैं क्योंकि सूर्य की रोशनी को पृथ्वी का एक भाग रोकता है तब रात होती है। अन्धकारमयी छाया का रोशनी के रुकने से पैदा होना सर्वानुभवसिद्ध है। इससे ज्योतिपशास्त्र का सुरेश्वराचार्यों के समय कितना वैज्ञानिकरूप था यह भी प्रतीत होता है। जैसे उन छाया की सूर्य से भिन्न सत्ता नहीं ऐसे ही यहाँ माया की ब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं। एवं दोनों को अभिन्न मानने से तो दिन और रात्रि का व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। और भिन्नाभिन्न तो वदतो व्याघात होगा। अतः अनिर्वचनीय है।

अथवा छाया रूप रात्रि जैसे सूर्य से भिन्न है वैसी माया ब्रह्म से भिन्न

नहीं इस प्रकार व्यतिरेकी दृष्टान्त माना जाय। पर इस मत में उतना स्वारस्य प्रतीत नहीं होता।

अथवा 'तामसी तमोदृष्टिभिर्दिवान्धैरारोपितार्कस्याच्छादिका छाया नार्काद्भिन्नेत्यर्थः'। अर्थात् उल्लू इत्यादियों से सूर्य प्रकाश में आरोपित अन्धेरे की तरह ब्रह्म में अविद्याविशिष्टों के द्वारा माया कल्पित है। यह भी सूर्य से भिन्न नहीं क्योंकि सूर्य के न रहने पर रहती नहीं, और न अभिन्न है क्योंकि विरुद्ध है।

माया आत्मशक्ति होने से अनिर्वचनीय रूप से शक्तिमान् में रहती है। माया आत्मा के बिना सिद्ध भी नहीं होती और आत्मज्ञान के अनन्तर रह भी नहीं सकती। अतः माया की स्वतन्त्रसिद्धि नहीं है।

—१५—

स्वहेत्ववयवाभावान्नेयं सावयवोच्यते ।
न चावयवहीना सा कार्येष्ववयवान्विता ।।१५।।

(पदच्छेदः)

स्वहेत्ववयवाभावात् न इयम् सावयवा उच्यते ।
न च अवयवहीना सा कार्येषु अवयवान्विता ।।१५।।

(सान्वयार्थः)

स्वहेत्ववयवा-भावात्	= अपने कारण में अंग न होने से[1]	कार्येषु	= अपने कार्यों में[2]
इयम्	= यह (माया)	अवयवान्विता	= अंग युक्त होने से
सावयवा	= अंग वाली		
न	= नहीं	सा	= वह (माया)
उच्यते	= कही जाती है,	अवयवहीना	= अंगरहित
च	= और	न	= नहीं है।[3]

व्याख्या

१. आदिरहित होने से कारण ही नहीं तो उसमें अवयव कैसे हो सकते हैं? अथवा अधिष्ठान रूपी महेश्वर कारण में अखण्डता होने से साङ्गता असंभव है। कारण के गुण कार्य में आने से माया निरवयव सिद्ध

होती है। सुषुप्ति आदि में अज्ञान रूपी माया का अनुभव भी निरवयव-रूप से ही होता है।

२. माया का कार्य संसार सावयव है। कारण में कार्य के गुण अवश्य स्वीकर्तव्य हैं अतः माया में सावयवत्व भी सिद्ध होता है। माया-निर्मित हस्ती अश्वादि सभी सावयव होते हैं।

३. सावयवनिरवयवत्वोभयविलक्षणता ही माया में है अतः अनिर्वचनीयता की सिद्धि है।

—१६—

प्रकारान्तर न बनने के कारण युक्तिहीन प्रकाशता की सिद्धि का उपसंहार करते हैं:—

अविचारितसिद्धेयं मायावेश्या विलासिनी।
पुरुषंवञ्चयत्येव मिथ्याभूतैस्स्वविभ्रमैः ॥१६॥

(पदच्छेदः)

अविचारितसिद्धा इयम् मायावेश्या विलासिनी।
पुरुषम् वञ्चयति एव मिथ्याभूतैः स्वविभ्रमैः ॥१६॥

(सान्वयार्थः)

इयम्	=यह	मिथ्याभूतैः	=झूठे रूप वाले
अविचारित-सिद्धा	=विचार से न सिद्ध होने वाली	स्वविभ्रमैः	=अपने भ्रमों[1] से
विलासिनी	=विलास करने वाली	पुरुषम्	=चेतनात्मा[2] को
मायावेश्या	=माया रूपी वेश्या	एव	=ही
		वञ्चयति	=ठगती[3] है।

व्याख्या

१. भ्रम से निर्मित पदार्थों से।

२. जो इसका आश्रय है।

३. 'चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा' (ऋ० १०.११४.३) आदि वैदिक मंत्र ही इसका मूल है।

—१७—

जो माया रूपी गणिका के कटाक्षों और केलियों से चपल इन्द्रिय समूहों के द्वारा ठगे जाने के कारण उसको छोड़ना नहीं चाहते उनका मत बताते हैं :—

न तस्या मूलविच्छेदमभिवाञ्छन्ति केचन ।
तेषां पक्षे कथं मोक्षो मनसस्सम्भविष्यति ॥१७॥

(पदच्छेद:)

न तस्याः मूलविच्छेदम् अभिवाञ्छन्ति केचन ।
तेषाम् पक्षे कथम् मोक्षः मनसः सम्भविष्यति ॥१७॥

(सान्वयार्थः)

केचन	=कोई[1] (वादी)	तेषाम्	=उनके
तस्याः	=उसका (माया का)	पक्षे	=मत में
मूलविच्छेदम्	=जड़ से उखड़ना[2]	मनसः	=मनकी[4] (अथवा मनसे)
		मोक्षः[5]	=मुक्ति
न	=नहीं	कथम्	=किस प्रकार
अभिवाञ्छन्ति	=चाहते[3] हैं ।	सम्भविष्यति	=संभव[6] होगी ?

व्याख्या

१. अपने को कर्मी और भक्त मानने वाले लोग स्वमार्ग की कपोल कल्पनाओं से भ्रान्त होकर द्वैत की नित्यता चाहते हैं। उनकी कल्पनाएँ तो यहाँ तक हैं कि गौडीय वैष्णव समुदाय द्वैतनिवृत्ति का अनुभव साधना में विघ्न रूप से मानते हैं। भगवान पद्मपादाचार्यों ने 'अपि वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं स इच्छति। न हि निर्विषयं ब्रह्मकदाचिदपि गौतम।' कहकर इसी प्रकार के मत का वर्णन किया है। संसार विषयक वासना ही इसमें कारण है। साधक को इन भ्रान्त मतों से बचकर शुद्ध वैदिक सम्प्रदाय का ही अवलम्बन करना चाहिये।

२. सवासना निवृत्ति या सकारणाज्ञाननिवृत्ति ही तात्पर्य है।

३. प्रकारान्तर से माया का बना रखना उनको इष्ट है।

४. मायानिवृत्ति न होने से संसार दुःखपरम्परा अनिवृत्त ही रहेगी। कारण के रहते कार्यनिवृत्ति असंभव है। लोकान्तरों में जाकर और सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सार्ष्टि स्थिति प्राप्त कर भी दुःखनिवृत्ति असंभव है क्योंकि पुनरागमन, क्षयिष्णुता, न्यूनता आदि दोषों से ग्रस्त और पारतन्त्र्य, परिच्छिन्नता आदि के कारण परमानन्द का स्फ़ुरण असंभव है।

५. मनसो मोक्षो मनस्सकाशान्मोक्षः, मनोविलयो वा, परमोपशमलक्षित-परमानन्दः। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो' रिति ब्रह्मबिन्दोःमनसस्स्थितिकाले मोक्षासंभवः। मनसो नाशेतु मायानाशः। मनसो नाशे स्वकीयनाशं मन्यमाना भ्रान्त्या बन्धनमिच्छन्ति। अध्यासनिवृत्या मनःसाक्षी प्रत्यगात्मा भवति। तदेव मुक्तिरिति वैदिकः पक्षः।

६. मोक्ष की अन्यथा अनुपपत्ति से माया का समूलनाश स्वीकर्तव्य है।

—१८—

मन के ही बन्ध और मोक्ष हैं इसका प्रतिपादन करते हैं :—

तिस्रोप्यवस्था मनसो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।
चक्रवत्परिवर्तन्ते भेदभ्रान्त्येकहेतवः ॥१८॥

(पदच्छेदः)

तिस्रः अपि अवस्थाः मनसः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।
चक्रवत् परिवर्तन्ते भेदभ्रान्त्येकहेतवः ॥१८॥

(सान्वयार्थः)

मनसः	= मनके	अपि	= ही
भेदभ्रान्त्येकहेतवः	= भेद भ्रान्ति की मुख्य कारण रूप[1]	अवस्थाः	= अवस्थाएँ
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः	= जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति[2]	चक्रवत्	= चक्र की तरह[1]
तिस्रः	= तीनों	परिवर्तन्ते	= गोल गोल घूमती हैं।

व्याख्या

१. अवस्थात्रय में सारे अनुभव हैं। प्रत्यगात्मा तो तुरीयरूप होने से अवस्थात्रय से निर्मुक्त है। अतः अवस्थाओं की सत्ता ही भेद भ्रान्ति का कारण हैं। अथवा भेद अर्थात् प्रत्यगात्मा का परमात्मा से भेद-भ्रम ही तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति का कारण है।

२. जब बाह्येन्द्रियों के द्वारा मनकी बाह्यविषयाकारता होती है तब जाग्रदवस्था। जब जाग्रत में अनुभूत वासना मात्र रूप से मन अन्तः प्रविष्ट रहता है तब स्वप्नावस्था। जब मन नाडीछिद्रों में घूमना छोड़ कर अपने कारणरूप में रहता है तब सारे विशेष ज्ञेय ज्ञानाकारों के विलय से सुषुप्ति होती है। इस प्रकार मन के ही संचार से कर्तृक्रियाकारक फलाश्रय भेदविभ्रम उत्पन्न होते हैं।

सुषुप्ति भी मन की मानना यह आभासवाद का या प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय का वैशिष्ट्य है। परन्तु इसका सम्बन्ध श्रीदक्षिणामूर्ति और त्रिपुरा के आध्यात्मिक साधना साम्राज्य से घनिष्ट है। यह निर्विवाद है कि भगवान शुक, गौडपादाचार्य, गोविन्दभगवत्पूज्यपाद, शंकरभगवत्पाद, पदमपाद, सुरेश्वराचार्य, तोटकाचार्य, हस्तामलकाचार्य, सर्वज्ञात्ममहामुनि, अनुभूतिस्वरूपाचार्य, चित्सुखाचार्य, विद्यारण्य, शंकरानन्द आदि का इसी सम्प्रदाय से घनिष्ट सम्बन्ध था। जीव की कार्योपाधि स्वीकार करने पर एवं उसी की अनुभवसिद्ध सुषुप्ति के होने से मन की सुषुप्ति मानना ही उचिततम है। क्रियाहीन अन्तःकरण ही सुषुप्ति का रूप है।

३. एक के अनन्तर दूसरी क्रमशः आती जाती हैं।

—१९—

ताभिः करोति कर्माणि पुनस्तैर्बध्यते मनः।
मनसः केवलस्साक्षी भानुवत्पुरुषः परः ॥१९॥

(पदच्छेदः)

ताभिः करोति कर्माणि पुनः तैः बध्यते मनः।
मनसः केवलः साक्षी भानुवत् पुरुषः परः ॥१९॥

(सान्वयार्थः)

मनः	=मन	बध्यते	=बाँधा जाता है।
ताभिः	=उनसे[1] (भेदविभ्रमों से)	परः	=परम
		पुरुषः	=पुरुष[3]
कर्माणि	=कर्म (पुण्य और पाप)	भानुवत्	=सूर्य की तरह
करोति	=करता है	मनसः	=मनका
पुनः	=और फिर	केवलः	=केवल[4]
तैः	=उनसे[2]	साक्षी	=साक्षी है।

व्याख्या

१. कर्त्तृत्व मन का धर्म है। भ्रान्ति ही कर्म का साधन है। इसीलिये भ्रम निवृत्त होने पर कर्म असंभव हो जाते हैं। 'न कर्माणि त्यजत्येषः कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।' भ्रमसिद्ध पदार्थों के साथ भ्रम से उत्पन्न इन्द्रियों के द्वारा मन कर्म करता है।

२. पुण्य और पाप के संस्कार और वासनाओं से बन्धन में पड़ता है। पुण्य स्वर्गादि उच्च लोकों को देकर भी भ्रम रूप संसार में भ्रमाने वाला होने से बन्धन कारक ही है।

३. ब्रह्म को ही पूर्व में अविद्या का आश्रय विषय और बन्धन के योग्य बता कर यहाँ उससे विपरीत मन को कैसे कहा जा रहा है ऐसी शंका न हो जाय अतः परमेश्वर को साक्षित्वेन आश्रयता विषयता है। उसके अधीन सत्ता प्रतीति है अतः उसके आश्रित है। और उसी का आच्छादक है अतः विषय है। वस्तुतस्तु अनेक विकारों वाले मन का साक्षी 'चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ६.११) ही ब्रह्म है; अन्यथा साक्षी की अवस्था विशेष संसार धर्मवाली मानने पर वह भी साक्ष्य कोटि में आकर साक्ष्यन्तर सापेक्ष होगा या विना साक्षी के अवस्थात्रय स्वीकार करनी पड़ेगी। पहले में अनवस्था दोष प्राप्त होगा, द्वितीय में अप्रामाणिकता।

विपश्चिद्दृष्टि से तो मन ब्रह्म से अभिन्न ही है। 'चित्तं चिच्च विजानीयात्तकाररहितं यदा। तकारोविषयाध्यासो जपारागो मणौ यथा॥' इत्यादि वासिष्ठवाक्य इसमें प्रमाण है। भगवान वार्तिककार का वास्तविक

तात्पर्य यही है कि मन-उपाधिविशिष्ट चेतनात्मा बन्धन और मोक्ष एवं सारे कर्मों को करता है। शुद्ध आत्मा तो सूर्य की तरह केवल प्रकाश रूप है।

४. जैसे सूर्य सर्वकर्मों का साक्षी है वैसे ही चिदात्मा निष्क्रिय साक्षी है। स्वयं कभी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता।

—२०—

अतः कर्म बन्धन मन का है। आत्मा सर्वदा निर्लिप्त है :—

यथा प्राणिकृतैरर्कः कर्मभिर्नैव बध्यते।
तथा मनःकृतैरात्मा साक्षित्वान्नैव बध्यते ॥२०॥

(पदच्छेदः)

यथा प्राणिकृतैः अर्कः कर्मभिः न एव बध्यते।
तथा मनःकृतैः आत्मा साक्षित्वात् न एव बध्यते ॥२०॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	तथा	=उसी प्रकार
अर्कः	=सूर्य[1]	आत्मा	=आत्मा
प्राणिकृतैः	=जीवों द्वारा किये हुये	मनः कृतैः	=मन द्वारा किये हुये (कर्मों से)
कर्मभिः	=कर्मों के द्वारा	साक्षित्वात्	=साक्षिरूप[2] होने से
न	=नहीं	न	=नहीं
एव	=ही	एव	=ही
बध्यते	=बांधा जाता है।	बध्यते	=बांधा जाता है।

व्याख्या

१. 'साक्षिरूप होने से' यह हेतुवाक्य इधर भी समझना चाहिये। 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः' (काठ० ५.११) इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं।

२. आत्मा, कर्मभिर्न बध्यते, साक्षित्वात्, भानुवदिति। इससे परमेश्वर की नित्यमुक्तता सिद्ध है।

—२१—

यदि मन ही वन्धन में पड़ता है और आत्मा अकर्ता अभोक्ता है तो वादियों में, आगमों में और लोगों में भी ऐसी प्रसिद्धि क्यों है इस शंका का निराकरण करते हैं :—

आत्मा करोति कर्माणि बध्यते मुच्यते चतैः ।
इत्यौपचारिकी क्लृप्तिर्भ्रममात्रैव केवलम् ॥२१॥

(पदच्छेदः)

आत्मा करोति कर्माणि बध्यते मुच्यते च तैः ।
इति औपचारिकी क्लृप्तिः भ्रममात्रा एव केवलम् ॥२१॥

(सान्वयार्थः)

आत्मा	=आत्मा	इति	=इस प्रकार की
कर्माणि	=कर्मों को	औपचारिकी	=गौण[1]
करोति	=करता है।	क्लृप्तिः	=कल्पना
तैः	=उनसे (कर्मों से)	केवलम्	=केवल
वध्यते	=बँधता है	भ्रममात्रा	=भ्रममात्र[2]
च	=और	एव	=ही है।
मुच्यते	=मुक्त होता है।		

व्याख्या

१. जपाकुसुम की सन्निधि में स्फटिक के लाल होने की तरह कर्तामन आदि की सन्निधि में आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्माभास है। वादियों में तो अविवेक या मताग्रह से प्रसिद्ध है। आगमों में लोक प्रसिद्ध अनुवादक वाक्य हैं जिनका आगे निषेध है।

२. आत्मा में कर्तृत्वादिधर्म प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो पाते क्यों कि अखण्ड एकरस में भ्रान्ति से ही द्वैत संभव है। द्वैत के विना क्रिया नहीं वनती। अतः भ्रमसिद्ध ही सारा व्यवहार है। 'मायामात्रमिदन्द्वैतमद्वैतम्परमार्थतः॥' (मा० का० १.१७)

—२२—

यद्यपि मन आदि उपाधि के सम्बन्ध से आत्मा का यथावत् प्रकाश नहीं है तो भी उसकी असंगकूटस्थता स्वाभाविक ही है इसे बताते हैं :—

धूमाभ्रधूलीनीहारैरस्पृष्टोपि दिवाकरः ।
यथाछन्नइवाभाति तथैवात्माऽपि मायया ॥२२॥

(पदच्छेदः)

धूमाभ्रधूलीनीहारैः अस्पृष्टः अपि दिवाकरः ।
यथा छन्नः इव आभाति तथा एव आत्मा अपि मायया ॥२२॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	आभाति	=प्रतीत होता है
दिवाकरः	=सूर्य	तथा	=वैसे
धूमाभ्रधूली-नीहारैः	=धुंए, बादल, धूल धुन्ध से	एव	=ही
अस्पृष्टः	=असम्बद्ध हुआ[1]	आत्मा	=आत्मा
अपि	=भी	अपि	=भी
छन्नः	=ढँका हुआ	मायया[2]	=माया से (ढंका प्रतीत होता है)
इव	=की तरह		

व्याख्या

१. धूमादि दिवाकर के स्वरूप में परिवर्तन बिना लाये ही उसके प्रकाश को रोकते हैं। इसी प्रकार माया आत्मा के स्वरूप में अप्रविष्ट ही तटस्थरूप से कार्य करती है।

२. मायातत्कार्यैरित्यर्थः।

—२३—२४—

आवरण की तरह विक्षेपावभास भी पारमार्थिक नहीं है :—

यथा लीलावशात्कश्चिद् भ्राम्यमाणः कुमारकः ।
भ्रमत्तत्पश्यति जगत् शतचन्द्रन्नभस्स्थलम् ॥२३॥
तथैव मायया जीवो भ्रामितो वासनावशात् ।
नानाकारमिदं विश्वं भ्रममाणं च पश्यति ॥२४॥

(पदच्छेदः)

यथा लीलावशात् कश्चित् भ्राम्यमाणः कुमारकः ।
भ्रमत् तत् पश्यति जगत् शतचन्द्रम् नभःस्थलम् ॥२३॥
तथा एव मायया जीवः भ्रामितः वासनावशात् ।
नानाकारम् इदम् विश्वम् भ्रमणाम् च पश्यति ॥२४॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	जीवः	=प्राणी
कश्चित्	=कोई	वासनावशात्	= वासना के वश[3] से
कुमारकः	=छोटा बालक	मायया	=माया के द्वारा
लीलावशात्	=खेल में[1]	भ्रामितः	=घुमाया जाने पर
भ्राम्यमाणः	=घुमाये जाने पर	इदम्	=इस
तत्	=उस[2]	विश्वम्	=संसार को
जगत्	=संसार को	भ्रममाणम्	= घूमता हुआ (चंचल)
भ्रमत्	=घूमता हुआ	च	=और
नभःस्थलम्	= (और) आकाश को	नानाकारम्[4]	= अनेक आकारों का
शतचन्द्रम्	=सैंकड़ों चन्द्रमावाला	पश्यति	=देखता है ।
पश्यति	=देखता है,		
तथा	=वैसे		
एव	=ही		

व्याख्या

१. कई आदमी बालक की बाहुओं को पकड़कर उसे हवा में चारों ओर गोल गोल फिराते हैं । इससे बालक को संसार चक्कर मारता हुआ और अनेक तारा चंद्रमाओं वाला प्रतीत होने से आनन्दानुभव होता है। इसी का यहाँ निर्देश है ।

२. बालक के चारों तरफ का अनुभूत विश्व ।

३. दृष्टान्त में लीला की जगह दार्ष्टान्ति में वासना है। पूर्व पूर्व भ्रमजसंस्कारों के उद्बोध के कारण जीव घूमता है। अतः अपनी

वासनाओं के नाश से भ्रमण बन्द होता है। माया का कार्य तो वासना के अनुरूप जगत् को उपस्थित कर देना है। माया जीव को बांधती नहीं। इसीलिये मन को वासना हीन बनाना ही साधना है। 'यस्य निर्वासनं मनः' 'तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वासनां सम्परित्यजेत्।' आदि शास्त्र इसमें प्रमाण हैं।

४. देतिर्यङ्मनुष्याद्यनेकाकारम्।

—२५—

माया से घुमाया जाने पर भी जीव का पारमार्थिक कूटस्थत्व बना ही रहता है :—

संसृज्य मनसा देवस्संसरन्निव लक्ष्यते।
यथाऽर्को जलसंसर्गाच्चलन्नानेव लक्ष्यते ॥२५॥

(पदच्छेदः)

संसृज्य मनसा देवः संसरन् इव लक्ष्यते।
यथा अर्कः जलसंसर्गात् चलन् नाना इव लक्ष्यते ॥२५॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	देवः	=आत्मा
जलसंसर्गात्	=जल के सम्बन्ध से	मनसा	=मन से
अर्कः	=सूर्य	संसृज्य[1]	=संबन्धित होकर
चलन्	=चलता हुआ	संसरन्	=संसार में पड़ा हुआ[2]
नाना	=अनेक रूप वाले		
इव	=की तरह	इव	=सा
लक्ष्यते	=दिखाई देता है;	लक्ष्यते	=प्रतीत होता है।
(तथा	=वैसे)		

व्याख्या

१. संसृज्य अर्थात् संसर्ग वाला होकर या सृष्टि करके।

२. जल भेद से अनेक रूप वाला एवम् जल में पड़ा होने से रंग आदि वाला सूर्य दृष्टान्त में है। मनभेद से अनेक रूप वाला और मन में

पड़ा होने से आकार आदि वाला आत्मा दार्ष्टान्त है। जैसे सूर्य वस्तुतः अविकारी है वैसे ही आत्मा भी स्वीकार्य है।

—२६—

चिदात्मा का माया से बन्ध सिद्ध करके अगले उल्लास में विस्तार से प्रतिपादनीय ससाधन तत्त्वज्ञान द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्ष को बताते हैं :—

योगाभ्यासवशाद्येन मनोनिर्विषयङ्कृतम् ।
निवृत्तस्स पुमांत्सद्यो जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥२६॥

(पदच्छेदः)

योगाभ्यासवशात् येन मनः निर्विषयम् कृतम् ।
निवृत्तः सः पुमान् सद्यः जीवन्मुक्तः भविष्यति ॥२६॥

(सान्वयार्थः)

येन	=जिसने	पुमान्	=पुरुष
योगाभ्यास-वशात्	=योगाभ्यास[1] के बल से	निवृत्तः[3]	=निवृत्ति को प्राप्त हुआ
मनः	=मनको	सद्यः	=शीघ्र[4]
निर्विषयम्[2]	=विषयरहित	जीवन्मुक्तः	=जीवन्मुक्त
कृतम्	=कर लिया	भविष्यति	=हो जायगा।
सः	=वह		

व्याख्या

१. आधुनिक वेदान्ती वाचिक ज्ञान से अपने को कृतार्थ मानते हैं। पर भगवान सुरेश्वराचार्य का यह वाक्य और अगला अध्याय साधक को निर्देश करता है कि विना योग के आत्म ज्ञान नहीं हो सकता।

२. आलम्बनशून्यमविषयब्रह्माकारमिति ।

३. सर्वकर्मतन्मूलसंकल्पाच्चनिवृत्तः । अनेन परमहंसो भूत्वेति प्रतिपादितम् । एषणात्रयनिवृत्तपरमहंसपरिव्राजकस्यैव जीवन्मुक्तिरिति तु वैदिकराद्धान्तः ।

४. इस जन्म में ही । निर्विषयात्मज्ञानोदयसमये ।

—२७—

इस विषय में जीवेश्वर के मायिक भेद को बताने वाली श्रुतियों का निदर्शन कराते हैं :—

द्वा सुपर्णौ च सयुजावभवन्मायया शिवः ।
अजामेकाञ्ज् जुषन्नेको नानेवासीदिति श्रुतिः ॥२७॥

(पदच्छेदः)

द्वा सुपर्णौ च सयुजौ अभवत् मायया शिवः ।
अजाम् एकाम् जुषन् एकः नाना इव आसीत् इति श्रुतिः ॥२७॥

(सान्वयार्थः)

शिवः	=शिव[1]	एकाम्	=एक (प्रकृति)
मायया	=माया से	अजाम्	=जन्मरहित को
सयुजौ	=संयुक्त रहने वाले	जुषन्	=सेवन करते हुये
द्वा	=दो	नाना	=अनेक
सुपर्णौ	=(सुन्दर पंख-वाले) पक्षी रूप से	इव	=की तरह
		आसीत्	=बन गया
अभवत्	=बना (एवं)	इति	=इस प्रकार की
एकः	=एक (जीव)	श्रुतिः	=श्रुति प्रमाण है ।

व्याख्या

१. श्वेताश्व० ४.५–६ एवं रुद्रहृदय० ४१ का यहाँ निर्देश है ।

—२८—

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके ।
प्रबन्धे मानसोल्लासे अष्टमोल्लाससंग्रहः ॥२८॥

इस प्रकार श्री दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लास नामक प्रबन्ध का अष्टमोल्लास संक्षेप से समाप्त हुआ ।

अथ नवमोल्लास संग्रहः

शास्त्रार्थ के प्रतिपादनानन्तर अत्र साधनाध्याय प्रारम्भ करते हैं :—

कथमेवं विधा माया निवर्त्तेतेति पृच्छतः ।
ईश्वरोपासनारूपस्तदुपायः प्रकीर्त्यते ॥१॥

(पदच्छेदः)

कथम् एवम् विधा माया निवर्त्तेत इति पृच्छतः ।
ईश्वरोपासनारूपः तदुपायः प्रकीर्त्यते ॥१॥

(सान्वयार्थः)

एवम्	=इस[1]	पृच्छतः[2]	=पूछने वाले को
विधा	=प्रकार की	ईश्वरोपासनारूपः	=महेश्वर की उपासना[3] स्वरूप
माया	=माया	तदुपायः	=उसकी निवृत्ति का साधन
कथम्	=किस तरह	प्रकीर्त्यते	=अच्छी तरह[4] से बताया जाता है।
निवर्त्तेत	=निवृत्त हो सकती है		
इति	=इस प्रकार		

व्याख्या

१. स्वरूप से मिथ्याभूत संसार को प्रदर्शन करने वाली।

२. शिष्यः ।

३. 'सर्वं खल्विदम्ब्रह्म' बताकर श्रुति ने 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' के द्वारा उपासना को ही माया निवृत्ति का साधन बताया है। ब्रह्मसूत्र के साधनाध्याय में भी उपासनाओं का ही विचार है। उपनिषदों के अध्येताओं से यह छिपा नहीं है कि उनका अधिकतम भाग उपासनानिरूपण में ही गतार्थ है। इन सब तथ्यों से आधुनिकों का

४. इस जन्म में ही। निर्विषयात्मज्ञानोदयसमये।

—२७—

इस विषय में जीवेश्वर के मायिक भेद को बताने वाली श्रुतियों का निदर्शन कराते हैं :—

द्वा सुपर्णौ च सयुजावभवन्मायया शिवः।
अजामेकाञ्जुषन्नेको नानेवासीदिति श्रुतिः ॥२७॥

(पदच्छेदः)

द्वा सुपर्णौ च सयुजौ अभवत् मायया शिवः।
अजाम् एकाम् जुषन् एकः नाना इव आसीत् इति श्रुतिः ॥२७॥

(सान्वयार्थः)

शिवः	=शिव[1]	एकाम्	=एक (प्रकृति)
मायया	=माया से	अजाम्	=जन्मरहित को
सयुजौ	=संयुक्त रहने वाले	जुषन्	=सेवन करते हुये
द्वा	=दो	नाना	=अनेक
सुपर्णौ	=(सुन्दर पंख-वाले) पक्षी रूप से	इव	=की तरह
		आसीत्	=बन गया
अभवत्	=बना (एवं)	इति	=इस प्रकार की
एकः	=एक (जीव)	श्रुतिः	=श्रुति प्रमाण है।

व्याख्या

१. श्वेताश्व० ४.५–६ एवं रुद्रहृदय० ४१ का यहाँ निर्देश है।

—२८—

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।
प्रबन्धे मानसोल्लासे अष्टमोल्लाससंग्रहः ॥२८॥

इस प्रकार श्री दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लास नामक प्रबन्ध का अष्टमोल्लास संक्षेप से समाप्त हुआ।

अथ नवमोल्लास संग्रहः

शास्त्रार्थ के प्रतिपादनानन्तर अब साधनाध्याय प्रारम्भ करते हैं :—

कथमेवं विधा माया निवर्त्तेतेति पृच्छतः ।
ईश्वरोपासनारूपस्तदुपायः प्रकीर्त्यते ॥१॥

(पदच्छेदः)

कथम् एवम् विधा माया निवर्तेत इति पृच्छतः ।
ईश्वरोपासनारूपः तदुपायः प्रकीर्त्यते ॥१॥

(सान्वयार्थः)

एवम्	=इस[1]	पृच्छतः[2]	=पूछने वाले को
विधा	=प्रकार की	ईश्वरोपासनारूपः	=महेश्वर की उपासना[3] स्वरूप
माया	=माया	तदुपायः	=उसकी निवृत्ति का साधन
कथम्	=किस तरह	प्रकीर्त्यते	=अच्छी तरह[4] से बताया जाता है।
निवर्तेत	=निवृत्त हो सकती है		
इति	=इस प्रकार		

व्याख्या

१. स्वरूप से मिथ्याभूत संसार को प्रदर्शन करने वाली।

२. शिष्यः।

३. 'सर्वं खल्विदम्ब्रह्म' बताकर श्रुति ने 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' के द्वारा उपासना को ही माया निवृत्ति का साधन बताया है। ब्रह्मसूत्र के साधनाध्याय में भी उपासनाओं का ही विचार है। उपनिषदों के अध्येताओं से यह छिपा नहीं है कि उनका अधिकतम भाग उपासनानिरूपण में ही गतार्थ है। इन सब तथ्यों से आधुनिकों का

उपासनाहीन वेदान्त मत अशास्त्रीय सिद्ध होता है। भाष्यकारों ने उपासना का फल मोक्ष को स्वीकार नहीं किया है पर निदिध्यासन सहकृतता का निराकरण तो अश्रुत होने से त्याज्य है। चित्त की विक्षिप्त दशा में ज्ञान की संभावना का स्वप्न तो बालू से तेल निकालने से भी अधिक दुर्लभ है।

४. साधना पर विस्तार से विचार अत्यावश्यक है। हमारे यहाँ दर्शन साक्षात्कार का साधन है, दिमागों का हवाई किला नहीं है।

—२—

स्वरूप से महेश्वर निराकार निर्गुण और मन का अविषय होने से उपासना का विषय नहीं बन सकता। उपासना अर्थात् समीप बैठना। मन का समीप बैठना ही उपासना है। मन का विषय उपाधिविशिष्ट ही होता है। अतः उपासना का रहस्य है उपाधि पर मन को एकाग्र करके उसमें परमेश्वर का आरोप करना। उपाधि जितनी महान् और उत्तम गुण वाली होगी उतनी ही उपासना की श्रेष्ठता होगी। संसार में सभी उपास्य हैं पर सत्त्वगुणप्रधान की समष्टि उपासना मुक्ति पथ के पथिक को कर्तव्य है। अतः उस आलम्बन को बताते हैं :—

षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपासु परमेश्वरमूर्तिषु।
प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते सर्वैरप्यष्टमूर्तयः ॥२॥

(पदच्छेदः)

षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपासु परमेश्वरमूर्तिषु।
प्रत्यक्षेण उपलभ्यन्ते सर्वैः अपि अष्टमूर्तयः ॥२॥

(सान्वयार्थः)

षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपासु	=छत्तीस तत्त्व रूप	सर्वैः	=सब लोगों को
परमेश्वरमूर्तिषु	=परमेश्वर की मूर्तियों में,	अपि	=भी
अष्टमूर्तयः	=आठ मूर्तियाँ	प्रत्यक्षेण	=प्रत्यक्ष
		उपलभ्यन्ते	=प्राप्त होती हैं।

व्याख्या

१. आलम्बन से ही उपासना संभव है। अतः प्रपंचोपधान-कल्पितविग्रह रूप ईश्वर ही उपासना का आलम्बन है। सारा प्रपंच छत्तीस तत्त्वों में है। उनमें भी आठ मूर्तियाँ प्रत्यक्ष मिलने से सरलता से उपासना का विषय बन जाती हैं। वैसे सभी तत्त्व और सभी पदार्थ परमेश्वर स्वरूप होने से उपास्य हैं। अतः अधिकारी भेद से गुरूक्त पदार्थ रूपी मूर्ति ही उपास्य होती है।

यहाँ आकाश को प्रत्यक्ष कहने का तात्पर्य उसका भी मन से प्रत्यक्ष या साक्षी से प्रत्यक्ष मान कर है। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा निर्गत मन प्रकाश के ग्रहण काल में तत्रत्य आकाश को भी ग्रहण करता है यह वेदान्त-सिद्धान्त और अनुभव गम्य भी है। इन्द्रियवृत्ति के अभाव से साक्षीमात्र से वेद्य कहना भी बनता ही है।

—३—

जब समस्त विश्व सिद्धान्ततः उपास्य है तब सारे तत्त्वों से आठ ही अलग क्यों चुने गये :—

अनुमेयासु न मनः क्षिप्रमारोहतीत्यतः ।
मूर्त्यष्टकमयीम्ब्रूते गुरुस्सर्वात्मभावनाम् ॥३॥

(पदच्छेदः)

अनुमेयासु न मनः क्षिप्रम् आरोहति इति अतः* ।
मूर्त्यष्टकमयीम् ब्रूते गुरुः सर्वात्मभावनाम् ॥३॥

(सान्वयार्थः)

मनः	=मन[1]	अतः	=इसी कारण[3] से
अनुमेयासु	=अनुमानगम्य[2] में	गुरुः	=गुरुदेव[4]
क्षिप्रम्	=जल्दी	मूर्त्यष्टकमयीम्	=आठ मूर्तियों[5] वाली
न	=नहीं		
आरोहति	=चढता है (लगता है)	सर्वात्मभावनाम्	=सर्वात्म[6] उपासना को
इति	=ऐसा मानकर	ब्रूते	=बताते हैं।

व्याख्या

१. बाह्य पदार्थों में विक्षिप्त साधक का मन।

२. जो तत्त्व कार्य आदि देखकर सिद्ध किये जाते हैं। यहाँ अनुमान से शास्त्र भी संग्राह्य समझना चाहिये। अनुमानगम्य तत्त्वरूपी परमेश्वर मूर्तियों में साधक का मन विना समझे कैसे लग सकता है, यह भाव है।

३. सरलता के कारण ही यह चुनाव है।

४. सुरेश्वराचार्य के साक्षात् गुरु भगवान शंकर भगवत्पादाचार्य।

५. अष्टमूर्तियों की प्रत्यक्षता से प्रधानता कविकुलगुरु महाशैव कालीदास ने भी अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रारंभ में 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्। यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।' रूपी मंगल श्लोक में निर्दिष्ट की है। इन अष्टमूर्तियों के मंत्र निम्नलिखित हैं:— ॐ शर्वाय क्षितिमूर्तये नमः, ॐ भवाय जलमूर्तये नमः, ॐ रुद्राय अग्निमूर्त्तये नमः, ॐ उग्राय वायुमूर्त्तये नमः, ॐ भीमाय आकाशमूर्त्तये नमः, ॐ पशुपतये यजमानमूर्त्तये नमः, ॐ महादेवाय सोममूर्तये नमः, ॐ ईशानाय सूर्यमूर्त्तये नमः।'

६. प्रकाश्य सात मूर्ति और प्रकाशक आठवीं पुमान् मूर्ति को छोड़कर ज्ञेयका अभाव है अतः अष्टमूर्ति के अन्तःपाती सारा विश्व है। अतः यहाँ निरूपित ईश्वर की अष्टमूर्तिध्यान को ही सर्वात्मध्यान कहा जाता है। उपासनाओं में यह श्रेष्ठतम है।

*अमेयासु मनः क्षिप्रमारोढुन्नार्हतीत्यतः इति पाठान्तरम्।

भूरम्भांस्यनलोऽनिलोऽम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमा—
नित्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम्।
नान्यत्किञ्चन विद्यते विमृशतां यस्मात्परस्माद्विभो—
स्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

(पदच्छेदः)

भूः अंभांसि अनलः अनिलः अम्बरं अहर्नाथः हिमांशुः पुमान् इति आभाति चराचरात्मकं इदं यस्य एव मूर्त्यष्टकम् न अन्यत् किञ्चन विद्यते विमृशतां यस्मात् परस्मात् विभोः तस्मै०

(सान्वयार्थः)

यस्य	= जिस (परमेश्वर) की	हिमांशुः	= चन्द्र,
मूर्त्यष्टकम्	= आठ विग्रह मूर्तियां	पुमान्	= आत्मा,
एव	= ही	इति	= इन रूपों से
इदं	= इस	आभाति	= अनुभव में आती हैं (परन्तु)
चराचरात्मकं	= जड और चैतन्य रूप से	विमृशतां	= विचारशीलों को
भूः	= जमीन	यस्मात्	= जिस
अंभांसि	= पानी,	विभोः	= व्यापक
अनलः	= आग,	परस्मात्	= परमेश्वर से
अनिलः	= हवा,	अन्यत्	= भिन्न
अम्बरं	= आस्मान,	किंचित्	= कुछ भी
अहर्नाथः	= आफताब (सूर्य),	न विद्यते	= नहीं है
		तस्मै०	= उस…भगवान को नमस्कार है

अस्यैवं सिद्धान्तः :— इस श्लोक का सिद्धान्त इस प्रकार है :—

—४—

विराट्छरीरे ब्रह्माण्डे प्राणिनामपि विग्रहे ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वसंघातस्सर्वत्राप्यनुवर्तते ॥४॥

(पदच्छेदः)

विराट्छरीरे ब्रह्माण्डे प्राणिनाम् अपि विग्रहे ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वसंघातः सर्वत्र अपि अनुवर्त्तते ॥४॥

(सान्वयार्थः)

षट्त्रिंश-त्तत्त्वसङ्घातः	=छत्तीस तत्त्वों का समुदाय	प्राणिनाम्	=प्राणियों के
विराट्छरीरे	=विराट् के शरीर	विग्रहे	=शरीर में (व्यक्ति रूप में)
ब्रह्माण्डे	=ब्रह्माण्ड में (समष्टि रूप में)	सर्वत्र	=सब जगह
		अपि	=भी
अपि	=और	अनुवर्त्तते	=विद्यमान है।

व्याख्या

१. सारा संसार अष्टमूर्तिरूप है और यही महेश्वर का विग्रह है। अतः छत्तीस तत्त्वों का समुदाय भी इसी महेश्वर का रूप होने से इसी के अन्तर्गत है। महेश्वर विग्रह पुनः अधिदैव और अध्यात्म भेद से दो प्रकार का है। उसमें (चतुर्दशभुवनरूप) ब्रह्माण्ड अधिदैव है और वह समष्टि रूप होने से कारणात्मक है। पिण्ड अध्यात्म है और व्यष्टिरूप होने से कार्यात्मक है। कार्यकारणरूप से दोनों का अभेद है। सारे समष्टि ब्रह्माण्ड अवयवियों को व्यष्टि पिण्ड अवयवों में सम्पादित करके एवं पिण्ड अवयवों को ब्रह्माण्ड अवयवीरूप से सम्पादित करके पुनः महेश्वर को तद्रूप से अनुगत ध्यान करते हुये उसमें अन्तःकरण की स्थिरता से उस महेश्वर के प्रसाद से उसका ही पूर्वश्लोकों में प्रतिपादित निर्विशेष तत्त्व अपरोक्षरूप से अनुभव हो जाता है और इससे साधक कृतकृत्य हो जाता है। तात्पर्य यह है कि हमारा शरीर महेश्वर के ब्रह्माण्डरूपी शरीर का अंश है अतः हमें उसको उसमें लीन करके अपनी व्यक्तिगत आत्मा को महेश्वर से एक करके ध्यान करना चाहिये। इससे उसकी कृपा से ब्रह्मानुभव हो कर मायानिवृत्त हो जाती है।

भगवान वार्तिककार आगे इस उपासना का विस्तार करेंगे।

—५—

पिण्ड ब्रह्माण्ड व्यतिरिक्त नहीं है और ब्रह्माण्ड महेश्वर की अष्टमूर्तियों से भिन्न नहीं है। पिण्ड में ब्रह्माण्डसम्पादनप्रकार बताने के लिये पहले उसका निमित्त बताते हैं :—

व्याप्तिर्व्यष्टिशरीरेऽस्मिन् मनसो व्यष्टिरूपिणः ।
तस्मात्सर्वात्मकमिदं स्वशरीरं विचिन्तयेत् ॥५॥

(पदच्छेदः)

व्याप्तिः व्यष्टिशरीरे अस्मिन् मनसः व्यष्टिरूपिणः ।
तस्मात् सर्वात्मकम् इदम् स्वशरीरम् विचिन्तयेत् ॥५॥

(सान्वयार्थः)

अस्मिन्	=इस[1]	तस्मात्	=इसलिये
व्यष्टिशरीरे	=व्यक्ति देह में	इदम्	=इस
व्यष्टिरूपिणः	=व्यक्ति रूपी	स्वशरीरम्	=अपने शरीर का
मनसः	=मन का	सर्वात्मकम्	=सर्व रूप से[2]
व्याप्तिः	=व्यापक पना है ।	विचिन्तयेत्	=चिन्तन करे ।

व्याख्या

१. यस्माद्व्यष्टिरूपिणो व्याप्तिस्तस्मादिति योजना ।

२. शुक्ल यजुर्वेद में 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ० ३.५.१३) के द्वारा वाणी, मन और प्राण का अनुक्रम करके हिरण्यगर्भ-रूप से उनका प्रतिपादन किया है और उनमें से प्रत्येक को व्यापक भी बताया है। हिरण्यगर्भ लिङ्गात्मा होने से मनः प्रधान है। वह समष्टि शरीर है। अतः उसे ब्रह्माण्ड से निर्मित व्यष्टि देह में भी व्यापक मानना युक्तियुक्त है। इस प्रकार व्यष्टि पिण्ड को भी सर्वात्मक मानना युक्ति-युक्त है।

तात्पर्य यह है कि मनों की समष्टि हिरण्यगर्भ है जो विराट्शरीर में व्याप्त है। इसी प्रकार मन व्यष्टि देह में व्याप्त है। अतः दोनों का ऐक्य है क्योंकि व्यष्टि देहों का समुदाय ही विराट् है।

—६—

इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों की हिरण्यगर्भ रूपता होने से अत्यन्त अभिन्नता सिद्ध होने के कारण पिण्डरूप से की हुई महेश्वरो-पासना से समष्टि ब्रह्माण्डता की प्राप्ति होती है। अतः पिण्ड में ब्रह्माण्ड की सम्पत्ति (सम्पदुपासना) कर्तव्य है :—

व्यष्ट्युपासनया पुंसस्समष्टिव्याप्तिमाप्नुयात् ।
उपसङ्क्रामतीत्येवं दशकृत्व उपादिशत् ॥६॥

(पदच्छेद:)

व्यष्ट्युपासनया पुंस: समष्टिव्याप्तिम् आप्नुयात् ।
उपसङ्क्रामति इति एवम् दशकृत्व: उपादिशत् ॥६॥

(मान्वयार्थ:)

पुंस:	= महेश्वर की	आप्नुयात्	= प्राप्त कर लेना है।
व्यष्ट्युपासनया	= व्यष्टि शरीर के अन्दर आत्मरूप से उपासना के द्वारा	उपसङ्क्रामति	= 'लाँघ जाता है'
		इति	= इस
		एवम्	= प्रकार से
समष्टिव्याप्तिम्	= समष्टि के साथ ऐक्य-रूप व्यापकता	दशकृत्व:	= दस बार
		उपादिशत्	= उपदेश किया है।

व्याख्या

१. व्यष्टि में आत्मरूप से महेश्वर उपासना का फल कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा के उपनिषद् में (२.८.५) बताया गया है। वहाँ पहले अन्नमयादि पाँच कोशों से अध्यात्म संक्रमण बताकर अधिदैव अन्नादि का पंच आवरणों का संक्रमण बताया है। अत: परिच्छिन्न दृष्टि की भी पूर्णात्मविषयता से परिपूर्णप्राप्ति हेतुता प्रमाण सिद्ध है। पंच कोशों के अन्तर्गत सर्वाधारव्यापक ब्रह्म प्राप्तिरूप बताने का यही तात्पर्य है। उपासक मन के आश्रय आनन्दमय कोश में स्थित हुआ ब्रह्म से ऐक्य प्राप्त कर लेना है।

—७—

अब सम्पदुपासना का प्रकार बताते हैं :—

ब्रह्माण्डस्योदरे लोकास्सप्तभूरादयस् स्मृता: ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तेष्वाधारेषु वसन्ति ते ॥७॥

(पदच्छेदः)

ब्रह्माण्डस्य उदरे लोकाः सप्त भूः आदयः स्मृताः ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तेषु आधारेषु वसन्ति ते ॥७॥

(सान्वयार्थः)

भूः	=भू[1]	स्मृताः	= स्मृतियों में बताये हैं
आदयः	=आदि	ते	=वे
सप्त	=सात	मूलादिब्रह्म-रन्ध्रान्तेषु	= मूलाधार से सहस्रार तक
लोकाः	=लोक	आधारेषु	=चक्रों में
ब्रह्माण्डस्य	= (जो) ब्रह्माण्ड के	वसन्ति	=रहते हैं ।
उदरे	=अन्दर		

व्याख्या

१. भूर्लोक मूलाधार में, भुवर्लोक स्वाधिष्ठान में, स्वर्लोक मणिपूर में, महर्लोक अनाहत में, जन लोक विशुद्ध में, तपलोक आज्ञा में और सत्य लोक का सहस्रार से एकता करके ध्यान करे।

(यह और आगे का विषय उपासना का होने से गुरुगम्य है। अतः संक्षेप में निर्देश है। उपासक केवल ग्रन्थाधार से प्रवृत्त न हो।)

—८—

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उपासना बताकर विस्तार से भूलोक प्रत्यक्ष का विषय होने से विस्तार से बताते हैं :—

वीणादण्डो महामेरुरस्थीनि कुलपर्वताः ।
गङ्गा तु पिङ्गला नाडी यमुनेडा प्रकीर्तिता ॥८॥

(पदच्छेदः)

वीणादण्डः महामेरुः अस्थीनि कुलपर्वताः ।
गङ्गा तु पिङ्गला नाडी यमुना इडा प्रकीर्तिता ॥८॥

(सान्वयार्थः)

वीणादण्डः	= पीठ की रीढ हड्डी	महामेरुः	=महामेरुपर्वत[1],
		अस्थीनि	=छोटी हड्डियाँ[2]

कुलपर्वताः	=कुलपर्वत हैं।	नाडी	=नाडी है,
गङ्गा	=गंगा	यमुना	=यमुना
तु	=तो	इडा	=इडा नाडी
पिङ्गला	=पिंगला	प्रकीर्तिता	=कही गई है।

व्याख्या

१. अन्दर छेदवाली वीणादण्ड को बीच में ऊँचा होने की समानता से मेरुपर्वत बताया है।

२. पीठ में दोनों तरफ निकली हुई हड्डियों को चारों तरफ छितरकर स्थित होने रूपी समानता से पारियात्रादि कुलपर्वत बताया गया है।

—९—

सरस्वती सुषुम्नोक्ता नाड्योन्याः पुण्यनिम्नगाः ।
द्वीपास्स्युर्धातवस्सप्त स्वेदबाष्पादयोब्धयः ॥९॥

(पदच्छेदः)

सरस्वती सुषुम्ना उक्ता नाड्यः अन्याः पुण्यनिम्नगाः ।
द्वीपाः स्युः धातयः सप्त स्वेदबाष्पादयः अब्धयः ॥९॥

(सान्वयार्थः)

सरस्वती	=सरस्वती नदी[1]	धातवः	=धातु
सुषुम्ना	=सुषुम्ना नाडी	द्वीपाः	=सप्तद्वीप
उक्ता	=कही गई है।	स्युः	=हैं।
अन्याः	=दूसरी	स्वेद-बाष्पादयः	=पसीना, आँसू आदि
नाड्यः	=नाडियाँ[2]	अब्धयः	=समुद्र हैं।
पुण्यनिम्नगाः	=पुण्यनदियाँ हैं।		
सप्त	=सात		

व्याख्या

१. गंगा और यमुना के बीच की तरह इडा और पिंगला के बीच और सुषुम्ना का सरस्वती की तरह गुप्त होने से सामान्य है।

२. पानी की तरह उनमें मन बहता है इसलिये समानता है।

—१०—११—

पृथ्वी और जलतत्त्व का ध्यान बताकर अग्नितत्त्व का ध्यान बताते हैं:—

मूले तिष्ठति कालाग्निरस्थिमध्ये च वाडवः ।
वैद्युतोग्निस्सुषुम्नायाम्पार्थिवो नाभिमण्डले ॥१०॥
हृदि तिष्ठति सूर्याग्निः कपाले चन्द्रमण्डलम् ।
नक्षत्राण्यपराण्याहुर्नेत्रादीनीन्द्रियाण्यपि ॥११॥

(पदच्छेदः)

मूले तिष्ठति कालाग्निः अस्थिमध्ये च वाडवः ।
वैद्युतः अग्निः सुषुम्नायाम् पार्थिवः नाभिमण्डले ॥१०॥
हृदि तिष्ठति सूर्याग्निः कपाले चन्द्रमण्डलम् ।
नक्षत्राणि अपराणि आहुः नेत्रादीनि इन्द्रियाणि अपि ॥११॥

(सान्वयार्थः)

मूले	=मूलाधार में	हृदि	=हृदय में
कालाग्निः	=प्रलय कालानल	सूर्याग्निः	=सूर्याग्नि
तिष्ठति	=स्थित है ।	तिष्ठति	=स्थित है ।
च	=और	कपाले	=ललाट में
अस्थिमध्ये	=अस्थि कूटान्तराल में	चन्द्रमण्डलम्	=चन्द्रमण्डल है ।
वाडवः	=वाडवाग्नि है ।	अपराणि	=दूसरे
सुषुम्नायाम्	=सुषुम्ना में	अपि	=भी
वैद्युतः (क्षणस्फुरणत्वात्)	=बिजली रूप	नक्षत्राणि	=अश्विन्यादि नक्षत्र
		नेत्रादीनि	=आँख आदि
अग्निः	=आग है ।	इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ
नाभिमण्डले	=नाभिमण्डल में	आहुः	=बताई गई हैं ।
पार्थिवः	=पार्थिव है ।		

—१२—

अग्नितत्त्वानन्तर वायुतत्त्व ध्येयाकार से बताते हैं :—

धार्यन्ते वायुभिर्लोका यथा प्रवहणादिभिः ।
प्राणादिभिर्दशविधैर्धार्यते वायुभिर्वपुः ॥१२॥

(पदच्छेदः)

धार्यन्ते वायुभिः लोकाः यथा प्रवहणादिभिः ।
प्राणादिभिः दशविधैः धार्यंते वायुभिः वपुः ॥१२॥

(सान्वयार्थः)

यथा	=जैसे	(तथा	=वैसे)
प्रवहणादिभिः	=प्रवहण आदि	दशविधैः	=दस प्रकार के
वायुभिः	=वायु से	प्राणादिभिः	=प्राण आदि
लोकाः	=लोक	वायुभिः	=वायु से
धार्यन्ते	=धारण किये जाते हैं।	वपुः	=शरीर
		धार्यंते	=धारण किया जाता है।

—१३—

प्रसंग प्राप्त दस प्रकार के प्राणों का उनके कार्यों के द्वारा निर्देश करते हैं :—

प्राप्येडापिङ्गले प्राणो मूलात्सूर्यस्वरूपतः ।
नासिकाभ्याम्वहिर्गत्वा लीयते द्विषडङ्गुले ॥१३॥

(पदच्छेदः)

प्राप्य इडापिङ्गले प्राणः मूलात् सूर्यस्वरूपतः ।
नासिकाभ्याम् बहिःगत्वा लीयते द्विषडङ्गुले ॥१३॥

(सान्वयार्थः)

मूलात्	=मूलाधार से (उठकर)	प्राणः	=प्राण
इडापिङ्गले	=इडा और पिङ्गला नाडी को	नासिकाभ्याम्	=दोनों नासा पुटों द्वारा
प्राप्य	=प्राप्त करके	बहिः	=बाहर
सूर्यस्वरूपतः	=सूर्य की तरह गर्मी[1] का आश्रय हुआ	गत्वा	=जाकर
		द्विषडङ्गुले	=बारह अंगुल की दूरी पर
		लीयते	=लीन हो जाता है।

व्याख्या

१. इससे प्राण का प्रधान स्वरूप जलाने वाली वायुविशेष (oxygen) का द्योतन है ।

—१४—

अष्टाङ्गुलेन सोमात्मा नाडीभ्यामन्तराविशत् ।
मलमूत्रमरुच्छुक्राण्यपानो विसृजेद्वहिः ॥१४॥

(पदच्छेदः)

अष्टाङ्गुलेन सोमात्मा नाडीभ्याम् अन्तः आविशत् ।
मलमूत्रमरुच्छुक्राणि अपानः विसृजेत् बहिः ॥१४॥

(सान्वयार्थः)

सोमात्मा	=सोम रूप (हुआ)	अन्तः	=(शरीर में) अन्दर
अपानः	=(वही प्राण) अपान (रूप से)	आविशत्	=प्रविष्ट हुआ
अष्टाङ्गुलेन	=आठ अंगुल दूरी से	मल-मूत्र-मरुच्छुक्राणि	=विष्ठा, पेशाब, गन्दी वायु, वीर्य को
नाडीभ्याम्	=नासा पुटों से (इडा व पिंगला)	वहिः	=वाहिर
		विसृजेत्	=फेंकता है ।

—१५—

अग्नीषोममयो भूत्वा सुषुम्नारन्ध्रमाश्रितः ।
आब्रह्मरन्ध्रमुद्गच्छन्नुदानो वर्धते स्वयम् ॥१५॥

(पदच्छेदः)

अग्नीषोममयः भूत्वा सुषुम्नारन्ध्रम् आश्रितः ।
आब्रह्मरन्ध्रम् उद्गच्छन् उदानः वर्द्धते स्वयम् ॥१५॥

(सान्वयार्थः)

अग्नीषोममयः	=अग्नि और चन्द्र रूप	आब्रह्मरन्ध्रम्	=सहस्रार पर्यन्त
भूत्वा	=होकर	उद्गच्छन्	=उठता हुआ
सुषुम्नारन्ध्रम्	=सुषुम्नाछिद्र को	स्वयम्	=खुद (प्राण)
		उदानः	=उदान रूप
आश्रितः	=आलम्बन करके	वर्द्धते	=हो जाता है ।

—१६—

व्यापयेद्वपुषि व्यानो भुक्तान्नरसमन्वहम् ।
सन्धुक्षणं समानस्तु कायाग्नेः कुरुते सदा ॥१६॥

(पदच्छेदः)

व्यापयेत् वपुषि व्यानः भुक्तान्नरसम् अन्वहम् ।
सन्धुक्षणम् समानः तु कायाग्नेः कुरुते सदा ॥१६॥

(सान्वयार्थः)

अन्वहम्	=प्रति दिन	समानः	=समान
भुक्तान्नर-सम्	=खाये हुये अन्न के रस को	तु	=तो
व्यानः	=व्यान	सदा	=हमेशा
वपुषि	=शरीर में (देह नाडियों में)	कायाग्नेः	=शरीर की अग्नि का
व्यापयेत्[1]	=व्याप्त करता है (चारों तरफ प्राप्त कराता है) ।	सन्धुक्षणम्	=धौंकना
		कुरुते	=करता है ।

व्याख्या

१. विविधमासमन्तात्प्रापयेत् प्रचारयन् सर्वनाडीर्व्याप्नोतीत्येतत् ।

—१७—

नागो हिक्काकरः कूर्मो निमेषोन्मेषकारकः ।
क्षुतङ्करोति कृकरो देवदत्तो विजृम्भणम् ॥१७॥

(पदच्छेदः)

नागः हिक्काकरः कूर्मः निमेषोन्मेषकारकः ।
क्षुतम् करोति कृकरः देवदत्तः विजृम्भणम् ॥१७॥

(सान्वयार्थः)

हिक्काकरः	=हिचकी करने वाला	निमेषोन्मेष-कारकः	=आँखों को खोलने और बन्द करने वाला
नागः	=नाग[1] है ।		

कूर्मः	=कूर्म है।	देवदत्तः	=देवदत्त
कृकरः	=कृकर	विजृम्भणम्	=जंभाई (करता है)।
क्षुतम्	=छींक		
करोति	=करता है।		

व्याख्या

१. प्राणादि पंच वायुओं का वेद में वर्णन है। नागादिपंच का विस्तार योगशास्त्र में किया गया है।

—१८क—

स्थौल्यन्धनञ्जयः कुर्यान्मृतञ्चापि न मुञ्चति ॥१८क॥

(पदच्छेदः)

स्थौल्यम् धनञ्जयः कुर्यात् मृतम् च अपि न मुञ्चति ॥१८क॥

(सान्वयार्थः)

धनञ्जयः	=धनंजय	मृतम्	=मरे[1] (शरीर) को
स्थौल्यम्	=देह को मोटा	अपि	=भी
कुर्यात्	=करता है;	न	=नहीं
च	=और	मुञ्चति	=छोड़ता है।

व्याख्या

१. शव को भी फुलाता है। शव के नाखून और केश वृद्धि का भी यही कारण है।

—१८-१९—

प्रसक्त प्राणनिरूपण करके अवशिष्ट मूर्तियों का निरूपण करते हैं:—

आकाशो बहिरप्यन्तरवकाशम्प्रयच्छति ॥१८॥
चन्द्रार्कौ कालनेतारौ प्राणापानौ शरीरिणाम्।
साक्षी पुरुष इत्येवं मूर्त्यष्टकमिदं वपुः ॥१९॥

(पदच्छेदः)

आकाशः बहिः अपि अन्तः अवकाशम् प्रयच्छति ॥१८॥
चन्द्रार्कौ कालनेतारौ प्राणापानौ शरीरिणाम्।
साक्षी पुरुषः इति एवम् मूर्त्यष्टकम् इदम् वपुः ॥१९॥

(सान्वयार्थ :)

आकाश:	=आकाश
बहि:	=(शरीर से) बाहर (और)
अन्त:	=भीतर
अपि	=भी
अवकाशम्	=खाली जगह[2]
प्रयच्छति	=देता है।
कालनेतारौ	=समय के नियन्ता
चन्द्राकौं	=चन्द्र और सूर्य
शरीरिणाम्	=देह धारियों के
प्राणापानौ	=प्राण और अपान[1] हैं।
साक्षी	=साक्षी[3]
पुरुष:	=महेश्वर है।
इति	=इतना ही
एवम्	=इस प्रकार से
इदम्	=यह
वपु:	=शरीर
मूर्त्यष्टकम्	=महेश्वर की आठ मूर्तियों[4] के रूप से ध्येय है।

व्याख्या

१. जैसे बाहर चलने के लिये अवकाश प्रदाता है वैसे ही अन्दर अन्न, रक्त, रस, वायु आदि के लिये अवकाशप्रद है।

२. प्राण और अपान ही शरीर का समय निर्धारण करते हैं यह स्वरोदय शास्त्र में प्रतिपादित है। सूर्य ऋतु और वर्ष का नियामक है एवं चन्द्र मास और तिथि का नियामक है।

३. व्यष्टि संघात का साक्षी प्रत्यगात्मा और हिरण्यगर्भात्मक समष्टि साक्षी एक हैं।

४. विस्तार में ऋषियों में मतभेद होने पर भी ऐक्यानुसन्धान ही सबका मन्तव्य है।

—२०—

ब्रह्माण्ड और पिण्ड की एकता के ध्यान का फल बताते हैं :—

समनस्कमिदं योगी सेवमान उपासनम्।
अष्टाङ्गयोगयुक्तस्सन्नमनस्कं स गच्छति ॥२०॥

(पदच्छेद:)

समनस्कम् इदम् योगी सेवमान: उपासनम्।
अष्टाङ्गयोगयुक्त: सन् अमनस्कम् स: गच्छति ॥२०॥

(सान्वयार्थः)

योगी	=योग निरत	सन्	=हुआ
इदम्	=इस	सः	=वही योगी
समनस्कम्	=मन से युक्त[1]	अमनस्कम्	=मन रहित को (अलिंग ईश्वर को)
उपासनम्	=ध्यान का	गच्छति	=प्राप्त करता है।
सेवमानः	=अभ्यास करता हुआ		
अष्टाङ्ग-योगयुक्तः	=आठ अंगों से सहित		

व्याख्या

१. हिरण्यगर्भोपासना होने से अथवा मन का विषय होने से समनस्क कहा गया है।

—२१—२२—

जिन आठ अंगों से युक्त योग को कहा उसका वर्णन करते हैं :—

मनः प्रसादस्सन्तोषो मौनमिन्द्रियनिग्रहः।
दया दाक्षिण्यमास्तिक्यमार्जवं मार्दवङ् क्षमा ॥२१॥
भावशुद्धिरहिंसा च ब्रह्मचर्यं स्मृतिर्धृतिः।
इत्येवमादयोन्ये च मनस्साध्या यमास्स्मृताः ॥२२॥

(पदच्छेदः)

मनः प्रसादः सन्तोषः मौनम् इन्द्रियनिग्रहः।
दया दाक्षिण्यम् आस्तिक्यम् आर्जवम् मार्दवम् क्षमा ॥२१॥
भावशुद्धिः अहिंसा च ब्रह्मचर्यम् स्मृतिः धृतिः।
इति एवम् आदयः अन्ये च मनस्साध्याः यमाः स्मृताः ॥२२॥

(सान्वयार्थः)

मनः प्रसादः	=मन की सत्त्वगुणाधिक्य से प्रसन्नता,	मौनम्	=अनावश्यक[1] वाणी का प्रयोग न करना,
सन्तोषः	=जो मिले उसी में पर्याप्त धी,		

(सान्वयार्थ:)

आकाश:	=आकाश
बहि:	=(शरीर से) वाहर (और)
अन्त:	=भीतर
अपि	=भी
अवकाशम्	=खाली जगह[1]
प्रयच्छति	=देता है।
कालनेतारौ	=समय के नियन्ता
चन्द्रार्कौ	=चन्द्र और सूर्य
शरीरिणाम्	=देह धारियों के
प्राणापानौ	=प्राण और अपान[2] हैं।
साक्षी	=साक्षी[3]
पुरुष:	=महेश्वर है।
इति	=इतना ही
एवम्	=इस प्रकार से
इदम्	=यह
वपु:	=शरीर
मूर्त्यष्टकम्	=महेश्वर की आठ मूर्तियों[4] के रूप से ध्येय है।

व्याख्या

१. जैसे वाहर चलने के लिये अवकाश प्रदाता है वैसे ही अन्दर अन्न, रक्त, रस, वायु आदि के लिये अवकाशप्रद है।

२. प्राण और अपान ही शरीर का समय निर्धारण करते हैं यह स्वरोदय शास्त्र में प्रतिपादित है। सूर्य ऋतु और वर्ष का नियामक है एवं चन्द्र मास और तिथि का नियामक है।

३. व्यष्टि संघात का साक्षी प्रत्यगात्मा और हिरण्यगर्भात्मक समष्टि साक्षी एक हैं।

४. विस्तार में ऋषियों में मतभेद होने पर भी ऐक्यानुसन्धान ही सबका मन्तव्य है।

—२०—

ब्रह्माण्ड और पिण्ड की एकता के ध्यान का फल वताते हैं:—

समनस्कमिदं योगी सेवमान उपासनम्।
अष्टाङ्गयोगयुक्तस्सन्नमनस्कं स गच्छति ॥२०॥

(पदच्छेद:)

समनस्कम् इदम् योगी सेवमान: उपासनम्।
अष्टाङ्गयोगयुक्त: सन् अमनस्कम् स: गच्छति ॥२०॥

(सान्वयार्थः)

योगी	=योग निरत	सन्	=हुआ
इदम्	=इस	सः	=वही योगी
समनस्कम्	=मन से युक्त[1]	अमनस्कम्	=मन रहित को (अलिंग ईश्वर को)
उपासनम्	=ध्यान का	गच्छति	=प्राप्त करता है।
सेवमानः	=अभ्यास करता हुआ		
अष्टाङ्ग-योगयुक्तः	=आठ अंगों से सहित		

व्याख्या

१. हिरण्यगर्भोपासना होने से अथवा मन का विषय होने से समनस्क कहा गया है।

—२१—२२—

जिन आठ अंगों से युक्त योग को कहा उसका वर्णन करते हैं :—

मनः प्रसादस्सन्तोषो मौनमिन्द्रियनिग्रहः ।
दया दाक्षिण्यमास्तिक्यमार्जवं मार्दवङ् क्षमा ॥२१॥
भावशुद्धिरहिंसा च ब्रह्मचर्यं स्मृतिर्धृतिः ।
इत्येवमादयोन्ये च मनस्साध्या यमास्स्मृताः ॥२२॥

(पदच्छेदः)

मनः प्रसादः सन्तोषः मौनम् इन्द्रियनिग्रहः ।
दया दाक्षिण्यम् आस्तिक्यम् आर्जवम् मार्दवम् क्षमा ॥२१॥
भावशुद्धिः अहिंसा च ब्रह्मचर्यम् स्मृतिः धृतिः ।
इति एवम् आदयः अन्ये च मनस्साध्याः यमाः स्मृताः ॥२२॥

(सान्वयार्थः)

मनः प्रसादः	=मन की सत्त्वगुणाधिक्य से प्रसन्नता,	मौनम्	=अनावश्यक[1] वाणी का प्रयोग न करना,
सन्तोषः	=जो मिले उसी में पर्याप्त धी,		

इन्द्रियनिग्रहः = इन्द्रियों का वशीकरण,
दया = सब प्राणियों से सहानुभूति,
दाक्षिण्यम् = व्यवहार में आग्रह रहितता या चातुर्य,
आस्तिक्यम् = वेद, गुरु और ईश्वर में विश्वास,
आर्जवम् = अकुटिलता,
मार्दवम् = कोमल स्वभाव,
क्षमा = क्रोध का कारण होने पर भी क्रोध न करना,
भावशुद्धिः = मन की सफाई,
अहिंसा = परपीडापरित्याग,
ब्रह्मचर्यम् = अष्टांगमैथुन-त्याग[2]
स्मृतिः = ईश्वर का स्मरण
च = और
धृतिः = मन, प्राण, इन्द्रिय आदि का धैर्य[3]
इति = इतने
एवम् = इस प्रकार के
आदयः = आदि लेकर
अन्ये = दूसरे
च = और
मनस्साध्याः = मन से सम्पादनीय[4]
यमाः = यम[5]
स्मृताः = बताये गये हैं।

व्याख्या

१. शरीरनिर्वाह व अन्य लाभ से अतिरिक्त वाणी अनावश्यक है।

२. स्मरणङ्कीर्तनङ्केलिः प्रेक्षणङ्गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टाङ्गम्प्रवदन्ति हि पण्डिताः॥

३. कष्ट आने पर भी न घबराना।

४. पातञ्जल शास्त्र के लक्षण में इतनी वैज्ञानिकता नहीं है। यहाँ परिगणना नहीं वरन् लक्षण प्रधान है। अमानित्वादि और अद्वेष्य आदि का भी संग्रह कर्त्तव्य है।

५. 'यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्' का रहस्य ही है कि मन का नियंत्रण करने का प्रयत्न न करके नियमों में लगने से पाखण्डी बन जाता है। यह अष्टांग योग मानवमात्र के लिये है और यम प्रथम सोपान है।

—२३—२४क—

स्नानं शौचङ् क्रतुस्सत्यञ्जपोहोमश्चतर्पणम् ।
तपो दानन्तितिक्षा च नमस्कारः प्रदक्षिणम् ।।२३।।
व्रतोपवासाद्याश्चान्ये कायिका नियमास्स्मृताः ।।२४ क।।

(पदच्छेदः)

स्नानम् शौचम् क्रतुः सत्यम् जपः होमः च तर्पणम् ।
तपः दानम् तितिक्षा च नमस्कारः प्रदक्षिणम् ।।२३।।
व्रतोपवासाद्याः च अन्ये कायिकाः नियमाः स्मृताः ।।२४ क।।

(सान्वयार्थः)

स्नानम्	=नहाना,
शौचम्	=सफाई रखना,
क्रतुः	=महेश्वर का पूजन,
सत्यम्	=यथार्थ वचन,
जपः	=मन्त्रोच्चारण,
होमः	=अग्निक्रिया,
च	=और
तर्पणम्	=जल प्रदान,
तपः	=तप,
दानम्	=दान,
तितिक्षा	=शीतोष्णादि द्वन्द्व सहना,
च	=और
नमस्कारः	=नमनक्रिया,
प्रदक्षिणम्	=प्रदक्षिणा,
व्रतोपवासाद्याः	=व्रत, उपवास आदि
च	=और
अन्ये	= दूसरे
कायिकाः	=शरीर से सम्पादनीय[1]
नियमाः	=नियम
स्मृताः	=कहे गये हैं।

व्याख्या

१. शरीर और वाणी से किये जा सकें और योगाविरुद्ध हों वे आहारविहार सभी संग्राह्य हैं।

—२४—२५—२६—

स्वस्तिकङ्गोमुखं पद्मं हंसाख्यं ब्राह्ममासनम् ।।२४।।
नृसिंहङ् गरुडङ्कूर्मन् नागाख्यं वैष्णवासनम् ।
वीरं मयूरं वज्राख्यं सिद्धाख्यं रौद्रमासनम् ।।२५।।

योन्यासनं विदुश्शाक्तं शैवं पश्चिमतानकम् ।
निरालम्वनयोगस्य निरालम्वनमासनम् ॥२६॥

(पदच्छेद:)

स्वस्तिकम् गोमुखम् पद्मम् हंसाख्यम् ब्राह्मम् आसनम् ॥२४॥
नृसिहम् गरुडम् कूर्मम् नागाख्यम् वैष्णवासनम् ।
वीरम् मयूरम् वज्राख्यम् सिद्धाख्यम् रौद्रम् आसनम् ॥२५॥
योन्यासनम् विदुः शाक्तम् शैवम् पश्चिमतानकम् ।
निरालम्बनयोगस्य निरालम्बनम् आसनम् ॥२६॥

(सान्वयार्थ:)

स्वस्तिकम् = स्वस्तिक[1],
गोमुखम् = गोमुख,
पद्मम् = पद्म (और)
हंसाख्यम् = हंस नामक
ब्राह्मम् = ब्रह्मा देवता के (को प्रसन्न करने वाले)
आसनम् = आसन हैं ।
नृसिहम् = नृसिह,
गरुडम् = गरुड,
कूर्मम् = कूर्म (और)
नागाख्यम् = नाग नामक
वैष्णवासनम् = विष्णु के आसन हैं ।
वीरम् = वीर,
मयूरम् = मयूर,
वज्राख्यम् = वज्र नामक (और)
सिद्धाख्यम् = सिद्ध नामक
रौद्रम् = रुद्र देवता को प्रीति कर
आसनम् = आसन हैं ।
योन्यासनम् = योनी नाम का आसन
शाक्तम् = शक्ति देवता का
विदुः = जाना गया है ।
पश्चिमतानकम् = पश्चिम-तानक
शैवम् = शिव को प्रिय है ।
निरालम्बनम्[2] = निरालम्बन
आसनम् = आसन
निरालम्बनयोगस्य = निरालम्बन योग का है ।

व्याख्या

१. आसनों का रहस्य गुरुगम्य है । ये भिन्न देवता सम्बन्धी आसन बताये गये हैं । इनका विस्तार योगग्रन्थों में है ।

२. करचरणादिसंस्थानविशेषनियमालम्बनरहितम् ।

—२७—

प्रसंगप्राप्त निरालम्बन योग बताते हैं :—

निरालम्बतया ध्यानन् निरालम्बस्सदाशिवः ।
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्राणसंयमः ॥२७॥

(पदच्छेदः)

निरालम्बतया ध्यानम् निरालम्बः सदाशिवः ।
रेचकः पूरकः च एव कुम्भकः प्राणसंयमः ॥२७॥

(सान्वयार्थः)

सदाशिवः = सदाशिव
निरालम्बः = (सर्वाधिष्ठान होने से) आश्रय रहित हैं ।
निरालम्बतया = निराश्रय रूप से
ध्यानम् = उपासना (निरालम्बन योग है) ।
रेचकः = सांस छोड़ना,
पूरकः = सांस भरना,
च = और
कुम्भकः = सांस रोकना
एव = ही
प्राणसंयमः = प्राणायाम है ।

—२८—

क्रमप्राप्त प्रत्याहार कहते हैं :—

इन्द्रियाणां समस्तानां विषयेभ्यो निवारणम् ।
प्रत्याहार इति प्रोक्तं प्रत्याहारार्थवेदिभिः ॥२८॥

(पदच्छेदः)

इन्द्रियाणाम् समस्तानाम् विषयेभ्यः निवारणम् ।
प्रत्याहारः इति प्रोक्तम् प्रत्याहारार्थवेदिभिः ॥२८॥

(सान्वयार्थः)

प्रत्याहारार्थवेदिभिः = प्रत्याहार के विशेषज्ञों ने
समस्तानाम् = सारी
इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के
विषयेभ्यः = विषयों से
निवारणम् = हटाने को
प्रत्याहारः = प्रत्याहार
इति = इस प्रकार से
प्रोक्तम् = कहा है ।

—२९—

आधारे क्वापि मनसस्स्थापनन्धारणोच्यते ।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनाञ्चिन्ता ध्यानं प्रचक्षते ॥२९॥

(पदच्छेदः)

आधारे क्व अपि मनसः स्थापनम् धारणाउच्यते ।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनाम् चिन्ता ध्यानम् प्रचक्षते ॥२९॥

(सान्वयार्थः)

क्व	=किसी	धारणा	=धारणा
अपि	=भी	उच्यते	=कही जाती है।
आधारे	= { मूलाधारादि चक्रों में, मूर्ति में, या सूर्य, नक्षत्र, आदि में	ब्रह्म-विष्णु-शिवादीनाम्	= { ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदियों का
		चिन्ता	= { मन की वृत्ति रूप से धारा प्रवाह
मनसः	=मन को	ध्यानम्	=ध्यान
स्थापनम्	=लगाना	प्रचक्षते	=कहा जाता है।

[धारणा में मन का स्थिरीभाव है । ध्यान में प्रवाह है ।]

—३०—

ध्यानादस्पन्दनं बुद्धेस्समाधिरभिधीयते ।
अमनस्कसमाधिस्तु सर्वचिन्ताविवर्जितम् ॥३०॥

(पदच्छेदः)

ध्यानात् अस्पन्दनम् बुद्धेः समाधिः अभिधीयते ।
अमनस्कसमाधिः तु सर्वचिन्ताविवर्जितम् ॥३०॥

(सान्वयार्थः)

ध्यानात्	= { ध्यान से (दीर्घ अभ्यास से)	सर्वचिन्ता-विवर्जितम्	= { सारे चिन्तनों से रहित
बुद्धेः	=बुद्धि का	तु	=तो
अस्पन्दनम्	=स्थिर हो जाना	अमनस्क-समाधिः	= { अमनस्क समाधि[१] है।
समाधिः	= समाधि[१]		
अभिधीयते	=कही जाती है।		

व्याख्या

१. यह समनस्क या सविकल्प या सम्प्रज्ञात समाधि योग का अंग है। इसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूपी त्रिपुटी का लेश रहता है।

२. अमनस्क, निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात समाधि ही अंगी है। इसमें त्रिपुटी, लय, विक्षेप आदि कुछ भी लेश रूप से भी नहीं रहता। यह प्रशान्तावस्था ही प्रत्यभिज्ञा उत्पत्ति में साधन है। प्रत्यभिज्ञा के लिये इसकी अपेक्षा है फिर तो सर्वत्र समाधि है।

—३१—

प्राणसंरोध से चित्तस्थैर्य बताकर साक्षात् चित्तनिरोध का योग बताते हैं :—

चित्ते निश्चलतां याते प्राणो भवति निश्चलः ।
चित्तस्य निश्चलत्वाय योगं सध्यानमभ्यसेत् ॥३१॥

(पदच्छेदः)

चित्ते निश्चलताम् याते प्राणः भवति निश्चलः ।
चित्तस्य निश्चलत्वाय योगम् सध्यानम् अभ्यसेत् ॥३१॥

(सान्वयार्थः)

चित्ते	=चित्त के	सध्यानम्	=ध्यान के साथ
निश्चलताम्	=स्थिरता	योगम्	=समाधि का
याते	=पाने से	चित्तस्य	=चित्त की
प्राणः	=प्राण	निश्चलत्वाय	=स्थिरता के लिये
निश्चलः	=स्थिर	अभ्यसेत्	=अभ्यास करे।
भवति	=होता है।		

व्याख्या

[यहाँ केवल ध्यान और समाधि का अभ्यास पर्याप्त बताया है। यह पतञ्जलि को भी स्वीकृत है। धारणा, ध्यान, समाधि को संयम कहा गया है और शुद्ध चित्त वाले को साध्य है। पूर्व के पाँच अंग बहिर्मुख अशुद्ध चित्त वाले के विक्षेपनिवृत्यर्थ हैं। गुरु कृपा से यह सहज साध्य है।]

—३२—

अब समाधि का एक और साधन बताते हैं:—

आकुञ्चनमपानस्य प्राणस्य च निरोधनम् ।
लम्बिकोपरि जिह्वायास्स्थापनं योगसाधनम् ॥३२॥

(पदच्छेदः)

आकुञ्चनम् अपानस्य प्राणस्य च निरोधनम् ।
लम्बिकोपरि जिह्वायाः स्थापनम् योगसाधनम् ॥३२॥

(सान्वयार्थः)

अपानस्य =अपान का
आकुञ्चनम् =आकुंचन[1]
च =और
प्राणस्य =प्राण का
निरोधनम् =निरोध[2] (और)
जिह्वायाः =जीभ का
लम्बिकोपरि=घण्टिका के ऊपर
स्थापनम् =लगा कर रखना[3]
योगसाधनम्= {समाधि का उपाय है ।

व्याख्या

१. गुदा के संकोचन से वायु का ऊर्ध्वस्रोतप्रवर्तन ।

२. कुंभक से प्राण का शरीर के अन्दर निरोध ।

३. जीभ को उलट कर स्तनखण्ड में से ऊपर को निकाल कर मस्तिष्कस्थ अंगुष्ठपुरुष में स्थित करने से अमृतस्राव होता है । इसके लिये त्रोटन, दोहन आदि आवश्यक हैं ।

—३३—

योग के साधनों को बताकर चित्त और प्राण को वश में किये योगी के चिह्न बताते हैं । ये दूसरों की परीक्षा के लिये नहीं हैं क्योंकि योगी बाज़ीगर नहीं होता जो अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करे । वह तो इन्हें गुह्यांग की तरह छिपाकर रखता है परन्तु ये लक्षण अपने में देखकर योगाभ्यास की वृद्धि को जाने और न देखकर गुरु द्वारा सीखकर अभ्यास बढ़ावे । क्रमशः चिह्न बताते हैं :—

चित्ते निश्चलतां याते प्राणे मध्यपथङ्गते ।
चिह्नान्येतानि जायन्ते पञ्चभूतजयात्पृथक् ॥३३॥

(पदच्छेदः)

चित्ते निश्चलताम् याते प्राणे मध्यपथम्* गते ।
चिह्नानि एतानि जायन्ते पंचभूतजयात् पृथक् ॥३३॥

(सान्वयार्थः)

चित्ते	=चित्त के	पञ्चभूत-जयात्	=पांचभूतों के विजय[3] से
निश्चलताम्	=स्थिरता[1]	पृथक्	=अलग अलग
याते	=पाने पर (और)	एतानि	=ये (निम्नाङ्कित)
प्राणे	=प्राण के	चिह्नानि	=निशान
मध्यपथम्	=सुषुम्ना[2] मार्ग में	जायन्ते	=उत्पन्न होते हैं।
गते	=जाने पर		

व्याख्या

१. बाह्यालम्बन का परित्याग करके लय रहित अवस्था।

२. कुण्डलिनी के जागकर इस मार्ग में प्रविष्ट हो जाने पर।

३. पंचभूतों के स्वदेहस्थ विभागों में तादात्म्य ध्यान से तत्तत् भूत जय होता है। पाद से जानुपर्यन्त (पैर से घुटनों के ऊपर) पृथिवी-स्थान, जानु से नाभिपर्यन्त जल स्थान, नाभि से कण्ठ तक तेजःस्थान, कण्ठ से भ्रूमध्यतक वायु स्थान और उससे ऊपर आकाशस्थान। इनमें क्रम या व्युत्क्रम से भी धारणा की जा सकती है। इनके फलोत्पत्ति से ही इनके विजय का ज्ञान संभव है।

*प्राणमध्ये लयङ्गते इति पाठभेदः।

—३४—

योग के चिह्नों का निरूपण करते हैं:—

मलमूत्रकफाल्पत्वमारोग्यं लघुता तनोः ।
सुगन्धस्स्वर्णवर्णत्वं प्रथमं योगलक्षणम् ॥३४॥

(पदच्छेदः)

मलमूत्रकफाल्पत्वम् आरोग्यम् लघुता तनोः।
सुगन्धः स्वर्णवर्णत्वम्* प्रथमम् योगलक्षणम् ॥३४॥

(सान्वयार्थः)

मलमूत्र-कफाल्पत्वम्	=विष्ठा, पेशाव, और कफ में कमी;[1]
आरोग्यम्	=रोगरहितता;
तनोः	=शरीर का
लघुता	=हलकापना;
सुगन्धः	=अच्छी गन्ध;
स्वर्णवर्णत्वम्	=सोने जैसा रंग,
प्रथमम्	=पहले होने वाले[2]
योगलक्षणम्	=समाधि के लक्षण हैं।

व्याख्या

१. इसका मूल कृष्णयजुर्वेद है। 'पृथ्व्यप्तेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।। लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवञ्च। गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति' ।। (श्वे० २.१२-१३)

२. भूमिस्थान जंय के यह लक्षण हैं। इतना स्मर्तव्य है कि जो इन धारणाओं को नहीं करते उनके भी कुण्डलिनी उत्थान क्रम से ये ही लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अतः सभी योग के अभ्यासी इन चिह्नों से अपनी प्रगति का पता पा सकते हैं। भारी भरकम शरीर, औषधियों से घिरा रहना, मधुमेह, सर्दी, रक्तचापादि से पीडित होना भोग बाहुल्य का चिह्न है, ज्ञानाभ्यासी का नहीं। आज तो ज्ञान और योग का इतना विच्छेद कर दिया गया है कि ज्ञान और भोग का समन्वय चल पड़ा है। पर इतना स्मर्तव्य है कि यहाँ विपरीत लक्षण ठीक नहीं होता। अर्थात् हरेक सुडौल नीरोग और गोरा गवैया योगी नहीं होता।

*स्वरवर्णत्वम् इति पाठभेदः ।

—३५—

कण्टकाग्रेष्वसङ्गत्वञ्जलपङ्केष्वमज्जनम् ।
क्षुत्तृडादिसहिष्णुत्वन्द्वितीयं योगलक्षणम् ।।३५।।

(पदच्छेदः)

कण्टकाग्रेषु असङ्गत्वम् जलपङ्केषु अमज्जनम् ।
क्षुत्तृडादिसहिष्णुत्वम् द्वितीयम् योगलक्षणम् ।।३५।।

(सान्वयार्थः)

कण्टकाग्रेषु	=कांटों की नोकों से	क्षुत्-तृड्-आदि-सहिष्णुत्वम्	=भूख, प्यास आदि को सहना[3],
असंगत्वम्	=बिंधा न जाना;[1]	द्वितीयम्	=दूसरे[4]
जलपंकेषु	=जल और कीचड़ में	योगलक्षणम्	=योग के चिह्न हैं।
अमज्जनम्	=न डूबना[2],		

व्याख्या

१. इसी का विकृत रूप चौराहों पर काँटों में पड़े भिखारी हैं।

२. उन पर चलने की शक्ति का प्रकाश।

३. भूखप्यास की पीडा से शरीर मन का विकृत न होना।

४. जलतत्त्व के विजय का लक्षण है।

—३६—

बह्वन्नपानभोक्तृत्वमातपाग्निसहिष्णुता ।
दर्शनञ्श्रवणन्दूरात्तृतीयं योगलक्षणम् ॥३६॥

(पदच्छेदः)

बह्वन्नपानभोक्तृत्वम् आतपाग्निसहिष्णुता ।
दर्शनम् श्रवणम् दूरात् तृतीयम् योगलक्षणम् ॥३६॥

(सान्वयार्थः)

बह्वन्न-पान-भोक्तृत्वम्	=बहुत ज्यादा भोजन, पान आदि करने की सामर्थ्य;	दूरात्	=बहुत दूर से
		दर्शनम्	=देखना,
		श्रवणम्	=सुनना
आतपाग्नि-सहिष्णुता	=सूर्य या अग्नि की गर्मी में अविकृत रहकर सहन शक्ति;	तृतीयम्	=तीसरे[1]
		योगलक्षणम्	=योग के लक्षण हैं।

व्याख्या

१. अग्नितत्त्वोपासना की सिद्धि है।

—३७—

मण्डूकप्लवनं भूमौ मर्कटप्लवनन्द्रुमे ।
आकाशगमनञ्चेति चतुर्थं योगलक्षणम् ।।३७।।

(पदच्छेदः)

मण्डूकप्लवनम् भूमौ मर्कटप्लवनम् द्रुमे ।
आकाशगमनम् च इति चतुर्थम् योगलक्षणम् ।।३७।।

(सान्वयार्थः)

भूमौ	= जमीन पर	च	= और
मण्डूकप्लवनम्	= मेढक की तरह उछलना,	आकाशगमनम्	= आकाश में गति
द्रुमे	= पेड़ पर	इति	= ये
मर्कटप्लवनम्	= बन्दर की तरह छलांगना,	चतुर्थम्	= चौथे[1]
		योगलक्षणम्	= योगलक्षण हैं।

व्याख्या

१. वायुतत्त्व के साथ तादात्म्यासक्ति का अपूर्व फल है। हनुमान आदि के वायुपुत्र और बन्दर होने का रहस्य यहाँ निहित है। अर्वाचीन काल में श्रीपरमहंस रामकृष्ण ने इसे सिद्ध किया था।

—३८—

ज्ञानन्त्रिकालविषयमैश्वर्यमणिमादिकम् ।
अनन्तशक्तिमत्त्वञ्च पञ्चमं योगलक्षणम् ।।३८।।

(पदच्छेदः)

ज्ञानम् त्रिकालविषयम् ऐश्वर्यम् अणिमादिकम् ।
अनन्तशक्तिमत्त्वम् च पञ्चमम् योगलक्षणम् ।।३८।।

(सान्वयार्थः)

त्रिकालविषयम्	= भूत, वर्तमान और भविष्य की सारी बातों को	अणिमादिकम्	= अणिमादि[1]
		ऐश्वर्यम्	= ऐश्वर्य,
ज्ञानम्	= जानना;	च	= और

अनन्त-शक्ति-मत्त्वम्	= सीमा रहित सामर्थ्य	पञ्चमम्	= पांचवे[2]
		योगलक्षणम्	= योग[3] के चिह्न हैं।

व्याख्या

१. इनका दशमोल्लास में वर्णन करेंगे।

२. आकाश तत्त्व विजय होने का फल है।

३. सर्वत्र फलों की उपलक्षणा समझनी चाहिये। पृथ्वीतत्त्व जय से देह, जो पार्थिव है, की सामर्थ्य बताई। नीरोगता, सुगन्ध आदि पार्थिव ही हैं। जलतत्त्व से देह के जलांश पर नियंत्रण होने से खून में भोजन और पानी की कमी से होने वाली भूख प्यास का नियन्त्रण है। हल्के पने से पानी, कांटों पर चलना है। अग्नि प्रज्वलित हो तो खाने की शक्ति स्वभावसिद्ध है। और अग्नि अपने स्वरूप को क्या जलायगी। वायु जय से हवा में उड़ना ठीक ही है। आकाश तत्त्व तो सर्व बीज होने से अनन्तैश्वर्यप्रद है।

—३९—

भूतों की स्थान विशेष धारणा के फलनिरूपणानन्तर कुण्डलिनी योग का फल बताते हैं:—

प्राणे सुषुम्नां संप्राप्ते नादोन्तश्श्रूयतेऽष्टधा।
घण्टादुन्दुभिशङ्खाब्धिवीणावेण्वादितालवत् ॥३९॥

(पदच्छेदः)

प्राणे सुषुम्नाम् सम्प्राप्ते नादः अन्तः श्रूयते अष्टधा।
घण्टा-दुन्दुभि-शङ्खा-ब्धि-वीणा-वेण्वा-दिताऽऽलवत् ॥३९॥

(सान्वयार्थः)

सुषुम्नाम्	= सुषुम्ना नाडी में	घण्टादुन्दुभि-शङ्खाब्धि-वीणावेण्वा-दिताळवत्	= घण्टा, ढोल, शंख, समुद्र, वीणा, बांसुरी, मंजीर आदि की तरह के[1]
प्राणे	= प्राण के		
सम्प्राप्ते	= प्रविष्ट होने पर		

अष्टधा	=आठ प्रकार के	नादः	=शब्द
अन्तः	=अन्दर होने वाले	श्रूयते	=सुनाई पड़ते हैं।

व्याख्या

१. क्रमशः एक के बाद दूसरे होते हैं। अतः इनसे प्रगति समझना चाहिये। ये सुषुम्ना में प्राण निरोध से मन की वृत्तिस्थिरता का फल हैं। कई साधक तो कान बन्द करके शब्द सुनने को ही नादयोग समझे बैठे हैं।

—४०—

नादों के समानान्तर ही जो दृक् प्रधान फल है उसको बताते हैं :—

तनूनपात्तडित्तारातारेशतपनोपमम् ।
ब्रह्मनाडीङ्गते प्राणे बिम्बरूपं प्रकाशते ॥४०॥

(पदच्छेदः)

तनूनपात्तटित्तारातारेशतपनोपमम् ।
ब्रह्मनाडीम् गते प्राणे बिम्बरूपम् प्रकाशते ॥४०॥

(सान्वयार्थः)

प्राणे	=प्राण के	बिम्बरूपम्	=बिम्ब रूप[२] को
ब्रह्मनाडीम्	=सुषुम्ना में	प्रकाशते	=जाना जाता है।
गते	=जाने पर		
तनूनपात्-तटित-तारा-तारेश-तपनो-पमम्	=अग्नि, बिजली, तारे, चन्द्र, सूर्य आदि की तरह[१]		

व्याख्या

१. धारणासिद्धि के ये फल क्रमशः हैं। दो प्रकार के साधक प्रायः होते हैं। कई तो ध्वनि में स्थैर्य पाते हैं, कई दूसरे रूप में आनन्द पाते हैं। अतः दोनों क्रम बताये गये हैं।

२. विम्बरूप परमेश्वर ही इन उपाधियों के द्वारा प्रकट होता है। अतः यही सगुणसाक्षात्कार है। इस वाक्य का सम्बन्ध पूर्व श्लोक से भी है। साधना के अन्त में तो निर्विशेष सदाशिव स्वयं प्रत्यक्ष होता है।

—४१—

योगों में सर्वाधिक पूज्य और श्रीपरमहंसों द्वारा भावित सर्वफलप्रद सदाशिव के प्रियतम प्रणवयोग का संक्षेप में रहस्योद्घाटन करते हैं :—

श्वासाश्चरन्ति यावन्तो मनुष्यस्य दिनं प्रति।
तावन्ति योजनान्यर्कः श्वासे श्वासे प्रधावति ॥४१॥

(पदच्छेदः)

श्वासाः चरन्ति यावन्तः मनुष्यस्य दिनम् प्रति।
तावन्ति योजनानि अर्कः श्वासे श्वासे प्रधावति ॥४१॥

(सान्वयार्थः)

मनुष्यस्य	=आदमी के	तावन्ति	=उतने
यावन्तः	=जितने	योजनानि	=योजन
श्वासाः	=सांस	श्वासे	=सांस
प्रति	=प्रति	श्वासे	=सांस में
दिनम्	=दिन	अर्कः	=सूर्य[1]
चरन्ति	=चलते हैं,	प्रधावति	=दौड़ता है।

व्याख्या

१. यहाँ सूर्य का उपक्रम निष्प्रयोजन है। श्वास की गति भिन्न पुरुषों में भिन्न रूप होने से और एक पुरुष में भी भिन्न भिन्न कालों में भिन्न होने से सूर्य की गति का परिमाण निर्देश भी इसका तात्पर्य सिद्ध नहीं होता। वस्तुतस्तु अर्क यहाँ आत्मा रूप है। प्रत्येक श्वास में सर्वनाडियों में इसका संचार ही यहाँ निर्दिष्ट है।

—४२—

एकविंशतिसाहस्रं षट्छतं श्वाससङ्ख्यया।
सोहमित्युच्चरत्यात्मा मन्त्रं प्रत्यहमायुषे ॥४२॥

(पदच्छेदः)

एकविंशतिसाहस्रम् षट्छतम् श्वाससङ्ख्यया ।
सः अहम् इति उच्चरति आत्मा मन्त्रम् प्रत्यहम् आयुषे ।।४२।।

(सान्वयार्थः)

आत्मा	=आत्मा	अहम्	=मैं (आत्मा) हूँ
एकविंशति-साहस्रम्	=इक्कीस हजार	इति	=इस प्रकार के
षट्छतम्	=छ सौ[1]	मन्त्रम्	=मन्त्र को
श्वाससङ्ख्यया	=श्वासों की गिनती से	प्रत्यहम्	=प्रति दिन
सः	='वह (ईश्वर)	आयुषे	=आयु रक्षण या वृद्धि के लिये
		उच्चरति	=जप करती है ।

व्याख्या

१. आत्मा सूर्योदय से सूर्योदयपर्यन्त २४ घण्टों में यह अजपा जप करती है। प्रत्येक श्वास में यह जप चलता है।

—४३—

आत्मा का जप जानकर करने से लाभप्रद होता है। अतः उसका प्रकार बताते हैं :—

सकारञ्च हकारञ्च लोपयित्वा प्रयोजयेत् ।
सन्धि वै पूर्वरूपाख्यन्ततोसौ प्रणवो भवेत् ।।४३।।

(पदच्छेदः)

सकारम् च हकारम् च लोपयित्वा प्रयोजयेत् ।
सन्धिम् वै पूर्वरूपाख्यम् ततः असौ प्रणवः भवेत् ।।४३।।

(सान्वयार्थः)

सकारम्	=सकार को[1]	वै	=निश्चित रूप से
च	=और	प्रयोजयेत्	=करे
हकारम्	=हकार को	ततः	=इससे
लोपयित्वा	=लुप्त करके	असौ	=यह
च	=और	प्रणवः	=प्रणव
पूर्वरूपाख्यम्	=पूर्वरूप नामकी	भवेत्	=बनता है।
सन्धिम्	=सन्धि को.		

व्याख्या

१. 'सोहं' मंत्र में से व्यञ्जनद्वय स और ह को हटा देने से 'ओ अं' रह जाता है। पूर्वरूपसन्धि से 'ओं' रह जाता है। यह ओङ्कार की व्युत्पत्ति इस मंत्र के प्राधान्य निर्देशार्थ है।

—४४—

इस प्रणव के अवयवों को अलग करके ध्यानार्थ बताते हैं:—

अकारश्चाप्युकारश्च मकारो बिन्दुनादकौ।
पञ्चाक्षराण्यमून्याहुः प्रणवस्थानि पण्डिताः ॥४४॥

(पदच्छेदः)

अकारः च अपि उकारः च मकारः बिन्दुनादकौ।
पञ्चाक्षराणि अमूनि आहुः प्रणवस्थानि पण्डिताः ॥४४॥

(सान्वयार्थः)

अकारः	=अकार	अमूनि	=ये
च	=और	पञ्चाक्षराणि	=पांच अक्षर
उकारः	=उकार	प्रणवस्थानि	=प्रणव में रहने वाले
च	=और	पण्डिताः	=आत्मवेत्ताओं ने
मकारः	=मकार	आहुः	=बताये हैं।
अपि	=और भी		
बिन्दु-नादकौ[1]	=बिन्दु और नाद[2]		

व्याख्या

१. अश्च उश्च ओ। एतदुपरि मकारे योजिते। अयं च मकारः स्वरहीनत्वात् परेण बिन्दुना योज्यः। तदा ओमिति रूपं निष्पद्यते। एतच्च घोषवता प्राणेन एकीकारेण नादेन मूलाधारादुत्थितेन प्राणोष्मसञ्चरण-नाडीगतसुषिराभिव्यक्तेन अभिव्यज्यत इति नादावसान उच्यते।

२. 'ओम्' यह प्रकार तो लौकिक है। बिन्दु और नाद को दिखाने के लिये अलौकिक 'ॐ' है। प्रणवशब्दवाच्य पिण्ड में ये पाँच अक्षर समझने चाहिये। नाद सामान्यरूप पाँचवाँ अक्षर है।

—४५—

अब इन अक्षरों के देवताओं को क्रमशः बताते हैं :—

ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्चापीश्वरश्च सदाशिवः ।
तेष्वक्षरेषु तिष्ठन्ति षट्त्रिंशत्तत्त्वसंयुताः ॥४५॥

(पदच्छेदः)

ब्रह्मा विष्णुः च रुद्रः च अपि ईश्वरः च सदाशिवः ।
तेषु अक्षरेषु तिष्ठन्ति षट्त्रिंशत्तत्त्वसंयुताः ॥४५॥

(सान्वयार्थः)

षट्त्रिंशत्तत्त्व-संयुताः	= छत्तीस तत्त्वों से युक्त हुये[1]	च	= और
ब्रह्मा	= ब्रह्मा	ईश्वरः	= ईश्वर
च	= और	अपि	= एवं
विष्णुः	= विष्णु	सदाशिवः	= सदाशिव
च	= और	तेषु	= इन
रुद्रः	= रुद्र	अक्षरेषु	= अक्षरों में[2]
		तिष्ठन्ति	= रहते हैं ।

व्याख्या

१. प्रणव से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है। सारे तत्त्वों को प्रणवान्तर्गत बता कर उसकी पूर्णरूपता का प्रतिपादन है। सारे वाच्य वाचक से ग्रस्त ही प्रतीत होते हैं। प्रणवाक्षरों से सारे ही वाचकों का ग्रहण है। प्रणव को सर्वशब्दसामान्यरूपता से सर्वशब्दव्यापकता सिद्ध है। 'तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक्' (छा०२.२३.४.) 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' (माण्डू१.) इत्यादि श्रुतियाँ इसी का प्रतिपादन करती हैं।

ऊँकार ब्रह्म को अभिन्न प्रतिपादन कर पूर्ण अद्वितीय ब्रह्म रूप प्रणव संवृत्त है अतः उसी रूप से वह उपास्य है।

प्रणवोपासना निवृत्तैपणा वालों के लिये प्रधान है यह उपनिषदों में प्रतिपादित है। परमेश्वर प्राप्ति के लिये प्रणवोपासना श्रेष्ठतम है।

२. इन अक्षरों के अधिष्ठाता ये देवता हैं। प्रणव के न्यासादि ज्ञातव्य विषय उपासना ग्रन्थों में विस्तार से दिये हैं।

—४६—

सारी उपासनाओं का मूल गुरु कृपा है और सारी सिद्धियों का मूल शिव कृपा है। गुरु कृपा प्राप्त होने पर और कर्तव्य शेष नहीं रहता :—

गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टाङ्गलक्षणम्।
शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिञ्च शाश्वतीम् ॥४६॥

(पदच्छेदः)

गुरुप्रसादात् लभते योगम् अष्टाङ्गलक्षणम्।
शिवप्रसादात् लभते योगसिद्धिम् च शाश्वतीम् ॥४६॥

(सान्वयार्थः)

गुरुप्रसादात्	=गुरु[1] की कृपा से	शिव-प्रसादात्	=शिव की कृपा से
अष्टांग-लक्षणम्	=आठों अंगों के स्वरूप वाला	शाश्वतीम्	=नित्य
योगम्	=योग[2]	योगसिद्धिम्	=योग की सिद्धि[3]
लभते	=मिलता है।	लभते	=मिलती है।
च	=और		

व्याख्या

१. गुरु-शिव उपासनाधीन सारी सिद्धियाँ हैं।

गुरु कृपा से अष्टांगयोग प्राप्ति बताई। पर गुरु होना चाहिये। अन्यथा आजकल तो नामधारण करना ही गुरुत्व है जिससे शिष्य और गुरु दोनों ही का भविष्य अन्धकारमय है। अद्वयतारक में कहा है 'गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥'

२. समनस्कयोग।

३. अमनस्कयोग रूप आत्मतत्त्वाविर्भाव। गीता में योगसंसिद्ध पद से और भगवान गौडपादाचार्यों ने अस्पर्श योग नाम से इसे ही बताया है।

—४७—

साधनाध्याय के उपसंहार में मंगलाचरण व्याज से प्रणवार्थ प्रकटन करते हुये सर्वसाधनस्वतंत्र श्रीदक्षिणामूर्ति की कृपा का निरूपण करते हैं :—

सच्चिदानन्दरूपाय बिन्दुनादान्तरात्मने ।
आदिमध्यान्तशून्याय गुरूणाङ् गुरवे नमः ॥४७॥

(सान्वयार्थः)

सच्चिदानन्दरूपाय	= सत्ता, चैतन्य, आनन्द स्वरूप[1],	आदिमध्यान्तशून्याय	= शुरू, बीच और खातमे से रहित[3]
बिन्दुनादान्तरात्मने	= बिन्दु और नाद के अन्दर आत्म-रूप वाले[2],	गुरूणाम्	= सभी गुरुओं के
		गुरवे	= गुरु श्री दक्षिणा मूर्ति को[4]
		नमः	= नमस्कार है।

व्याख्या

१. स्वरूपलक्षण बताते हुये अ को सत्तारूप, उ को चिद्रूप और म को आनन्द रूप बताते हैं।

२. बिन्दु और नाद रूप और नाम हैं अतः आविर्भाव तिरोभाव धर्मवाले हैं। यह तटस्थ लक्षण या उपलक्षण है। उत्पत्ति, स्थिति और लय के आधार-भूत वस्तु को बताने से प्रणव ब्रह्म का उपलक्षण है। बिन्दु व्यक्त है और नाद अव्यक्त अतः व्यक्ताव्यक्त दोनों उसी में हैं।

३. उस महेश्वर की अन्याश्रयता को हटाते हैं। वह सर्व अभावों का भी अभावरूप है।

४. 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' अतः सारे गुरुओं के आदि गुरु भगवान दक्षिणामूर्ति हैं। उनसे पूर्व कोई गुरु नहीं है। वह गुरुपरम्परा के अन्तिम आश्रय हैं। सृष्टि के आदि में इन्हींने ज्ञान का विस्तार किया और आज भी उनकी कृपा से, जो शिव और गुरु की सम्मिलित कृपा रूप है, अन्य साधन बिना भी मोक्ष होता है। सूतसंहिता में 'बहवो दक्षिणामूर्तिप्रसादादेव जन्तवः। अनायासेन संसाराद्विमुक्ताः

परमर्षयः ॥' (३.४.४६) कहकर स्पष्ट ही श्रीदक्षिणामूर्ति की उपासना को एक स्वतन्त्र मार्ग रूप से बताया है। जन्तु पद से भगवान दक्षिणामूर्ति मानव से भिन्न को भी ज्ञान देते हैं यह बताया। अनायास पद से अयत्नसाध्यता बताई है। यह सर्वसाधनों से श्रेष्ठतम है और स्वयं मूलकार शंकरभगवत्पाद और सुरेश्वराचार्य द्वारा सिद्ध है। श्रीपरमहंसों की तो यही साधना है। ये भोग मोक्ष दोनों देती है अतः गृहस्थों के लिये भी सरलता से कर्तव्य है।

—४८—

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके ।
प्रबन्धे मानसोल्लासे नवमोल्लाससंग्रहः ॥४८॥

इस प्रकार श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लास नामक प्रबन्धका नवमोल्लास संक्षेप से समाप्त हुआ।

अथ दशमोल्लास संग्रहः

साधननिरूपण के पश्चात् फलाध्याय प्रारंभ करते हैं :—

परिच्छिन्नमहम्भावं परित्यज्यानुषङ्गिकम् ।
पूर्णाहम्भावलाभोस्य स्तोत्रस्य फलमुच्यते ॥१॥

(पदच्छेदः)

परिच्छिन्नम् अहम्भावम् परित्यज्य आनुषङ्गिकम् ।
पूर्णाहम्भावलाभः अस्य स्तोत्रस्य फलम् उच्यते ॥१॥

(सान्वयार्थः)

आनुषङ्गिकम्	=निमित्त से प्राप्त[1]	अस्य	=इस
परिच्छिन्नम्	=सीमाबद्ध	स्तोत्रस्य	=स्तोत्र का
अहम्भावम्	=अहन्ता को	फलम्	=फल
परित्यज्य	=छोड़कर	उच्यते	=कहा जाता है ।
पूर्णाहम्भावलाभः	=अनन्ताहंता की प्राप्ति[2]		

व्याख्या

१. देहादि में अभिमान से आई हुई। अहंता स्वरूप से पूर्ण है और एक है। सारे प्राणी अपने को अहं मानते हुये उसकी पूर्णता का प्रतिपादन करते हैं। अहं के बहुवचन का वैचित्र्य उसके नानात्व और परिच्छिन्नता का बाधक प्रमाण है। सर्वसाक्ष्य की परिसमाप्ति सर्व साक्षी में है।

२. पूर्णाहन्ता का निश्चय कराने से अहं को वर्तमान भिन्न सत्ता और जीवन से हटाकर आत्मैक्य में स्थित करना ही उद्देश्य है। हमारे

जीवन का अभिशाप भेदधी ही है। अतः सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक आदि सभी क्षेत्रों में पूर्णाहन्ता की दृष्टि लाभप्रद है।

सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुष्मिंस्तवे
तेनास्य श्रवणात्तथार्थमननाद्ध्यानाच्च संकीर्तनात्।
सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतः
सिद्ध्येत्तत्पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम्॥

(पदच्छेदः)

सर्वात्मत्वं इति स्फुटीकृतं इदं यस्मात् अमुष्मिन् स्तवे तेन अस्य श्रवणात् तथा अर्थमननात् ध्यानात् च संकीर्तनात् सर्वात्मत्व-महा-विभूति-सहितं स्यात् ईश्वरत्वं स्वतः सिद्ध्येत् तत् पुनः अष्टधा परिणतं च ऐश्वर्यम् अव्याहतम्

(सान्वयार्थः)

इदं	= इस	संकीर्तनात्	= संकीर्तन करने से (पाठ या दूसरे को सुनाने से)
सर्वात्मत्वं	= सर्वरूपता को	सर्वात्मत्व-महाविभूति-सहितं	= सर्वात्मभाव-रूपी महान् के सिद्धि साथ
स्फुटीकृतं	= स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है	तत्	= श्रुतिस्मृतिप्रसिद्ध
तेन	= इसलिये	ईश्वरत्वं	= सर्वेश्वरता
अस्य	= इस स्तोत्र के	स्वतः	= अनायास ही
श्रवणात्	= (गुरुमुख से विधिवत्) सुनने से	स्यात्	= हो जाती है
तथा	= एवं	पुनः	= और (फिर)
अर्थमननात्	= उसके अर्थ पर युक्तिपूर्वक विचार करने से,	परिणतं	= माया का परिणाम रूप
ध्यानात्	= ध्यान करने से	अष्टधा	= अणिमादि आठ प्रकार का
च	= और		

ऐश्वर्यम्	=ऐश्वर्य	अव्याहतं	= विना किसी रुकावट के
च	=भी	सिद्ध्येत्	= सिद्ध हो जाता है।

[उस परब्रह्म परमात्मा के लवांश ऐश्वर्य को प्राप्त कर ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र आदि अपने कार्य को करते हैं। उस ऐश्वर्य की प्राप्ति ही पूर्णाहन्ता का उदय है एवं वह ईश्वर से अभिन्न होने के कारण सिद्ध को स्वतः प्राप्त है। जबकि ब्रह्मादि भी उसके वश में हो जाते हैं तो अन्य राजादि की तो बात ही क्या ? वस्तुतस्तु घट के जल में स्थित सूर्यप्रतिबिम्ब स्वदृष्टधा सूर्य रूप को प्राप्त होता है पर अन्य घटशरावादिस्थ प्रतिबिम्बों की दृष्टि में बिम्बरूप प्राप्ति है। इसी प्रकार जीव स्वदृष्ट्या तो सदाशिव में लीन होता है पर अन्य जीवदृष्ट्या ईश्वर-प्राप्ति करता है। अतः उन्हें उसमें ऐश्वर्य का भान होता है।]

इदमत्राकूतम् :— यह यहाँ वक्तव्य है :—

—२—

पुत्रपौत्रगृहक्षेत्रधनधान्यसमृद्धयः ।
अर्वाचीनाश्च सिध्यन्ति स्वर्गपातालभूमिषु ॥२॥

(पदच्छेदः)

पुत्र-पौत्र-गृह-क्षेत्र-धन-धान्य-समृद्धयः ।
अर्वाचीनाः च सिद्ध्यन्ति स्वर्गपातालभूमिषु ॥२॥

(सान्वयार्थः)

च	=और[1]	पुत्र-पौत्र-गृह-क्षेत्र-धन-धान्य-समृद्धयः	= बेटे, पोते, घर खेत, पैसा, अनाज आदि समृद्धियाँ
स्वर्ग-पाताल-भूमिषु	= स्वर्ग लोक, पाताल लोक और भूलोक आदि में[2]	सिद्ध्यन्ति	=सिद्ध होती हैं।
अर्वाचीनाः	=क्षुद्र[3]		

व्याख्या

१. स्तोत्र का पारमार्थिक फल बताकर व्यावहारिक फल भी बताते हैं। दोनों के समुच्चयार्थ यह पद है।

२. इन सारे फलों को यथाभूत माना जा सकता है। अर्थात् सकाम साधक को तत्तत्फल यह स्तोत्र देगा। अथवा यह प्रशंसामात्र है। प्रवृत्ति कराने के लिये प्रशंसा उपयोगी होती है।

वस्तुतस्तु पूर्णाहन्ता की प्राप्ति के कारण समस्त विश्व के ईश्वर भाव की तादात्म्य प्राप्ति हो जाती है। अतः किसी न किसी रूप से स्वयं ही सर्वत्र इन सब लोकों के भूत, भावी और वर्तमान फल को भोग रहा है। अतः सभी भोगों की प्राप्ति आनुषङ्गिक स्वयं सिद्ध है।

३. यद्यपि इस स्तोत्र से सभी वाञ्छित पदार्थ मिलते ही हैं पर धीमान् को इसका सकाम प्रयोग न करना चाहिये। पारमेश्वर पद प्राप्ति के लिये किया हुआ ही इसका प्रयोग सफल होता है। प्रसंगतः वस्तुमहिमा से अन्य फल होवें।

—३—

असंकलित भी अवान्तर फल सिद्धि होती है :—

पाके प्रवर्तमानस्य शीतादिपरिहारवत्।
प्रासङ्गिकाश्च सिध्यन्ति स्तोत्रेणानेन सर्वदा ॥३॥

(पदच्छेदः)

पाके प्रवर्तमानस्य शीतादिपरिहारवत्।
प्रासङ्गिकाः च सिद्ध्यन्ति स्तोत्रेण अनेन सर्वदा ॥३॥

(सान्वयार्थः)

पाके	= रसोई बनाने में	स्तोत्रेण	= स्तोत्र से
प्रवर्तमानस्य	= प्रवृत्त व्यक्ति का	सर्वदा	= हमेशा
शीतादिपरिहारवत्	= ठण्ढ, अन्धेरा हटने की तरह	प्रासङ्गिकाः	= प्रसंगप्राप्त
		च	= भी[1] (फल)
अनेन	= इस	सिद्धयन्ति	= सिद्ध होते हैं।

व्याख्या

१. पूर्णाहन्ता तो निर्विवाद सिद्ध होती है अतः उसका अनुक्त ही समुच्चय चकार से है।

—४—

सामान्यतः तात्पर्य कहकर स्तोत्र में उक्त ईश्वर का व्याख्यान करते हैं:—

ऐश्वर्यमीश्वरत्वं हि तस्य नास्ति पृथक्स्थितिः ।
पुरुषे धावमानेपि छाया तमनुधावति ।।४।।

(पदच्छेदः)

ऐश्वर्यम् ईश्वरत्वम् हि तस्य न अस्ति पृथक् स्थितिः ।
पुरुषे धावमाने अपि छाया तम अनुधावति ।।४।।

(सान्वयार्थः)

हि	=चूंकि	अस्ति	=है।
ऐश्वर्यम्	=ऐश्वर्य[1]	पुरुषे	=मनुष्य के
ईश्वरत्वम्	={ईश्वर का स्वरूप है;	धावमाने	=दौडने पर[2]
		अपि	=भी
तस्य	=उसकी	छाया	=छाया
पृथक्	=अलग	तम्	=उसके
स्थितिः	=सत्ता	अनुधावति	=पीछे दौड़ती है।
न	=नहीं		

व्याख्या

१. बिना पूर्णाहन्ता प्राप्त किये ऐश्वर्य को पाना असंभव है क्योंकि तप से शक्ति मिलने पर भी स्वतन्त्रता नहीं रहती। स्वातंत्र्य ही वास्तविक ऐश्वर्य है। ईश्वर में ही ऐश्वर्य रहेगा। जो केवल ऐश्वर्योपासक हैं, वे अल्प समय तक भोग करके पुनः अनीश्वरता को प्राप्त करते हैं। हिरण्यकशिपु, रावण आदि इसी के दृष्टान्त हैं। वर्तमान काल में भी संसार ईश्वर के बिना ऐश्वर्य चाहता है अतः सर्वनाश के कगारे पर खड़ा है।

२. ईश्वरत्व ईश्वर में न रहे यह असंभव है। अतः पूर्णाहन्ता की प्राप्ति से ऐश्वर्य अवश्य आता है। छाया से दूर भागने की इच्छा वाले को भी छाया छोड़ती नहीं। इसी प्रकार प्रकाश स्वरूप सदाशिव

को छाया रूप माया छोड़ती नहीं। साधक में निवृत्तिपरायणता स्वाभाविक है पर ऐश्वर्य प्राप्ति अवश्यंभावी है। उसका प्रदर्शन तो साधक करेगा ही नहीं। अतः आधुनिकों की यह मान्यता कि ब्रह्म प्राप्ति है, ईश्वर प्राप्ति नहीं, सुरेश्वराचार्यों को मान्य नहीं। स्वयं श्रुति भी उसमें 'स यदि पितृलोककामो भवति' (छा० ८.२.१) आदि से यही निर्देश करती है।

—५—

वह कौन सा ऐश्वर्य है जो ईश्वर से छाया की तरह चिपटा ही रहता है :—

अनन्तशक्तिरैश्वर्यंन्निष्यन्दाश्चाणिमादयः ।
स्वस्येश्वरत्वे संसिद्धे सिद्ध्यन्ति स्वयमेवहि ॥५॥

(पदच्छेदः)

अनन्तशक्तिः ऐश्वर्यम् निष्यन्दाः च अणिमादयः ।
स्वस्य ईश्वरत्वे संसिद्धे सिद्धयन्ति स्वयम् एव हि ॥५॥

(सान्वयार्थः)

ऐश्वर्यम्	=ऐश्वर्य	ईश्वरत्वे	=ईश्वरभाव
अनन्तशक्तिः	=अनन्तशक्ति[1] है।	संसिद्धे	=सम्यक् सिद्ध हो जाने पर
च	=और	स्वयम्	=खुद[3]
अणिमादयः	=अणिमादि[2]	एव	=ही
निष्यन्दाः	=(उस ऐश्वर्य में से) टपके हुये कण हैं।	हि	=अवश्य ही
स्वस्य	=अपना	सिद्धयन्ति	=सिद्ध हो जाते हैं।

व्याख्या

१. सर्वशक्ति रूप वाणी का अविषय अनतिशय सहज स्वतंत्र अपरिच्छिन्न सामर्थ्य ही ऐश्वर्य है।

२. अणिमादियों में ऐश्वर्यशब्द प्रसिद्ध होने से वही अर्थ न करने में कारण बता रहे हैं। वे परिच्छिन्न भी हैं और ईश्वर से अतिरिक्त

अन्य लोगों में भी थोड़ी बहुत मिल जाती हैं। श्रुति भी 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ६.३.३२) में इसी का निर्देश करती है।

३. अणिमादि प्रासंगिक सिद्धियों के लिये प्रयोग न करके इस स्तोत्र का प्रयोग महेश्वर प्राप्त्यर्थं ही करना चाहिये। वे अणिमादि तो अनायास ही जीव को मिल जाती हैं।

—६—

और तो क्या ब्रह्मादि भी महेश्वर के अंशलव ही हैं:—

यदीयैश्वर्यविप्रुड्भिर्ब्रह्मविष्णुशिवादयः।
ऐश्वर्यवन्तो भासन्ते स एवात्मा सदाशिवः ॥६॥

(पदच्छेदः)

यदीयैश्वर्यविप्रुड्भिः ब्रह्म-विष्णु-शिवादयः।
ऐश्वर्यवन्तः भासन्ते* स एव आत्मा सदाशिवः ॥६॥

(सान्वयार्थः)

यदीयैश्वर्यविप्रुड्भिः	= जिसके ऐश्वर्य कणों से	भासन्ते	= मालूम पड़ते हैं;
ब्रह्मविष्णुशिवादयः	= ब्रह्मा, विष्णु, शिव[1] आदि	स	= वह
ऐश्वर्यवन्तः	= ऐश्वर्य वाले[2]	सदाशिवः	= सदाशिव
		आत्मा	= आत्मा[3]
		एव	= ही है।

व्याख्या

१. सर्वाधिक ऐश्वर्य शास्त्रों में इन देवों का ही प्रसिद्ध है अतः पौराणिक श्रोताओं को इनके ऐश्वर्य प्राप्ति की अभिलाषा हो कर स्तोत्र में प्रवृत्ति हो जाय तो इनका ऐश्वर्य भी माहेश्वर पद के समान नहीं है। उसके कणवत् ही है।

२. वस्तुतः इनके ईश्वरत्व का कारण भी आत्मा है। आत्मा से रहित होकर तो ये भी अनात्म, दृश्य, जड़, परिच्छिन्न भाव को प्राप्त हो जाते हैं। परिच्छिन्न अहन्ता की लेशानुवृत्ति के कारण ही पुराणों

में इनका पारस्परिक पराभव आदि देखा जाता है। इनमें पूर्णाहन्ता का उदय है अतः सर्वपूज्य हैं। पर ऐश्वर्य प्रयोग काल में तत्तद्गुण से परिच्छिन्नता स्वीकार करनी ही पड़ती है अतः उसे लेश बताया। व्यवहार अपरिच्छिन्नभाव से संभव नहीं।

३. सदाशिव और आत्मा में अत्यन्त अभेद है। सदाशिव की विभूतियाँ ही ब्रह्मा, विष्णु आदि हैं। और पूर्णाहन्ता को प्राप्त विद्वान् सदाशिव से अभिन्न है।

*शासन्ते इति पाठभेदः।

—७—

ब्रह्मादि के ऐश्वर्य को भी अनिच्छा से ही स्वभाव महिमा द्वारा विद्वान् प्राप्त कर लेता है :—

पुष्पमानयता गन्धो विनेच्छामनुभूयते ।
पूर्णाहम्भावयुक्तेन परिच्छिन्ना विभूतयः ॥७॥

(पदच्छेदः)

पुष्पम् आनयता गन्धः विना इच्छाम् अनुभूयते ।
पूर्णाहम्भावयुक्तेन परिच्छिन्नाः विभूतयः ॥७॥

(सान्वयार्थः)

पुष्पम्	=फूल को	पूर्णाहम्भाव-युक्तेन	=पूर्णाहंता[1] से युक्त (विद्वान्)
आनयता	=लाने वाला (पुरुष)	परिच्छिन्नाः	=सीमित[2]
विना	=विना[1]		
इच्छाम्	=इच्छा के		
गन्धः	=गन्ध	विभूतयः	=विभूतियों (का इसी प्रकार बिना इच्छा के ही अनुभव करता है।)
अनुभूयते	=अनुभव करता है।		

व्याख्या

१. जैसे अग्निप्राप्ति से स्वयं ताप का अनुभव होता है, उसके

लिये इच्छा या चेष्टा अनावश्यक है ऐसे ही पूर्णाहंता से स्वयं ऐश्वर्यानुभूति होती है।

२. पूर्णाहन्ता (दृ० ४.३१) निर्विकल्प अपरिच्छिन्न आत्मभाव है।

३. ब्रह्मा, विष्णु आदि सीमित विभूतियाँ कही जाती हैं। सदाशिव ही अपरिमित शक्ति वाला है। अतः पूर्णात्मा सदाशिव में ही भावना कर्तव्य है, ब्रह्मा आदि में नहीं, यह सिद्ध हुआ। यही स्तोत्र फल स्तुति का तात्पर्य है।

—८—

प्रसक्त अणिमादि ऐश्वर्य का निरूपण करते हुये 'अष्टधा परिणतं' का व्याख्यान करते हैं:—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वञ्चाष्टसिद्धयः ॥८॥

(पदच्छेदः)

अणिमा महिमा च एव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यम् ईशित्वम् वशित्वम् च अष्टसिद्धयः ॥८॥

[ये आठ सिद्धियों के नाम बताये हैं।]

—९—

अत्यन्तमणुषु प्राणिष्वात्मत्वेन प्रवेशनम्।
अणिमासञ्ज्ञमैश्वर्यं व्याप्तस्य परमात्मनः ॥९॥

(पदच्छेदः)

अत्यन्तम् अणुषु प्राणिषु आत्मत्वेन प्रवेशनम्।
अणिमासञ्ज्ञम् ऐश्वर्यम् व्याप्तस्य परमात्मनः ॥९॥

(सान्वयार्थः)

व्याप्तस्य	= सर्वव्यापक	आत्मत्वेन	= आत्मरूप से
परमात्मनः	= परमात्मा का	प्रवेशनम्	= घुसना
अत्यन्तम्	= अत्यन्त	अणिमासञ्ज्ञम्	= अणिमा नामक
अणुषु	= छोटे	ऐश्वर्यम्	= ऐश्वर्य है।
प्राणिषु	= प्राणियों में		

व्याख्या

१. सर्वत्र होते हुये भी प्राणियों के हार्दाकाश में रहता है। प्रत्यगात्म रूपेण उसका अनुभव है।

—१०—

ब्रह्माण्डादिशिवान्तायाष्षट्त्रिंशत्तत्त्वसंहतेः ।
वहिश्च व्याप्यवृत्तित्वमैश्वर्यं महिमाह्वयम् ॥१०॥

(पदच्छेदः)

ब्रह्माण्डादिशिवान्तायाः षट्त्रिंशत्तत्त्वसंहतेः ।
बहिः च व्याप्यवृत्तित्वम् ऐश्वर्यम् महिमाह्वयम् ॥१०॥

(सान्वयार्थः)

ब्रह्माण्डादि-शिवान्तायाः	= ब्रह्माण्ड से शिव[1] तक	बहिः	= बाहिर
षट्त्रिंशत्तत्त्व-संहतेः	= छत्तीस तत्त्व संघात रूप	व्याप्यवृत्तित्वम्	= व्याप्यवृत्तिरूप
च	= और	महिमाह्वयम्	= महिमा नामक
		ऐश्वर्यम्	= ऐश्वर्य है ॥

व्याख्या

१. यहाँ शिव से विराट् में अभिव्यक्त आत्मा ग्राह्य है।

—११—

महामेरुसमाङ्गस्य समुद्धरणकर्मणि ।
लाघवे तूलतुल्यत्वं लघिमानं विदुर्बुधाः ॥११॥

(पदच्छेदः)

महामेरुसमाङ्गस्य समुद्धरणकर्मणि ।
लाघवे*तूलतुल्यत्वम् लघिमानम् विदुः बुधाः ॥११॥

(सान्वयार्थः)

महामेरु-समाङ्गस्य[1]	= महामेरु के समान अंग वाले (पुरुष) का	तूलतुल्यत्वम्	= रूई की समानता को
समुद्धरणकर्मणि	= उठाने पर	बुधाः	= विद्वान् लोग
लाघवे	= हल्के पने में	लघिमानम्	= लघिमा सिद्धि
		विदुः	= जानते हैं।

व्याख्या

१. योगिनो विशेषणमेतत् ।

*योगेन । योगिनः । इति पाठान्तरद्वयम् ।

—१२—

परमाणुसमाङ्गस्य समुद्धरणकर्मणि ।
गौरवे मेरुतुल्यत्वङ्गरिमाणं विदुर्बुधाः ॥१२॥

(सान्वयार्थः)

परमाणुसमाङ्गस्य	= परमाणु के समान अंगवाले का	मेरुतुल्यत्वम्	= मेरु की समानता को
समुद्धरणकर्मणि	= उठाने पर	बुधाः	= विद्वान् लोग
गौरवे	= भारी पने में	गरिमाणम्	= गरिमा सिद्धि
		विदुः	= जानते हैं।

—१३—

पातालवासिनः पुंसो ब्रह्मलोकावलोकनम् ।
प्राप्तिर्नाम महैश्वर्यं सुदुष्प्रापमयोगिनाम् ॥१३॥

(पदच्छेदः)

पाताळवासिनः पुंसः ब्रह्मलोकावलोकनम् ।
प्राप्तिः नाम महैश्वर्यम् सुदुष्प्रापम्* अयोगिनाम् ॥१३॥

(सान्वयार्थः)

पाताळवासिनः	= पाताल में रहने वाले	सुदुष्प्रापम्	= अत्यन्त कठिनता से भी प्राप्त न होने वाला
पुंसः	= पुरुष का	प्राप्तिः	= प्राप्ति
ब्रह्मलोकावलोकनम्	= ब्रह्मलोक को देखना	नाम	= नामक
अयोगिनाम्	= अयोगियों को	महैश्वर्यम्	= महान् ऐश्वर्य है।

*दुष्प्रापमपि योगिनाम् इति पाठान्तरम् ।

—१४—

आकाशगमनादीनामन्यासां सिद्धिसम्पदाम् ।
स्वेच्छामात्रेण संसिद्धिः प्राकाम्यमभिधीयते ॥१४॥

(पदच्छेदः)

आकाशगमनादीनाम् अन्यासाम् सिद्धिसम्पदाम् ।
स्वेच्छामात्रेण संसिद्धिः प्राकाम्यम् अभिधीयते ॥१४॥

(सान्वयार्थः)

आकाशगमनादीनाम्	= आकाश में गति आदि,	स्वेच्छामात्रेण	= अपनी इच्छा मात्र[1] से
अन्यासाम्	= दूसरी	संसिद्धिः	= सम्यक् सिद्धि
सिद्धिसम्पदाम्	= सिद्धियों की सम्पत्ति	प्राकाम्यम्	= प्राकाम्य
		अभिधीयते	= कही जाती है।

व्याख्या

१. प्रयत्नान्तर निरपेक्ष। सामान्यतः प्राणायाम या धारणा या औषधि का प्रयोग अपेक्षित रहता है।

—१५—

प्राकाम्य के स्थान पर कई योगी प्राकाश्य नामक सिद्धि का वर्णन करते हैं :—

स्वशरीरप्रकाशेन सर्वार्थानां प्रकाशनम् ।
प्राकाश्यमिदमैश्वर्यमिति केचित्प्रचक्षते ॥१५॥

(पदच्छेदः)

स्वशरीरप्रकाशेन सर्वार्थानाम् प्रकाशनम् ।
प्राकाश्यम् इदम् ऐश्वर्यम् इति केचित् प्रचक्षते* ॥१५॥

(सान्वयार्थः)

केचित्	= कुछ योगी[1]	सर्वार्थानाम्	= सारे पदार्थों का
स्वशरीरप्रकाशेन	= अपने शरीर के ज्ञान[2] से	प्रकाशनम्	= ज्ञान

इति	=है	प्राकाश्यम्	=प्राकाश्य नामक
इदम्	=इस	प्रचक्षते	=कहते हैं।
ऐश्वर्यम्	=ऐश्वर्य को		

व्याख्या

१. पक्षान्तर द्योतक शब्द है।

२. पिण्ड ज्ञान से ब्रह्माण्ड का ज्ञान कर लेना। अथवा प्रकाश का अर्थ रोशनी। अपने शरीर में रोशनी हो जाना जिससे बाह्य पदार्थ दिखने लगें।

*कैश्चित्प्रचक्ष्यते इति पाठभेदः।

—१६—

स्वेच्छामात्रेणलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकर्तृता।
सूर्यादीनान्नियोक्तृत्वमीशित्वमभिधीयते ॥१६॥

(पदच्छेदः)

स्वेच्छामात्रण लोकानाम् सृष्टिस्थित्यन्तकर्तृता।
सूर्यादीनाम् नियोक्तृत्वम् ईशित्वम् अभिधीयते ॥१६॥

(सान्वयार्थः)

स्वेच्छामात्रेण	=अपनी इच्छा मात्र[1] से	सूर्यादीनाम्	=सूर्य आदियों को
लोकानाम्[2]	=लोकों की	नियोक्तृत्वम्	=नियुक्त कर देना
सृष्टि-स्थित्यन्त-कर्तृता[3]	=सृष्टि, स्थिति और लय कर देना (तथा)	ईशित्वम्	=ईशित्व
		अभिधीयते	=नाम से कही जाती है।

व्याख्या

१. उपादानादि साधन सामग्री से रहित।

२. लोक्यन्त इति लोका विषया उच्यन्ते। सर्वदृष्टिविषया, न तु स्वप्नवत्स्वदृष्टिमात्रविषया इत्यभिप्रायः॥

३. 'जगद्व्यापारवर्जम्' (ब्र० सू० ४.४.१७) इति न्यायेन सृष्ट्यादेरसम्भवेऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्माण्डस्थितावेव वापीकूपनगरी-विहारस्थलसृष्टचाद्यभिप्रायेन नेतव्यम्।

—१७—

सलोकपालास्ः सर्वेपि लोकास्स्ववशवर्तिनः ।
तदैश्वर्यं वशित्वाख्यं सुलभं शिवयोगिनाम् ॥१७॥

(पदच्छेदः)

सलोकपालाः सर्वे अपि लोकाः स्ववशर्वातनः ।
तत् ऐश्वर्यम् वशित्वाख्यम् सुलभम् शिवयोगिनाम्* ॥१७॥

(सान्वयार्थः)

सर्वे	=सारे
अपि	=ही
लोकाः	=लोक
सलोकपालाः	= उनके लोकपालों सहित
स्ववशर्वात्तनः	= अपने[1] वश में रहने वाले हों
तत्	=वह
शिवयोगिनाम्	= शिवयोगियों[2] को ही
सुलभम्	= सरलता[3] से मिलने वाला
ऐश्वर्यम्	=ऐश्वर्य
वशित्वाख्यम्	= वशित्व नाम का है।

व्याख्या

१. उनको जैसी आज्ञा दे वैसा ही वे करें। किसी प्रकार की अवज्ञा न करें।

२. शिवयोगी का पाशुपतव्रत से सम्बन्ध है । श्रीपरमहंस ही अन्त में शिवयोगी, माहेश्वर, महामाहेश्वर, परममाहेश्वर, आदि भिन्न स्थितियों को प्राप्त कर शिवस्वरूपता को पाते हैं।

३. विशेष साधन निरपेक्ष।

इन सिद्धियों पर विचार करने से पता चलता है कि प्राचीन प्रसिद्धि व योगशास्त्रवर्णित होने से भाष्यकार शंकरभगवत्पाद ने इनका संग्रह कर लिया है। पर वार्तिककार ने प्रथम दो सिद्धियों में संकेत करके जो नवीन धारा प्रवर्तन की है वह एक अभूतपूर्व चीज है । सिद्धियों

की नवीन निरुक्ति इन्हें वैज्ञानिक व सन्तोषप्रद रूप दे देती है। निम्नांकित विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा ।

१. अणिमा २. महिमा तो साक्षात् परब्रह्म में विद्यमान अणुत्व और विभुत्व धर्म हैं जो 'एषो अणुरात्मा' 'सर्वव्यापिनमात्मानं' आदि शतशः श्रुतियों में प्रतिपादित है। भगवान सुरेश्वराचार्य ने यह स्पष्ट ही कहा है।

३. लघिमा में योगशास्त्र से एक वाक्यतार्थ 'योगिनः' अपनी तरफ से जोड़ना पड़ता है। अन्यथा महामेरु के समान अंग हैं जिस परमेश्वर के वही पुनः तूल जैसा हलका भी है यह उस सदाशिव में रहने वाली लघिमा है।

४. वैपरीत्येन परमाणु के समान होते हुये गरिमा में मेरु के समान ही गरिमा धर्म है। यहाँ तलवकार शाखा सामवेद में कथित तृण की कथा का संकेत समझना चाहिये। विरोधी धर्मों का सहोच्चारण तो ब्रह्म के वर्णन का श्रौत प्रकार प्रसिद्ध ही है। दोनों विरोधी जहाँ सामरस्यावस्था में दोनों के अभावरूप से रहें वही सर्वाधिष्ठान शिव प्रसिद्ध है।

५. प्राप्ति तो 'पुंसः' अर्थात् सदाशिव का सर्वविषयक ज्ञान है ही। देश की अपरिच्छिन्नता स्पष्ट है। 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्' श्रुति है।

६. प्राकाश्य अर्थात् स्वदेह रूपी ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने से ही सबका प्रकाश है। 'भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' श्रुति इसी को बताती है।

७. ईशित्व तो स्पष्टतः 'यतो वा इमानि' 'तदैक्षत' 'भीषोदेति सूर्यः' आदि श्रुतियों का विषय है। टीका में उसे योगी का विशेषण करने के कारण व्यर्थ ही संकुचित करने का प्रयास पड़ा है।

८. वशित्व भी अन्तर्यामी ब्राह्मण को विषय करता है। अन्यथा ये सिद्धियाँ योगी में संभव नहीं। अन्त में शिवयोगिनाम् अर्थात् शिवेन सहयोगः तादात्म्यसंबन्धः येषां ते शिवयोगिनः अथवा शिवे समाधिः

शिव एव समाधिर्वा येषां ते। हर हालत में शिव से अभेद स्थापन में तात्पर्य है। शिव से अभिन्न होने के कारण प्रयासरहित ये सिद्धियाँ छाया की तरह रहती हैं। 'सुलभं शिवयोगिनाम्' का सम्बन्ध सभी सिद्धियों के साथ समझना उचित है। मूल का 'अष्टधा परिणतं' भी अत्यन्त संगत हो जाता है। अत: ये अष्टैश्वर्य महेश्वर के ही हैं। और किसी में हो नहीं सकते यह सिद्ध हुआ। लोक प्रसिद्ध सिद्धियाँ अति तुच्छ होने से यहाँ अप्रसक्त हैं।

* सर्वयोगिनाम् इति पाठान्तरः। सुरयोगिनामित्यपि पाठभेदः।

—१८—

इन ऐश्वर्यों में श्रौत प्रमाण देते हैं :—

यस्त्वेवं ब्राह्मणो वेत्ति तस्य देवा वशे स्थिताः।
किं पुनः क्ष्मापतिव्याघ्रव्यालस्त्रीपुरुषादयः ॥१८॥

(पदच्छेदः)

यः तु एवम् ब्राह्मणः वेत्ति तस्य देवाः वशे स्थिताः।
किम् पुनः क्ष्मापति-व्याघ्र-व्याळ-स्त्री-पुरुषादयः ॥१८॥

(सान्वयार्थः)

यः	=जो[1]	वशे	=वश में
ब्राह्मणः	=ब्राह्मण[2]	स्थिताः	=रहते हैं
एवम्	=इस प्रकार[3]	पुनः	=फिर
वेत्ति	=जानता है	क्ष्मापति-व्याघ्र-व्याळ-स्त्री-पुरुषादयः	=राजा, सिंह, व्याळ, स्त्री, पुरुष आदियों का
तस्य	=उसके	किम्	=क्या (कहना)?
तु	=तो		
देवाः	=देवता[4]		

व्याख्या

१. 'यस्त्वैवम्ब्राहमणो विद्यात्तस्य देवा असन्वश' इस श्रुति का निर्देश है।

२. ब्राह्मण से 'अथ ब्राह्मणः' (बृ० उ० ३.५.१) इत्यादि न्याय से यहाँ निदिध्यासनपरिपक्वपरमहंस माहेश्वर ब्रह्मनिष्ठ का निर्देश है।

३. ईश्वरत्वभाव से तादात्म्य करके प्रत्यगात्मा को साक्षाद्रूप से अनुभव करना।

४. ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि।

—१९—

केवल उपर्युक्त परिगणित ऐश्वर्य प्राप्ति ही नहीं वरन् सारे इष्ट-पदार्थ सर्वात्मभावना की महिमा से प्राप्त हो जाते हैं :—

सर्वात्मभावसाम्राज्यनिरन्तरितचेतसाम् ।
परिपक्वसमाधीनाङ्किङ्किन्नाम न सिध्यति ॥१९॥

(पदच्छेदः)

सर्वात्म-भाव-साम्राज्य-निरन्तरित-चेतसाम् ।
परिपक्वसमाधीनाम् किम् किम् नाम न सिद्धयति ॥१९॥

(सान्वयार्थः)

सर्वात्मभाव-साम्राज्य-निरन्तरित-चेतसाम्	= पूर्णाहन्ता के भाव साम्राज्य में अटूट प्रकार से चित्त वृत्ति लगाने वाले
परिपक्वसमाधीनाम्	= सब तरह से दृढ समाधि के योगियों को

किम्	= क्या
किम्	= क्या
नाम	= पदार्थ
न	= नहीं
सिद्धयति	= सिद्ध हो जाते[1]?

व्याख्या

१. सभी सिद्धियाँ उसके चरणों पर लोटती हैं जो चित्तवृत्ति को निरन्तर सदाशिव में आत्मानुसन्धान करते हुये प्रवाहित करता है।

—२०—

सकाम पुरुष का इस स्तोत्र में अनधिकार बताकर श्रीपरमहंस-परिव्राजकों द्वारा निरन्तर सर्वैषणाविनिर्मुक्त होकर श्रीदक्षिणामूर्ति

की उपासना में रत रहते हुये इस स्तोत्र का पाठ सभी ऐश्वर्यों का व परमार्थों का दाता है यह बताते हैं :—

स्तोत्रमेतत्पठेद्धीमान् सर्वात्मत्वञ्च भावयेत् ।
अर्वाचीने स्पृहां मुक्त्वा फले स्वर्गादिसम्भवे ।।२०।।

(पदच्छेदः)

स्तोत्रम् एतत् पठेत् धीमान् सर्वात्मत्वम् च भावयेत् ।
अर्वाचीने स्पृहाम् मुक्त्वा फले स्वर्गादिसम्भवे ।।२०।।

(सान्वयार्थः)

स्वर्गादि-सम्भवे	=स्वर्ग से वैकुण्ठ, गोलोक तक में होने वाले	एतत्	=इस
अर्वाचीने	=क्षुद्र[1]	स्तोत्रम्	=स्तोत्र को
फले	=फलों में	धीमान्	=बुद्धिशाली[2]
स्पृहाम्	=इच्छा को	पठेत्	=पाठ करे[3]
मुक्त्वा	=छोड़कर	च	=और
		सर्वात्मत्वम्	=शिवात्मता की
		भावयेत्	=धारणा करे।

व्याख्या

१. आत्मज्ञ की दृष्टि से तो इन्द्र पद भी श्वमूत्र से श्रेष्ठ नहीं है। सर्व फलों के त्याग को ही तो संन्यास कहा गया है।

२. धीमान् ही विश्व से हटाकर विश्वेश्वर में मन रमाता है।

३. 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' न्याय से बारबार इसका पाठ करे और इसके अर्थ का ध्यान करे।

—२१—

सारे फलों के परित्याग में हेतु बताते हैं :—

स्वर्गादिराज्यं साम्राज्यं मनुते नहि पण्डितः ।
तदेव तस्य साम्राज्यं यत्तु स्वाराज्यमात्मनि ।।२१।।

(पदच्छेदः)

स्वर्गादिराज्यम् साम्राज्यम् मनुते न हि पण्डितः ।
तत् एव तस्य साम्राज्यम् यत् तु स्वाराज्यम् आत्मनि ।।२१।।

(सान्वयार्थः)

हि	= क्योंकि	यत्	= जो
पण्डितः	= आत्मज्ञ	तु	= तो
स्वर्गादि-राज्यम्	= स्वर्ग से वैकुण्ठ, गोलोक तक के राज्य को	आत्मनि	= आत्मा में[२]
		स्वाराज्यम्	= अपना राज्य है
		तत्	= वह
साम्राज्यम्	= बड़ा राज्य[१]	एव	= ही
न	= नहीं	तस्य	= उस (आत्मज्ञ) का
मनुते	= मानते हैं ।	साम्राज्यम्	= बड़ा राज्य है ।

व्याख्या

१. साम्राज्य वह है जो किसी के अन्तर्गत नहीं। पूर्ण सार्वभौम सत्ता सम्पन्न, जो किसी अन्य को कुछ न दे। संसार में सभी लोग देवाधीन हैं। देव ब्रह्मा विष्णु रुद्राधीन हैं । वे प्रकृति स्वरूपिणी माँ के अधीन हैं। वह भी पुरुष रूप चैतन्य के अधीन है । सामरस्यावस्था ही सर्वरूप होने से सार्वभौम सत्ता है। सदाशिव ही सर्वापरतंत्र है।

२. आत्मा अर्थात् अहं प्रत्यय में जो सदाशिव है वही अपना राज्य अर्थात् प्रकाश है। उस स्वप्रकाश सदाशिव से अपने को अभिन्न करने से प्रत्यगात्मा भी सर्वतन्त्रस्वतंत्र हो जाती है। अतः बुद्धिमान सब राज्यों को छोड़ उसी को चाहता है।

—२२—

सर्वात्मभावनावन्तं सेवन्ते सर्वसिद्धयः ।
तस्मादात्मनि साम्राज्यङ्कुर्यान्नियतमानसः ।।२२।।

(पदच्छेदः)

सर्वात्मभावनावन्तम् सेवन्ते सर्वसिद्धयः ।
तस्मात् आत्मनि साम्राज्यम् कुर्यात् नियतमानसः ।।२२।।

(सान्वयार्थः)

सर्वात्मभावनावन्तम्	= सदाशिव से आत्म-भावना वाले की	नियतमानसः	= चित्तस्थिरता रूपी समाधि का अभ्यास करके
सर्वसिद्धयः	= सारी सिद्धियाँ	आत्मनि	= आत्मा में[1]
सेवन्ते	= सेवा करती हैं;	साम्राज्यम्[2]	= साम्राज्य
तस्मात्	= इसलिये	कुर्यात्	= करे ।

व्याख्या

१. आत्मा में सदाशिव का चिन्तन करते हुये उसके साम्राज्य को स्थापित करे। अर्थात् सदाशिव के अतिरिक्त और किसी को अपने अन्दर न रहने दे।

२. योगिन इच्छाशक्तिस्फुरणमेवात्र साम्राज्यपदेनोच्यते। सर्व आत्मभावविकासः साम्राज्यमिति वा। सम्यक् राजते प्रकाशत इति सम्राट्। तस्य भावः साम्राज्यम्। स्वातन्त्र्येण प्रकाशरूपत्वात् परमशिवस्यैव साम्राज्यम्।

—२३—

इस स्तोत्र के फल आत्मसाम्राज्य को प्राप्त करने के लिये इस स्तोत्र के अभ्यासी का अधिकार निरूपण करते हैं:—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥२३॥

(सान्वयार्थः)

यस्य	= जिस (मुमुक्षु) की	यथा	= जैसी
देवे	= श्रीदक्षिणामूर्ति देव में	देवे	= श्रीदक्षिणामूर्ति में
परा	= अहैतुकी	तथा	= वैसी
भक्तिः	= प्रीति हो (एवं)	गुरौ	= उपदेश करने वाले अपने गुरु में हो

हि	={तब ही (उसी[1] कारण से)	कथिताः	={स्तोत्र और वार्तिक में उक्त
तस्य	=उस	अर्थाः	=वस्तुएँ
महात्मनः	=महानुभाव को	प्रकाशन्ते	={साक्षात् अनुभव में आती हैं।
एते	=ये		

व्याख्या

१. श्रीदक्षिणामूर्ति और गुरु की उपासना के फलस्वरूप ही पूर्णाहन्ता की अनुभूति होना संभव है। 'परमाद्वैतविज्ञानं कृपया वै ददाति यः। सोयं गुरुवरः साक्षाद्दक्षिणामूर्तिनामकः ॥' इत्यादि स्मृतियों एवं 'रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्' आदि वेदवाक्य प्रमाण हैं। यह श्लोक पूरा ही (श्वे० ६.२३) कृष्णयजुर्वेद का मंत्र है।

—२४—

ग्रन्थ के आदि और मध्य की तरह मंगलाचरण का अन्त में भी विधान है। ग्रन्थ के विस्तार व प्रचार में आनेवाली विघ्ननिवृत्ति के लिये शिष्टों में यह प्रसिद्ध है। अतः समग्र स्तोत्र के तात्पर्य व्याख्यानन्तर वस्तुनिर्देशरूप मंगलाचरण करते हैं :—

प्रकाशात्मिकया शक्त्या प्रकाशानां प्रभाकरः।
प्रकाशयति यो विश्वं प्रकाशोऽयं प्रकाशताम् ॥२४॥

(सान्वयार्थः)

यः	=जो	शक्त्या	=शक्ति[4] से
प्रकाशः	=प्रकाशरूप[1]	विश्वम्	=विश्व को
प्रकाशानाम्	={प्रकाश करने वालों[2] का भी	प्रकाशयति	=प्रकाशित करता है
प्रभाकरः	=प्रकाश करने वाला[3]	अयम्	=वह[5]
प्रकाशात्मिकया	=प्रकाशरूपिणी	प्रकाशताम्	={प्रकाशित होता रहे।

व्याख्या

१. उस सदाशिव का ज्ञान ही स्वरूप है। वही स्वयं प्रकाश है।

२. सूर्य, चन्द्र, इन्द्रिय, मन आदि प्रकाशक।

३. सूर्य आदि में भी सदाशिव की ही रोशनी है।

४. माहेश्वरी शक्ति भी प्रकाशरूप चिच्छक्ति ही हो सकती है। जैसे सूर्य प्रकाशरूप अपनी शक्ति से विश्व को प्रकाशित करता है।

५. 'सदाशिवो विजयतेतराम्' की तरह ही यह मंगल वाक्य है। उसका नित्यालुप्त प्रकाश सर्वत्र फैले। अथवा सर्वत्र संसार में उसका ज्ञान फैले एवं उसके ज्ञान प्राप्ति से सभी मुक्त हो जावें यह अभिप्राय है।

—२५—

इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रार्थप्रतिपादके।
प्रबन्धे मानसोल्लासे दशमोल्लाससंग्रहः ॥२५॥

इस प्रकार श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रके अर्थ का निरूपण करने वाले मानसोल्लास नामक प्रबन्ध का दशमोल्लास समाप्त हुआ।

समाप्ता माधुरीव्याख्या शङ्करस्य प्रसादतः।
दक्षिणामूर्तिभक्तानां काममोक्षप्रसाधिका ॥१॥
स्तोत्रं श्रीदक्षिणामूर्तेर्मानसोल्लाससंयुतम्।
सकृच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्मज्ञानं ददातु वै ॥२॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यशङ्करभगवत्पादकृतेः श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसुरेश्वरकृतस्य भावार्थवार्तिकापरनाममानसोल्लासस्य च श्रीदक्षिणामूर्तिपादपद्माराधकमहेशानन्दगिरिणा कृता मानसोल्लासमाधुरीनाम्नी व्याख्या समाप्ता। शंकरः प्रीयताम् ॥

॥ इति ॥

सहायक-ग्रन्थ-सूची

(यद्यपि सम्पूर्ण ग्रन्थ निर्देश असम्भावित है तथापि जिज्ञासु प्रयोजनार्थ आवश्यक सूची दी जाती है।)

अजडप्रमातृसिद्धिः—उत्पलदेव

अथर्ववेद—पैप्पलादशाखा

,, —सायणभाष्य

अथर्वशिखोपनिषद् (अथर्व०शि०)

,, —ब्रह्मयोगीन्द्रव्याख्या

अद्वैतसिद्धिः—मधुसूदन सरस्वती

,, —लघुचन्द्रिकाव्याख्या—श्रीपरमहंसगौडब्रह्मानन्द सरस्वती

अद्वैतानुभूतिः—श्री परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य योगीन्द्र गोविन्दपाद

अभिज्ञानशाकुन्तलम्—कालीदासः

अभिधम्मकोषः—राहुलसांकृत्यायनेन सम्पादितः

आपस्तम्ब—धर्मसूत्रम् (आप० ध०)

इष्टसिद्धिः—विमुक्तात्मा

ईशावास्योपनिषत्

,, —शङ्कराचार्य भाष्य

,, ,, —आनन्दगिरि टीका

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा—उत्पलदेव

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिः—उत्पलदेव

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी—श्रीमहामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद

ईश्वरसिद्धिः—उत्पलदेव

ईश्वरसिद्धिः—उदयनाचार्य

उपदेशसाहस्री अथवा शाङ्करोपनिषत् (उ० सा०)

—रामतीर्थ व्याख्या

ऋग्वेद (ऋ०)

—सायणभाष्य

ऐतरेयोपनिषत् (ऐ०)

" —शाङ्करभाष्य

" " —आनन्दगिरिटीका

Origin and Early History of Śaivism in South India—University of Madras.

काठकसंहितोपनिषत् (क०, का०, काठ०)

" —शाङ्करभाष्य

" " —आनन्दगिरिटीका

कामना—जयशङ्करप्रसाद

कामायनी—जयशङ्करप्रसाद

कैवल्योपनिषत् (कै० उ०)

" —शंकरानन्ददीपिका

कृष्ण यजुर्वेद—काठक संहिता

" —श्वेताश्वतरसंहिता

" —तैत्तिरीयसंहिता (कृ० यजु०)

" " —सायणभाष्य

खण्डनखण्डखाद्यम्—श्रीहर्ष

" —शङ्करमिश्रटीका

" —विद्यासागरीव्याख्या

" —श्रीपरमहंसशङ्करचैतन्यभारतीव्याख्या

गीता—(गी०)

" — शाङ्करभाष्य

" " —आनन्दगिरि टीका

" —परमार्थप्रपा

" —भाष्योत्कर्षदीपिका

" —सर्वतोभद्रव्याख्या

" —श्रीपरमहंस ब्रह्मानन्दगिरिव्याख्या

गीता—हनुमद्भाष्य
,, —गूढार्थदीपिका
,, —अभिनवगुप्तपाद
छान्दोग्योपनिषत् (छा०)
,, —शाङ्करभाष्य
,, ,, —आनन्दगिरिटीका
तत्त्वचिन्तामणि—गङ्गेशोपाध्याय
,, —रघुनाथशिरोमणि दीधिति व्याख्या
तत्त्वप्रकाशिका—श्रीपरमहंस मुनिचित्सुखगिरिः
तत्त्वानुसन्धान—महादेवानन्द सरस्वती
,, —अद्वैतचिन्ताकौस्तुभव्याख्या
तन्त्रराज
तन्त्रसार—श्रीमहामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद
तन्त्रालोक— ,,
तलवकारोपनिषत्—(के०) शांकरभाष्यद्वयम्
तैत्तिरीयारण्यकम्—(तै० आ०)
,, —सायणभाष्य
तैत्तिरीयब्राह्मणम्
,, —सायणभाष्य
तैत्तिरीयोपनिषत् (तै०, तैत्ति०, तै० उ०)
,, —शाङ्करभाष्य
,, ,, —आनन्दगिरिटीका
तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिकम्—श्री परमहंससुरेश्वराचार्य
दक्षिणामूर्त्युपनिषत्
,, —उपनिषद्ब्रह्मयोगीन्द्रव्याख्या
दुर्गा सप्तशती
,, —शान्तनवी व्याख्या

नैष्कर्म्यसिद्धिः—श्रीसुरेश्वराचार्य

,, —ज्ञानोत्तममिश्रचन्द्रिका व्याख्या

न्याय कुसुमाञ्जलिः—उदयनाचार्य

,, —वर्द्धमान प्रकाश व्याख्या

न्यायसूत्रम्

,, —वात्सायनभाष्य

,, —उद्योतकर वार्तिक

,, —वाचस्पतिमिश्र वार्तिक तात्पर्य

परमार्थसार—आदिशेष

पञ्चीकरणप्रकरणम्—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य शङ्करभगवत्पाद

,, —वार्तिकम्—श्रीशंकरभगवत्पादान्तेवासिविश्वरूपभारती

,, ,, —श्रीपरमहंस आनन्दगिरि व्याख्या

पादुकापंचक—पूर्णानन्दयति

पूर्वमीमांसा (धर्म मीमांसा, जैमिनीयसूत्र)

,, —शबरस्वामिभाष्य

,, —कुमारिलभट्ट वार्तिक (श्लोक वार्तिक, तंत्र वार्तिक, टुप्टीका)

,, —प्रभाकरवार्तिक

प्रत्यभिज्ञाकारिका—उत्पलदेव

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—क्षेमेन्द्र

प्रपंचसार—श्रीशंकरभगवत्पाद

,, —विवरणम्—श्रीशंकरभगवत्पादान्तेवासिपद्मपादाचार्य

प्रमाणवार्तिकम्—धर्मकीर्तिः।

प्रश्नोपनिषत् (प्र०)

,, —शाङ्करभाष्य

,, ,, —आनन्दगिरि टीका

बृहदारण्यकोपनिषत (बृ०)

,, —शाङ्करभाष्य

,, ,, —आनन्दगिरिटीका

बृहदारण्यकवार्तिक—श्रीसुरेश्वराचार्य

,, —शास्त्रप्रकाशिका

ब्रह्मसिद्धि:—मण्डनमिश्र

,, —शङ्खपाणिटीका

ब्रह्मसूत्रम्—(वेदान्तसूत्र, उत्तरमीमांसा, मस्करीशास्त्र, बादरायणसूत्र, व्याससूत्र, ब्र० सू०)

,, —शाङ्करभाष्य

,, ,,—श्रीशङ्करभगवत्पादान्तेवासिवरपद्मपादपंचपादिका

,, ,, ,, —श्रीप्रकाशात्मपरमहंस-गूढार्थविवरण

,, ,, ,, ,, —श्रीपरमहंस अखण्डानंद मुनीश्वर —तत्त्वदीपन

,, ,, —श्रीपरमहंस-अनुभूतिस्वरूपयोगीश्वर-प्रकटार्थविवरणम्

,, ,, —वाचस्पति मिश्र भामती

,, ,, ,, —कल्पतरु—आचार्य अमलानन्दव्यासतीर्थ

,, ,, ,, ,, —परिमल-आचार्येन्द्र अप्पयदीक्षित

,, ,, —न्यायनिर्णय श्रीपरमहंस आनन्दगिरि

,, —शिवाद्वैतभाष्य श्रीकण्ठाचार्य

,, ,, —शिवार्कमणिदीपका—आचार्यवर्य अप्पयदीक्षितेन्द्र

,, —वीरशैवभाष्य श्रीकराचार्य

,, —रामानुज भाष्य

,, —मध्व भाष्य

,, —बलदेव भाष्य

भागवतमहापुराणम्

भाषापरिच्छेद (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली)—श्रीविश्वनाथपंचानन

मनुस्मृतिः

,, —कुलूकभट्ट व्याख्या

महिम्नःस्तोत्रम्—गन्धर्वराज पुष्पदन्ताचार्य
,, —मधुसूदनी व्याख्या
माण्डूक्योपनिषत् (मा०)
,, —कारिका—श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य गौडपाद-महामुनीश्वर
,, ,, —शाङ्करभाष्य
,, ,, ,, —आनन्दगिरिटीका
माध्यमिककारिका—नागार्जुन
माहेश्वरतन्त्र
मुण्डकोपनिषत्—(मु०)
,, —शाङ्करभाष्य
,, ,, —आनन्दगिरिटीका
याज्ञवल्क्यस्मृतिः
,, —विश्वरूपटीका
,, —मिताक्षराटीका
योगयाज्ञवल्क्यम्
योगवासिष्ठम्—वाल्मीकिमहर्षिवर
योगसूत्र
,, —व्यासभाष्य
,, ,, —विवरणम्—श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य शङ्करभगवत्पाद
,, ,, —तत्त्ववैशारदी—वाचस्पतिमिश्र
रससार—श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य महायोगीन्द्र गोविन्दपूज्यपाद
रसहृदय— ,,
रुद्रहृदयोपनिषत्
रुद्रोपनिषत्
लल्लवाक्यानि
विज्ञानदीपिका—सिद्धपद्मपादाचार्य

वेदान्तपरिभाषा—धर्मराजाध्वरीन्द्र
,, —शिखामणि—रामकृष्ण
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—प्रकाशानन्दसरस्वती
शक्तिसूत्र—गौडपादाचार्य
शाङ्करप्रकरणग्रन्थानि
शारदातिलकम्
शिवगीता
शिवज्ञानबोध
शिवदृष्टिः—सोमानन्द
शिवमहापुराणम्
शिवसूत्रम्—वसुगुप्त
शिवानन्दलहरी—शङ्कराचार्य
शैवपरिभाषा
श्वेताश्वतरोपनिषत् (श्वे०)
श्रीविद्यार्णवः—आचार्य विद्यारण्य
षट्चक्रनिरूपण—पूर्णानन्दयति
सुभगोदय—गौडपादमुनीश्वर
सङ्क्षेपशारीरक (सं०, सं० शा०)—श्रीपरमहंसमहामुनीन्द्र सर्वज्ञात्मगिरि
,, —सुबोधिनी
,, —सारसंग्रहदीपिका—मधुसूदनसरस्वती
,, —अन्वयार्थप्रकाशिका—रामतीर्थस्वामी
,, —तत्त्वबोधिनी—श्रीपरमहंसनृसिंह आश्रम
सम्बन्धसिद्धिः—उत्पलदेव
सर्वदर्शन संग्रह—आचार्य विद्यारण्य
साधन पंचक—श्रीशंकरभगवत्पादानुशासनम्
साङ्ख्यसूत्रम्
,, —विज्ञानभिक्षुभाष्य
साङ्ख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण
,, —साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी—वाचस्पतिमिश्र

सिद्धान्तविन्दु—मधुसूदनसरस्वती
,, —गौडब्रह्मानन्दी व्याख्या
सिद्धान्तलेशसंग्रहः—आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र
सूतसंहिता
,, —तात्पर्यटीका—श्रीपरमहंसशिरोमणि विद्यारण्य पूज्यपाद
सौन्दर्यलहरी—श्रीशंकरभगवत्पादाचार्य
Hindu Philosophy—Theos Bernard.

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रे तत्त्वसुधाव्याख्या

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥१॥

अत्रेयं 'तत्त्वसुधा' ।

मौनव्याख्याप्रकटितपरब्रह्मतत्त्वं युवानम्
वर्षिष्ठान्तेवसदृषिगणै रावृतं ब्रह्मनिष्ठैः ।
आचार्येन्द्रं करकलितचिन्मुद्रमानन्दमूर्तिम्
स्वात्मारामं मुदितवदनं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥१॥

कैवल्यानन्दयोगीन्द्रशुद्धानन्दयतीश्वरौ ।
नत्वाऽऽरभे लघुव्याख्यां दक्षिणाशामुखस्तुतेः ॥२॥

इह खलु सर्वज्ञो भगवान् भाष्यकारः लोकानुग्रहैक प्रयोजनकृतशरीर-परिग्रहः सकलवेदान्तदुग्धाब्धेः न्यायमन्दरेण विचारनिर्मन्थनाद् आविर्भूता-ऽद्वैतामृतस्य विन्यासकलशभूतं श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रं सकललोकानुजिघृक्षया भोक्तृजीव-भोग्यजगद्-भोगप्रदपरमेश्वर-मोक्षप्रदगुरूणां अत्यन्ताऽभेदबोधकं सकृत् पाठश्रवणार्थमननादिमात्रेण परमपुरुषार्थप्रापकमारभमाणः, तस्य वेदान्तसारभूतनवनीतपिण्डात्मकत्वेन तदीय विषयादिभिरेव तद्वत्तासिद्धिम-भिप्रेत्य, आदौ प्रतीचः सकलजगदधिष्ठानत्वेन परमेश्वरतां दर्शयन् दक्षिणा-शामुखं परमेश्वरं मनसा पूजयति— विश्वमिति । विश्वं विविधप्रत्ययगम्यं

वियदादि सर्वमिदं जगत्। निजान्तर्गतं[1] निजं स्वीयं, अन्तः मध्यं, गतं प्राप्तं, प्रत्यक्स्वरूपे स्थितमिति यावत्। निर्विकारे नीरन्ध्रेऽतिस्वच्छेऽसङ्गे सूक्ष्मे प्रतीचि, जगतः तद्विपरीतस्य स्थितौ तत्सदृशं दृष्टान्तमाह—दर्पणदृश्यमान-नगरीतुल्यमिति। दर्पणे आदर्शे, नीरन्ध्रेऽसङ्गे स्वच्छे सूक्ष्मे निर्विकारे; प्रतिबिम्बिता सती दृश्यमाना अवलोक्यमाना; या नगरी पुरी, चतुर्दशसन्निवेशा सप्तवापीयुक्ता नानोपवना दक्षिणोत्तरतोऽतिमनोहरमार्गद्वयविभूषिता मङ्गल-दीपिकाद्वयविराजिता अनेकक्रीडाशिखरियुता नानाविधजनसंकुला क्वचिद् घट्टमार्गप्रदेशयुता च; तत्तुल्यं तत्समानम्। तदुक्तं भारतीतीर्थैः, 'निश्छिद्र-दर्पणे भाति वस्तुगर्भं वृहज्जगत्। सच्चित्सुखे तथा नानाजगद्गर्भमिदं वियद्॥' इति (पंचदशी १३.१०१)। वासिष्ठेऽपि शिलोपाख्याने इदमुक्तम्, 'द्यौःक्ष्मा वायुरथाकाशः पर्वताः सरितो दिशः। सन्ति तस्यां शिला सा च सुषिरा न मनागपि॥ अप्यत्यन्तघनाङ्गायाः सुनीरन्ध्राकृतेरपि। विद्यतेऽ-न्तर्जगद्वृन्दं व्योम्नीव विततोऽनिलः॥ इति' (निर्वाण० ४६)।

ननु प्रतीचोऽन्तरे यदि सदा विश्वं तिष्ठति, तर्हि रागादिवदन्तरेवानु-भूयेत? इत्याशंक्याह— आत्मनीत्यादिना। आत्मनि स्वप्रकाशे प्रतीचि विषये आश्रये च; या माया अविद्या सुर्ये पेचकादीनां अन्धकारप्रतीतिवत् मामहं न जानामीति भ्रमानुभवसिद्धा, तया मायया, बहिः स्वस्माद्बाह्यदेशेः उद्भूतमिव[2] आविर्भूतमिव; पश्यन् अवलोकयन्। अस्य 'यः' इत्युत्तरत्र सम्बन्धः। अन्तर्विद्यमानस्य जगतो बाह्यत्वेन अनुभवे दृष्टान्तमाह— यथा निद्रयेति। यथा निद्रया स्वप्नं जगत् साक्षिणि स्वस्मिन् अध्यस्ततया स्थितमपि स्वस्माद् बहिः स्थितं इव अनुभवति, तद्वदेवेदं जाग्रत्प्रपंचमपि स्वस्मिन् प्रत्यक्चैतन्ये

---

१. 'निजमिति असाधारणं स्वप्रकाशसदात्मकं स्वरूपमुच्यते।'

—(रामतीर्थः)

२. 'इव शब्दो विद्वद्दृष्ट्या प्रयुक्तो न तु प्रतीत्यभिप्रायेण' (रामतीर्थः)।

अध्यस्ततया स्थितमेव स्वाध्यस्तदेहादितादात्म्याऽध्यासवशात् स्वस्माद् बहिरिव पश्यति। अन्यथा जडस्य जगतः प्रत्यक्चैतन्येन सह संयोगाद्यन्यतमसम्बन्धाऽसम्भवेन प्रतीचः सकाशात् जाग्रद्भानं न स्यात्। तस्मात् तत्र अध्यस्तमेव तत्। तथा च प्रत्यगात्मानं प्रकृत्य श्रुति र्भवति, 'पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवः ततस्तु जातं सकलं विचित्रम। आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिन् लयं याति पुरत्रयं च ॥ एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥' इति (कैवल्य० १४, १५, १९)। 'यथा स्वप्नप्रपंचोयं मयि मायाविजृम्भितः। एवं जाग्रत्प्रपंचश्च मयि मायाविजृम्भितः ॥' इति पुराणवचनं च ( )। ततः, प्रतीच्येव जाग्रत्प्रपंचोऽध्यस्तोऽनुभूयते भ्रान्त्या बहिरिवेति भावः।

ननु स्वात्मनि प्रपंचोऽध्यस्तश्चेद्, बाध्येत्; न च कदाचिदपि बाधोऽनुभूयते; अतो नात्मनि अध्यस्तः, किन्तु बहिः परमार्थत एव स विद्यते? इत्याशंक्य, यथा स्वप्नप्रपंचोऽध्यस्तोऽपि तदा सत्य इवैव भाति, प्रबोधसमये तु बाध्यते, तथैव अयमपि जाग्रत्प्रपंचः तत्त्वज्ञानात्पूर्वं सत्यत्वेन भातोपि, आचार्येण परमदयालुना साक्षात्परमेश्वरावताररूपेण उपदिष्टतत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्यप्रत्यग्ब्रह्मैक्यसाक्षात्कारसमये समूलं बाधितः सन् प्रत्यगभिन्नाद्वितीयब्रह्ममात्रतया परिशिष्यते; इत्यभिप्रेत्याह—यः साक्षादित्यादिना। यः अध्यस्तप्रपंचाधिष्ठानभूतः प्रत्यगात्मा। प्रबोधसमये गुरूपदिष्टमहावाक्यात् ज्ञानोत्पत्तिकाले। अद्वयं सर्वप्रपंचस्य समूलस्य बाधितत्वेन वियदादिद्वयरहितं। स्वात्मानमेव वियदाद्यधिष्ठानभूतब्रह्माभिन्नं सच्चिदानन्दात्मकं प्रत्यञ्चमेव। साक्षात्कुरुते सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्महमास्मीत्यप्रतिबन्धेन अव्यवधान मनुभवति इत्यर्थः। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिश्रुतेः (बृ० २.४.१४)। तस्मै उक्तरूपाया श्रीगुरुमूर्तये[1]; श्रीगुरुः साक्षात्कृत-

---

१. 'अनेन स्वोपदेष्टगुर्वात्मना चास्थ ध्येयत्वं विवक्षितम्'। —(रामतीर्थः)

ब्रह्मतत्त्वतया त्रिविधपरिच्छेदशून्यो ज्ञानोपदेष्टा पुरुषः; तन्मूर्तये तद्रूपेण अवस्थिताय श्रीदक्षिणामूर्तये दक्षिणा दक्षिणदिगभिमुखा मूर्ति विग्रहो यस्य, तस्मै । 'परमाऽद्वैतविज्ञानं कृपया वै ददाति यः । सोऽयं गुरुर्गुरुः साक्षाच्छिव एव न संशयः ।।' (वासिष्ठ) इत्यादिवचनशतेभ्यो ज्ञानोपदेष्टा गुरुः साक्षात्परमेश्वर एव ।

अथवा श्रीमती सच्चिदानन्दात्मिका गुर्वी अतिमहत्तरा मूर्तिः स्वरूपं यस्य स तथा, तस्मै श्रीगुरुमूर्तये । श्रिया अनाद्यचिन्त्यमायया शक्त्या, दक्षिणः सृष्टिस्थित्यन्तविरचनानिपुणश्चासौ परमार्थतः अमूर्तिश्च आकार-विशेषरहितः, 'अस्थूलमनणु' इत्यादिश्रुतेः (बृ. ३.८.८), स दक्षिणामूर्तिः । तस्मै इदं नमः प्रह्वीभावः । 'अस्तु' इति शेषः । प्रह्वीभावश्च स्वात्मनः परमेश्वरे एकत्वेन समर्पणम् ।

अत्र च पूर्वार्धेन त्वंपदार्थ उक्तः । उत्तरार्धे श्रीगुरुमूर्तये श्रीदक्षिणामूर्तये इति पदद्वयेन मूर्तिद्वययुक्तः तत्पदार्थ उक्तः । स्वात्मानमद्वयमिति पदद्वय-सामानाधिकरण्येन, यत्तच्छब्दाभ्यां च प्रत्यग्ब्रह्मैक्यलक्षणो वाक्यार्थ उक्तः । सकलवेदान्तप्रसिद्धोयमेवार्थः उत्तरश्लोकैः प्रपंच्यते ।

दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं विश्वं यथा निद्रया तथा आत्मनि मायया बहिरुद्भूतमिव पश्यन्[1] यः प्रबोधसमयेऽद्वयं स्वात्मानमेव साक्षात्कुरुते तस्मै इदं नमः—इत्यन्वयः ।

एवमेवास्यार्थो वार्तिककारेण च संगृह्योक्तः, 'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्ति-भेदाद्विभागिने । व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।' इति (मा. १.३०) इति ।। १ ।।

---

१. 'शतृनिर्देशो न लक्षणार्थः, नापि हेत्वर्थः, किन्तु तिष्ठन् गायतीतिवत् क्रियाद्वयनैरन्तर्यद्योतनार्थः । यद्वा, लक्षणार्थोयं शता । पूर्वं यः स्वसम्बन्धि-विश्वदर्शनेन सद्वयः संसारीव लक्षितः स एव प्रबोधसमये विद्याबाधित-विश्वः स्वात्मानमेवाद्वयं साक्षात्कुरुत इत्यर्थं इति द्रष्टव्यम्' ।

—(रामतीर्थः)

बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं पुन-
र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम् ।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥२॥

अत्रेयं 'तत्त्वसुधा'।

ननु आत्मनि प्रपंचस्य अवस्थानं नोपपद्यते, तदकारणत्वात्। तथा हि; किमात्मा जगदारम्भकः? उत तदाकारपरिणामी? नाद्यः, एकस्य विभोः चिद्रूपस्य जडप्रपंचारम्भकत्त्वाऽसम्भवात्। नापि द्वितीयः, निरवयवनिर्विकार चिद्रूपस्य परिणामासम्भवात्। ततः, नित्याः चतुर्विधाः परमाणवः जगदारम्भकाः इति तेषु एव तस्य स्थितिः।

यद्वा, प्रधानमेव जडं त्रिगुणात्मकं जगदाकारपरिणामि। तत्रैवेदं जगत् परमार्थतोऽस्ति, न तु चिदात्मनि, इति नैयायिकानां सांख्यानां वा मतमाशंक्य; न तावत् परमाण्वारम्भवाद उपपद्यते, निरवयवानां तेषां सर्वात्मना संयोगे प्रथिमाऽनुपपत्तेः, भिन्नयोर्गवाश्ववत् कार्यकारणभावायोगात्, पूर्वमसतश्च कार्यस्य शशविषाणवत् उत्पत्त्यनुपपत्तेः, अत्यन्तभिन्नकार्यारम्भे कार्ये गुरुत्वादितद्वैगुण्यापत्तेः [गुरुत्वादिद्वैगुण्यापत्तेः], परमाणुसद्भावे प्रमाणाभावात्, कार्यद्रव्यस्य स्वन्यूनपरिमाणाऽऽरब्धत्त्वनियमस्य स्थूलतूलपिण्डारब्धतन्त्वादौ अदर्शनात् च;

नापि प्रधानपरिणामवादः, तस्य चेतनाऽनधिष्ठितस्य कार्योत्पादे स्वतोऽसामर्थ्यात्, लोके रथादेः चेतनाधिष्ठितस्यैव प्रवृत्तिदर्शनात्, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात्, 'अजाम' इत्यादि श्रुतेश्च (श्वे० ४.५) तेजोबन्नादिप्रकृत्यव्याकृतपरत्वाच्च।

किन्तु श्रुतौ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. उ. २.१), 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै. उ. २.१), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा. ६.२), 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये'ति (छा. ६.२), 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै. उ. ३.१), 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः तस्माद् एतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' (मुं० १.१.९) इत्यादिषु [इत्यादिकायां] सहस्रशः परमात्मन एव चेतनात् जगदुत्पत्तिश्रवणात्, विलक्षणयोरपि कार्यकारणभावस्य गोमयवृश्चिकपुरुषकेशलोमादौ दर्शनात् अत्र विवर्तवादस्यैव विवक्षितत्वात्, 'सर्वं तं परादात् योऽन्यत्र आत्मनः सर्वं वेद' (वृ. २.४.६) इत्यादिश्रुतौ आत्मनोऽन्यत्र जगद्वेदनस्य निन्दितत्वात्, घटोस्ति पटोस्ति घटः स्फुरति पटः स्फुरति इति सत्तास्फुरणानुविद्धतया अनुभूयमानस्य जगतः मृदनुविद्धघटस्य मृत्कार्यत्ववत् सत्तास्फुरणात्मकार्यत्वस्यैव युक्तत्वाच्च आत्मैव जगदुत्पत्त्यादिकारणम्ः; इत्यभिप्रेत्याह — बीजस्यान्तरिवेति। इदम् अनुभूयमानं सर्व जगत् । प्राक्[1] उत्पत्तः पूर्वम् । निर्विकल्पं[2] भोक्तृ-भोग्यादिविकल्परहितं आत्ममात्रं एव आसीत् । आत्मा वा इदमेकं एवाग्र आसीत्' (ऐ० १.१.१), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६. २)) इत्यादि श्रुतेः । तत्र दृष्टान्तमाह—बीजस्येति[3] । बीजस्य अन्तः मध्येऽङ्कुर इव । उपलक्षण-

---

१. 'ननु कालस्यापि मायाकल्पितत्वे प्रागिति च पुनरिति च कथं निर्देश इति चेत् ? नैष दोषः, परप्रत्यायनार्थतया यथाव्यवहारं प्राप्तानुवाद-मात्रत्वात्' (रा०ती०) ।

२. 'जातिगुणक्रियादिविकल्परहितम् । सन्मात्रमासीदिति शेषः' (रा०ती०) ।

३. 'बीजावयवानामेव बीजसंस्थान परित्यागेनांकुरात्मतापत्तिरित्यस्माभि-रंगी क्रियते' (रा०ती०) ।

मेतत्, पल्लव पत्रपुष्पफलशाखाविटपात्मकवृक्षो यथा उत्पत्तेः पूर्वं निर्विकल्पं बीजमात्रमासीत् तद्वत् । पुनः पश्चात् सृष्टिसमये । मायाकल्पितदेशकाल-कलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्—मायया ईश्वराधिष्ठितया कल्पितो यो देशकालो तयोश्च कलना सम्बन्धः तद्वैचित्र्येण चित्रीकृतं नानाविधभेदभिन्नतया विभक्तम् । 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इति श्रुतेः (बृ० १.४.७) ।

ननु कथमीश्वरस्य अद्वितीयस्य बाह्यसाधनरहितस्य जगदुत्पादकत्वम्? लोके कुलालादेः बाह्यसाधनवत एव कार्यकरत्वदर्शनात्, इत्याशंक्य; ईश्वरस्य अनाद्यनिर्वचनीयमायाशक्त्युपहितस्य स्वेच्छामात्रेणैव ऐन्द्रजालिकवत् देवर्षि-पित्रादियोगिवच्च उपपद्यते जगदुत्पादकत्वम्, इत्यभिप्रेत्याह—मायावीवेत्या-दिना । यः परमेश्वरः मायावीव लोकप्रसिद्धैन्द्रजालिकमायाविवत् । महा-योगीव[1] विश्वामित्रादिमहायोगिवच्च । स्वेच्छया स्वसंकल्पमात्रेण । विजृम्भयति इदं जगत् उत्पादयति । 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ० २.५.१९), 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २.७), 'सच्च त्यच्चाभवत्' (तै० २.६) इति श्रुतेः ।

नापि मायया तस्य सद्वितीयत्वं, तस्या अपि कल्पितत्वात् । नापि तस्य कारणत्वेन विकारित्वं, जगत्कारणत्वस्यानाद्यनिर्वचनीय मायाघटिततया कल्पितत्वेन उपलक्षणत्वेनापि[2] तत्र विकाराऽनापादकत्वात् । ततश्च तत्र कस्यापि दोषस्याभावात् ब्रह्मैव प्रत्यगभिन्नं सकलजगदुत्पत्तिस्थितिलय हेतुरिति भावः । तस्मै नमः[3] ॥२॥

---

१. 'अपिः दृष्टान्तयोर्मिथः समुच्चयार्थः (रा० ती०) ।

२. विशेष्यवृत्तिधर्मानाश्रयत्वे सति परंपरया व्यावर्तकमुपलक्षणम् । स्वरूपा-नन्तर्निविष्टत्वे यावत्कार्यमनवस्थायित्वे च भेदहेतुः इत्यर्थः ।

३. 'जगदिदं स्वान्तर्गतं यो विजृम्भयति तस्मै नमः इत्यन्वयः' (रा०ती०) ।

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते
साक्षात्तत्त्वमसीतिवेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान् ।
यत्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥३॥

अत्रेयं 'तत्त्वसुधा' ।

ननु असदेव जगतः कारणं, पिण्डादिनाशादेव घटाद्युत्पत्तिदर्शनात्, जागराद्यकालीनकार्यस्य च असत्पूर्वकत्वदर्शनात्, तद्दृष्टान्तेन जगतोपि तथात्वानुमानात्, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति श्रुतेश्च (तै० उ० २.७), इत्यसद्वादमाशंक्याह—यस्यैवेति । यस्य प्रत्यगभिन्नस्य परमेश्वरस्य स्वरूपभूतं सदात्मकं सद्रूपं स्फुरणमेव चैतन्यमेव । असत्कल्पार्थगम्[1] असत्कल्पाः असत्तुल्याः स्वसत्तारहिताः अनिर्वचनीयाः ये अर्थाः वियदाद्याः तान् गच्छतीत्यसत्कल्पार्थगम्, अनिर्वचनीयवियदादिपदार्थनिष्ठमिति यावत् । भासते प्रकाशते ।

अयं भावः । जगतः असत्कारणत्वे घटोऽसन् इति असत एव सर्वत्र अनुवृत्तिः स्यात्, न तु सतः । किं च तस्यासतः अस्वप्रकाशत्वेन तत्र वर्तमान जगतः आन्ध्यमपि स्यात् । जगच्च सदनुविद्धं प्रकाशते । तथा च स्वतः सत्वप्रकाशरहितं जगत् तदधिष्ठानभूतात्मसत्ताप्रकाशाभ्यामेव सत्ताप्रकाशवद्भवतीति तत्राध्यस्तत्त्वेन तत्कारणकमेव जगत् । नापि पिण्डादिनाशस्य घटादिकारणत्वं, अनुगतमृदादेरेव कारणत्वात् । जागराद्यकालीनस्य कार्यस्य च असत्पूर्वकत्वं नास्मत्सम्मतम्, सुषुप्तिकालीनसद्रूपात्मनः कारणत्वांगीकारात्, सुषुप्तावात्मसत्त्वस्य च साधयिष्यमाणत्वात् । 'असद्वा इदमग्र आसीद्' इति श्रुतिश्च अनभिव्यक्तसत्कारणपरा, 'कथमसतः सज्जायेत' इति श्रुत्यैव (छा० ६.२.२) असद्वादस्य प्रतिषेधात् इति ।

---

१. रामतीर्थीये तु अर्थकमित्येव पाठः ।

अथवा, ननु घटः सन् पटः सन् इत्येव प्रतीयमानस्य जगतः कथमसत्कल्पत्वं अध्यस्तत्वेन उच्यते? इत्याशंक्याह—यस्यैवेत्यादिना। सत्प्रकाशाधिष्ठाना-त्मसत्तैव आरोपित जगन्निष्ठतया प्रतीयते, न तु तस्य स्वतः सत्त्वम्। 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २.३.६), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४.४.२०) इत्यादि श्रुत्या प्रपंचस्य प्रतिषेधात्। भ्रान्त्यापि तत्प्रतीत्युपपत्तेश्च। तस्य असद्विलक्षणत्वांगीकारात् न शशविषाणसमत्त्वम्। ततश्च अपरोक्ष प्रतीति-रप्युपपद्यते, इति तात्पर्यार्थः। अक्षरार्थस्तु: पूर्ववत्।

येयं असत्ये प्रपंचे सत्यत्वबुद्धिः, अनात्मनि देहादौ च आत्मत्वबुद्धिः, इयमेव सकलसंसारनिदानम्। अस्याश्च निवृत्तिः गुरुपदिष्टतत्त्वमस्यादि-वाक्यजन्याऽपरोक्षज्ञानेन मूलाऽज्ञाननिवृत्त्यैव, इत्यभिप्रायेण आह—साक्षादित्यादिना। यः गुरुरूपः परमेश्वरः। आश्रितान् विधिवदुपसन्नान्। तत्त्वमसीतिवेदवचसा यज्जगत्कारणं सद् अद्वितीयं ब्रह्म तत् त्वं असि, न ततो भिन्नोऽसि इति वेदवचसा वेदवाक्येन। साक्षात् अपरोक्षत्वेन। तत्त्वं बोधयति ज्ञापयतीत्यर्थः।

ननु कथं किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादि विरुद्धधर्मकयोः जीवेश्वरयोः अभेदं अयोग्यं वेदो बोधयति इति चेत्? उच्यते। सोऽयं देवदत्त इत्यादि वाक्यं तदेतद्देशादिविरुद्धांशं त्यक्त्वा अविरुद्धांशं पिण्डमात्रं आदाय भागत्यागलक्षणया यथाऽभेदं बोधयति, तथा तत्त्वमस्यादिवाक्यमपि जीवेश्वरयोः मायाऽन्तः-करणोपाधि तन्निमित्तकिंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिविरुद्धांशं त्यक्त्वा, उभयत्रा-नुगताविरुद्धचिन्मात्राऽऽदानेन अभेदं बोधयति।[1] अत्र महावाक्यार्थविषये या

---

१. एकपदार्थेनापरपदार्थस्य सम्बन्धः संसर्गमर्यादया भासतां नाम, परमत्र पदार्थयोरभेदान्न सम्बन्धबोधः किन्तु घटःकलश इत्यादिकोषवाक्य-वद्बोधः। संबन्धश्च भिन्नयोरेवेति नाभेदः सम्बन्धस्तादात्म्यमपि भिन्न-योरेव। वाक्याच्च सर्वपरिच्छेदकरूपविशेषणशून्यः 'अहम्' इत्येव बोध इति दिक्।

या अनुपपत्तयः परैरुद्भाविताः ताः सर्वाः सर्वेराचार्यैः सर्वत्र पराक्रम्य निरस्ता इति नास्माभिस्तत्र यत्यते, संग्रहव्याख्याने प्रवृत्तत्वात् ।

ननु एवं वाक्यजन्यज्ञानान्निवृत्तोपि संसारः सुषुप्तिप्रलययोरिव पुनरपि कदाचिदुद्भवेद् ? इत्याशंक्याह—यत्साक्षादित्यादिना । यत्साक्षात्करणात् यस्य स्वप्रकाशनिष्प्रपंच सच्चिदानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणः, साक्षात्करणात् अपरोक्षतया सोहमस्मीति ज्ञानात् । भवाम्भोनिधौ संसारसमुद्रे । पुनः भूयः । आवृत्तिः आवर्तनं आगमनम् । न भवेत् न स्यात् । 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७ १.३), ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३·२·९), 'न स पुनरावर्तते' (छा० ८.१५.१) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः । सुषुप्तिप्रलययोः मूलाज्ञानस्य विद्यमानत्वात् पुनरुत्थानं, तस्य वाक्यजन्यज्ञानेन अत्र नष्टत्वात् न मुक्तस्य पुनरुत्थानमिति भावः । तस्मै नम[1] इति ।। ३ ।।

नानाछिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते ।
जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत् समस्तं जगत्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ।।४।।

अत्रेयं 'तत्त्वसुधा' ।

न च, जगतः कथं आत्मसत्ताभानाभ्यां तद्वत्त्वम्, आत्मवत् स्वतः एव सत्ताप्रकाशौ जगतो भवेतां इति आशंक्यम्; आत्मवत् जगतः स्वतः सत्त्वे

---

१. 'विषयाणां चिदात्मव्यतिरेकेण स्वरूपानिरूपणात् चिदात्मनि मायाकल्पितान् विषयाकारान् दृग्दृश्यादिविवेकज्ञानेन अभिभूय स्वयमद्वयं प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषाकारं आत्मानमनुभवन् तत्त्वमसीति वेदवचसा य आश्रितान् उपासकान् आत्मजिज्ञासून् साक्षाद् बोधयति तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इत्यन्वयः' (रा० ती०) । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् यस्य स्फुरणं भासते तस्मै नम इति योजनीयम् । मौनव्याख्यातृत्वेपि वेदार्थस्यैव बोधकत्वाद् वेदवचसेत्युक्तम् ।

तद्वदेवोत्पत्तिविनाशानुपपत्तेः, तद्वदेव करणाद्यनपेक्षया सर्वदा भानप्रसंगात् च न स्वतः सत्ताप्रकाशौ भवतो जगतः, किन्तु आत्मसत्ताप्रकाशाभ्यामेव जगतोपि सत्ताप्रकाशौ ।

ननु एवं तर्हि सर्वस्य जगतः आत्मनि अध्यस्तत्त्वे भवन्मते कथं करणाद्यपेक्षा ? प्रकाशरूपात्मसम्बन्धादेव सर्वं सर्वदा किमिति न भायात् ? सर्वगतचैतन्यस्याऽविरोधेन अज्ञानावृतत्त्वे वा कथं कादाचित्कं जगतो भानम् ? अज्ञानस्य चैतन्यातिरिक्तनिवर्तकाभावात्, तस्य च अविरोधित्वात्, इत्याशंक्याह—नानाच्छिद्रेति । नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरम्—नानाच्छिद्रस्य अनेकरन्ध्रयुक्तस्य, घटस्य कुम्भस्य, उदरे अन्तः, स्थितो वर्तमानो, यो महादीपः, तस्य प्रभेव भास्वरं भासनशीलं, दीपवत तमोविरोधिलक्षणप्रकाशस्वभावं यस्य परमेश्वरस्य घटवदनेकाच्छिद्रयुक्ते देहेऽन्तःकरणे प्रतिबिम्बितस्य साक्षित्त्वेन अवस्थितस्य स्वरूपभूतं ज्ञानं चैतन्यं चक्षुरादिकरणद्वारा चक्षुःश्रोत्रादीनि यानि करणानि विषयोपलब्धिसाधनानि तद्द्वारा तच्छिद्रेण बहिः विषयदेशे स्पन्दते गच्छति । इन्द्रियाणां विषयसम्प्रयोगे तद्द्वारा चैतन्योपाध्यन्तःकरणे गच्छति सति तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि गच्छति, गत्वा तं विषयं भासयतीत्यर्थः ।

अयमभिप्रायः । चैतन्यं तु स्वतो अज्ञानाऽविरोधि अपि अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितं सत् तद्विरोधि । अत एव अन्तकरणधर्माः रागादयः स्वसत्तायां सर्वदा भासन्ते । घटपटादिविषयश्च बिम्बचैतन्ये ब्रह्मण्येव अध्यस्तस्तिष्ठति । अन्तःकरणेन चक्षुरादिद्वारा विषयदेशं गच्छता घटाद्यधिष्ठानबिम्बचैतन्यमुपाधीयते । तथा च एकोपाधिसंबन्धात् अन्तःकरणे प्रतिबिम्ब्य अवस्थितेन साक्षिचैतन्येन घटाद्यधिष्ठानचैतन्यमेकीभवति । ततः साक्षिचैतन्येन तदज्ञाने निवृत्ते घटादिविषयो भासते, न सर्वदा । अतोऽज्ञानावरणभंगार्थं चक्षुराद्यपेक्षेपि न कोपि दोषः ।

केचित्तु अचिद्रूपात्मनिष्ठज्ञानेन घटादिविषयो भासत इति वदन्ति। तन्न। आत्मनिष्ठज्ञानस्य जडस्य स्वप्रकाशस्य वा घटादिविषयेण संयोगादिसम्बन्धाभावात्, स्वरूपसम्बन्धस्य चातिप्रसक्तत्वात्।

केचित्तु विषयनिष्ठस्फुरणेन घटादिभानमिति कथयन्ति। तदपि न। विषयनिष्ठस्य आत्मना सह सम्बन्धाभावेन अहं जानामीति सम्बन्धप्रत्ययानुपपत्तेः।

तस्मादस्मदुक्तप्रकारेण स्वप्रकाशसाक्षिचैतन्यसम्बन्धादेव घटादिविषयभानमिति। तदेतदाह—जानामीत्यादिना। घटादिकमहं जानामीति घटादिविषयसम्बद्धतया भान्तं प्रकाशमानं तमेव साक्षित्वेनावस्थितं परमेश्वरमेव अनु पश्चात् एतत् विविधशब्द प्रत्ययगम्यं समस्तं सर्वं जगत् भाति प्रकाशते। अनुभानमपि न तस्य स्वतः किंतु अग्नि दहन्तं अयोनुदहतीतिवत् अध्यासादेवेत्यर्थः। तथा च श्रुतिः 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति (मुं० २.२.१०)। तस्मै नम इति ॥४॥

देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्यंविदुः
स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमिति भ्रांता भृशं वादिनः।
मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥५॥

अत्रेयं 'तत्त्वसुधा'।

अत्र केचित्, सर्वमेतदभित्तिचित्रं, देहव्यतिरिक्तस्यात्मन एवाभावात्। देहस्यैव गच्छामि, तिष्ठामि, स्थूलोहं कृशोहमित्यात्मत्वानुभवादिति वदन्ति।

अन्ये केचित् तान् हस्तेन वारयन्तः आहुः—जीवात्मनिर्गमे शरीरमरणस्य दर्शनात्, वच्मि पश्यामि शृणोमि इत्यादि बुद्धिदर्शनात् इन्द्रियाण्येवात्मेति।

ततोप्यन्ये केचित् ईषच्छुद्धबुद्धयः चक्षुरादीन्द्रियनाशेपि प्राणसत्त्वे जीवनदर्शनात्, अन्यथाऽदर्शनात्, बुभुक्षितोहं पिपासितोहं इत्यादि प्रतीतेश्च प्राण एवात्मेति भणन्ति।

इतरे तु प्राणस्य वाह्यवायुवज्जडत्वेन भोक्तृत्वाद्यसम्भवात् मन एव चेतनं भोक्तृ चात्मेति वदन्ति ।

योगाचारस्तु मम मन इति भिन्नतया प्रतीयमानस्यात्मत्वासंभवात् क्षणिकविज्ञानमहमिति प्रतीयमानं बुद्धिशब्दापरपर्यायं संसारीति जल्पति ।

तद्धिक्कृत्यान्यः कश्चिद् विद्युदभ्रनिमेषादिवत् क्षणिकस्य तस्य आत्मत्वानुपपत्तेः, सुषुप्तौ तस्याप्यभावात् अन्यस्यात्यनुपलब्धेः शून्यमेव आत्मेत्युद्गिरति ।

एते च स्वस्वपक्षदार्ढ्याय इतस्ततश्च यां कांचित् श्रुतिमादाय उदाहरन्ति । अन्ये चैतदन्यथाऽऽत्मस्वरूपं फणन्ति । सर्वे ते दैवोपहतचित्ताः भ्रान्ताः सकलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणन्यायविद्वत्प्रत्यक्षविरुद्धार्थपरिग्राहकाः । नैतेषां मार्ग आत्मनः श्रेयोऽर्थिभिः स्वप्नेप्यनुसरणीयः, इत्यभिप्रेत्याह—देहं प्राणमपीति । देहं सशिरस्कं पिण्डम् । प्राणं पंचवृत्तिकं मुखनासिकसंचारिणम् । इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि तत्तद्गोलकवृत्तीनि रूपादिग्राहकाणि । चलां क्षणिकां सन्ततोदयां बुद्धिं विज्ञानम् । शून्यं तुच्छम् । चकारात् तार्किकाद्यभिमतमात्मानम् । वादिनः चार्वाकादयः । स्त्रीबालान्धजडोपमाः स्त्रीबालान्धजडवद्विवेकविज्ञानरहिताः । अत एव भ्रान्ताः तत्त्वमन्यथा प्रतिपद्यमाना अहमिति विदुः आत्मत्वेन जानन्ति । अन्यानुपदिशन्ति चेत्यर्थः ।

ननु एते वादिनः परीक्षिका अपि किमिति एवं नास्तिकाः सन्तः अन्यथा अन्यथा तत्त्वं प्रतिपद्यन्ते, इति चेत् ? ईश्वरानुग्रहाभावात् । ये तु आस्तिकाः श्रुतिस्मृत्युक्तमार्गेण कर्मानुष्ठानेन भगवन्तं परमेश्वरं सेवन्ते तेषां परमेश्वरप्रसादात् नैतादृशो व्यामोहः इत्यभिप्रेयाह—मायेत्यादिना । मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे—भगवतः परमेश्वरस्य अनाद्यनिर्वचनीया या मायाशक्तिः परव्यामोहिका, तस्या विलासेन एकदेशेन कल्पितो, यो महाव्यामोहः महान् अनन्तोऽपरिमाणश्च, व्यामोहः देहाद्यात्मत्वभ्रमः, तं संहर्तुं नाशयितुं शीलमस्येति स तथोक्तः । तस्मै नमः[१] । तथा चोक्तं

---

१. भ्रान्तावादिनो विदुः, तेषां मोहसंहारिणे तस्मै नम इति तेषामित्यध्याहृत्य योजना । एवं चात्मविचारे प्रवृत्तिमात्रेणेश्वरानुग्रहविषयतेत्युक्तमिति दिक् ।

श्रीभागवते—'येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्। ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वसृगालेभक्ष्ये।[1]' (२.७.४२) ।।५।।

राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्
सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योऽभूत् सुषुप्तः पुमान्।
प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ।।६।।

अत्रेयं 'तत्त्वसुधा'।

ननु शून्यवादिना सुषुप्तौ कस्याप्यनुपलम्भात् शून्य एवात्मेति यदुक्तं, तस्य किं समाधानम् ? इत्याशंक्य, सुषुप्तावात्माऽस्तित्वं साधयन् समाधत्ते—राहुग्रस्तेति। यः पुमान् प्रत्यग्रूपः परमेश्वरः। करणोपसंहरणतः विशेषविज्ञानहेतुचक्षुरादिकरणानामुपसंहारात्। सन्मात्रः पूर्णानन्दादिरूपेण स्फुटप्रकाशभानतया केवलं सन्मात्रेणावस्थितः सन्। सुषुप्तोऽभूत् सुप्तिं प्राप्तोऽभूत्। करणाभावेपि पूर्णानन्दभानवतो मुक्तात्मनः सकाशात् सुषुप्तात्मनो वैषम्यमाह—मायासमाच्छादनादिति। मायया आत्माऽविद्यया, समाच्छादनात् आवरणात्, सन्मात्र इति सम्बन्धः[2]। स्फुटमप्रकाशमानस्य स्वरूपतः सत्त्वे दृष्टान्तमाह—राहुग्रस्तेति। राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशः—राहुणा सैंहिकेयेन, ग्रस्तौ गृहीतौ यौ दिवाकरेन्दू सूर्यचन्द्रौ, तत्सदृशः तत्समानः सन् सुषुप्तः अभूद इति सम्बन्धः। यथा राहुणा ग्रस्तो दिवाकरः चन्द्रो वा स्फुटं न प्रकाशते इत्येतावता दिवाकरस्य चन्द्रमसो वा नासत्वम्,

---

१. शरीर इत्यर्थः।

२. सन्मात्रो भूदिति सम्बन्धः। केनात्मना सुषुप्तो भवेदित्यपेक्षायामाह-सन्मात्रइति। स्वप्रकाशसत्तामात्रेत्यर्थः। यद्वा करणोपसंहरणतः सुषुप्तः सन्मात्रो यः पुमानभूदिति सम्बन्धः। अर्थः पूर्ववत्; एवं सन्मात्रोपि स्वेनज्योतिषा भासमानोपि तदानीं पूर्णप्रकाशात्मना न भासत इति' (रा०ती०)।

तद्वत् करणानामुपसंहारात् माययाऽऽवृतत्वाच्च सुसुप्तौ स्फुटमात्मा न भासते इत्येतावता आत्मनो नाऽसत्त्वमित्यर्थः।

ननु राहुग्रस्तस्य सूर्यस्य चन्द्रमसो वा स्फुटप्रकाशाभावेपि चक्षुषा अविशेषतः सर्वैः ग्रहणात् अस्ति सत्त्वम्; न तद्वद् आत्मनः केनचित् सत्त्वमनुभूयते, इत्याशंक्य; सुषुप्तौ आत्मनोपि अविशेषतो भानं साधयति— प्रागस्वाप्समित्यादिना। यः सुषुप्तिकालीनात्मा। प्रबोधसमये सुप्तेरुत्थान-समये। प्रत्यभिज्ञायते। कथम्? प्राक् योहं अस्वाप्सम् स इदानीं जागर्मि इति। न च तदाननुभूतस्य प्रत्यभिज्ञानं सम्भवति, अन्यत्र देवदत्तादननुभूते प्रत्यभिज्ञानाऽदर्शनात्। न च तदा करणेन आत्मानुभवः, इन्द्रियादिकरणानां सुषुप्तावभावात्। अतः स्वप्रकाशस्य आत्मनः सत्वान्न तदा शून्यत्वम्। नापि तस्य क्षणिकत्वम्। नापि जडत्वम्। उक्तयुक्तेरेव। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति। पुनरश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एवं जीवः स्वपितिप्रबुद्धः'।। (कै० १.१५), 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६ ८.१) इत्यादिश्रुतिश्चात्मनः सच्चिदानन्दरूपत्वेन सुषुप्ता-ववस्थानं दर्शयति। आत्मनः सुखरूपत्वं च उत्थितेन तेन अनुसन्धीयते 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति। अतो न कोपि दोष इति भावः।।६।।

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तः स्फुरन्तं सदा।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।७।।

अत्रेयं 'तत्त्वसुधा'।

इनानीं मुंजादिषीकामिव देहादिभ्यो विविच्य सच्चिदानन्दरूपं प्रत्यगात्मानं प्रदर्श्य, तस्य परमेश्वराऽभेदं श्रुतिगुर्वीश्वरप्रसादलभ्यं प्रदर्शयन्नाह—बाल्यादिष्विति। बाल्यादिषु; बाल्यं शैशवं तदादिषु शैशव-कौमारयौवनमध्यवयस्स्थाविररूपासु। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्छाजन्मजरामरण-रूपासु। तथा अन्यासु अपि अवान्तरासु दर्शनश्रवणादिरूपासु कर्तृत्व-

भोक्तृत्वादिरूपासु च सर्वासु अवस्थासु दशासु व्यावृत्तासु परस्पर व्यावर्तमानासु अनुवर्तमानं अनुगततया सर्वास्ववस्थासु वर्तमानम् ।

अयं भावः। यो हि असत्यजडानानन्दरूपासु सर्वास्ववस्थासु व्यावर्तमानासु योहं सुप्तो स्वप्नमद्राक्षं सोहमिदानीं जागर्मि इति अवस्थात्रये, योहं बालो युवा चाभूवम् सोहमिदानीं वृद्धोस्मि इति बाल्यादिष्वपि च सत्त्वेन अनुवर्तमानः अनुभूयते, तथा द्रष्टत्वेनाभिमतेषु चक्षुरादिषु व्यावर्तमानेषु स्वयं तत्सकलसाक्षित्त्वेन यः चिद्रूपः सदा अनुवर्तमानोऽनुभूयते, तथा प्रियत्त्वेनाभिमतवित्तपुत्रपिण्डादिषु व्यावर्तमानेषु च यः स्वयं सदा प्रतिविषयः सर्वशेषित्वेन निरतिशयप्रीतिविषयतया आनन्दरूपत्वेन अनुवर्तमानः अनुभूयते, तद्वदेव अहंबुद्धिविषयतया आत्मत्वेनाभिमतेषु देहादिभोक्त्रन्तेषु व्यावर्तमानेषु यश्च स्वयं अहं बुद्धिम व्यभिचरन् सदा आत्मत्वेनानुवर्तमानोनुभूयते, ततः सद्रूपत्वं, चिद्रूपत्वं, आनन्दरूपतया प्रियत्वं, अहम्बुद्धिविषयतया प्रत्यक्त्वं च यः कदापि न व्यभिचरति स एव त्वंपदलक्ष्यार्थं आत्मा, इति । तथा च तापनीय श्रुतिः, 'तं वा एतमात्मानं जाग्रति अस्वप्नमसुषुप्तं, स्वप्ने अजाग्रतं असुषुप्तं, सुषुप्ते अजाग्रतमस्वप्नं, तुरीये अजाग्रतमस्वप्नमसुषुप्तं, अव्यभिचारिणं नित्यानन्दसदेकरसं ह्येव चक्षुषो द्रष्टा, श्रोत्रस्य द्रष्टा, वाचो द्रष्टा' इति (नृ० ३.२) ।

एतदेवाह—अहमित्यन्तः स्फुरन्तं सदेति। अन्तः शरीरादिषु मध्ये। अहमिति अहम्बुद्धिविषयत्वेन। सदा सर्वेष्वपि कालेषु। स्फुरन्तं भासमानं, उपलक्षणमेतत् सत्त्वेन प्रियत्त्वेन च सदा स्फुरन्तमित्यपि द्रष्टव्यम्। एवम्भूत प्रत्यगात्मानं यः परमेश्वरः स्वात्मानं एव स्व, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २.१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३.९.२८) इयतादिषु श्रुतिषु सच्चिदानन्दात्मकत्वेन त्रिविधपरिच्छेदशून्यतया च प्रसिद्धः परमेश्वर एवं आत्मा स्वरूपं यस्य प्रत्यगात्मनः, न तु कर्त्रादिरूपेण प्रतीयमानः आत्मा सः स्वात्मा प्रत्यगात्मा, तं स्वात्मानम्, ब्रह्माभिन्नमिति यावत्। भद्रया शोभनया मुद्रया करकलितज्ञानमुद्रया। भजतां स्वभक्तानां प्रकटीकरोति तेषां प्रत्यगात्मनं ब्रह्मस्वरूपत्वेन अप्रकटं प्रकटं करोति स्फोरयति । तस्मै नमः ।

बाल्यादिषु तथा जाग्रदादिषु अपि सर्वासु अवस्थासु व्यावर्तमानासु अनुवर्तमानं सदा अन्तः अहमिति स्फुरन्तं भजतां प्रत्यगात्मानं यो भद्रया मुद्रया स्वात्मानं प्रकटीकरोति तस्मै नम इत्यन्वयः ॥७॥

विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः ।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामितः
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥८॥

अत्रेयं 'तत्त्वसुधा' ।

ननु ब्रह्मव्यतिरिक्तं चेत्किमपि न वस्त्वस्ति, तर्हि कथं परमार्थोपदेशादिव्यवहारः ? न हि जातु कश्चित्तत्र बद्धोस्ति येन बन्धनिवृत्तये विद्योपदेशः स्यात्, बन्धहेतोः कस्याप्यभावात् । नापि विद्यावतो मुक्तिः सम्भवति, तद्धेतुगुरुशास्त्रादीनां अभावात्, इत्याशंक्य; अनाद्यनिर्वचनीयपरमात्माध्यस्तमायावशादेव सर्वो व्यवहारः ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तं घटते, इत्यभिप्रेत्याह—विश्वं पश्यतीति । पुरुषः पूर्णः । यः श्रुत्यन्तप्रसिद्धः परमेश्वरः । मायापरिभ्रामितः स्वोपाधिभूतमायया मलिनसत्त्वप्रधानया कार्यकारणसंघाताकारेण परिणतया स्वेन प्रविष्टया, परिभ्रामितः बहुविधं भ्रमं प्रापितः । एषः सर्वप्राण्यपरोक्षजीवः सन् सांसारित्वेन भावितः । विश्वं जगत् । भेदतः बहुभेदभिन्नतया । भ्रमेण पश्यति अवलोकयति । भेदमेव दर्शयति—कार्यकारणतयेत्यादिना ।

अयमर्थः । यद्यपि परमार्थतो ब्रह्मव्यतिरिक्तं किमपि नास्त्येव, 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादिना श्रुत्या (बृ० ४.४.२०) निषेधात्, तथापि अनाद्यनिर्वाच्याविद्यावशात् मुधैव भ्रान्तो जीवः प्रपंचं बहुभेदभिन्नं पश्यति; निद्रापरवश इवानेकविधं स्वप्नम् । तस्य च वस्तुतो ब्रह्मैव सन्तमात्मानं निखिलानर्थसंकुलया मायया भ्राम्यतः स्वभ्रान्तिसिद्धगुरुशास्त्रन्यायादिभ्यो विद्योत्पत्तौ अविद्या सवासना निवर्तते, निद्राणस्य इव स्वाप्नव्याघ्रदर्शन-

समुपजातभयेन प्रवुद्धस्य स्वप्नः। ततः संसारान्मुक्तः स्वस्वरूपे सच्चिदानन्दात्मनि निरतिशयमहत्त्वसम्पन्न एव रममाणोऽवतिष्ठते। तदुक्तं सर्वज्ञात्ममुनिभिः, 'तस्माद् ब्रह्माऽविद्यया जीवभावं प्राप्य स्थित्वा[1] तावके तु स्वरूपे। त्वच्चित्तेन[2] स्पन्दितं विश्वजातं आकाशादिक्ष्मावसानं च पश्येः॥ स्वीयात्वच्चित्तेन[2] ... स्वीयाविद्याकल्पिताचार्यवेद—न्यायादिभ्यो जायते तस्य विद्या। विद्याजन्मध्वस्तमोहस्य तस्य स्वीये रूपेऽवस्थितिः स्वप्रकाशे'॥ (सं० शा० २.१६२-३) इति[3]। ततः सर्वस्य परमार्थतो ब्रह्ममात्रत्वेपि मायावशाद् भ्रान्त्या सर्वमुपपद्यत इति।

कार्यं जन्यम्। कारणं जनकम्। स्वं गृहक्षेत्रादि। स्वामी तद्वान् देवदत्तादिः। शिष्यः विद्याग्रहणार्थं विधिवद्गुरुमुपसन्नः। आचार्यः विद्योपदेष्टा। पिता निषेक्ता। पुत्रः तच्छुक्लसम्भवः। इत्यादिरूपेण विश्वं यः पश्यति तस्मै नम इति सम्बन्धः।

---

१. 'प्राप्यासित्वा' इति सर्वज्ञात्मीयपाठः।

२. चित्तशब्देनाविद्योच्यते। एवं च त्वदविद्योत्थविकल्पितमित्यर्थः।

३. अत्र मधुसूदनपादाः—"उक्त पुरस्तादेकाऽज्ञानप्रतिबिम्बजीवैकत्वेपि तत्कार्यानन्तान्तःकरणावच्छिन्नस्य तस्य अनन्तप्रमात्रादिभाव इति। तत्र यदन्तःकरणावच्छिन्ने श्रवणमननादिसम्पत्त्या निश्चयरुपापि ब्रह्मविद्याऽपरोक्षा भवति,स गुरुः। अतएवानन्तान्तःकरणावच्छिन्नानां युगपत्स्वस्वगुरोः विद्याप्तये पृथग् यत्व उपपद्यते। न चैतावता जीवभेद आयाति। अविद्याप्रतिबिम्बस्यैकस्यैव जीवस्य तत्तदुपाधिना युगपत्क्रमेण वा तदुद्देशेन प्रवृत्तेः सम्भवात्।" रामतीर्थाश्च— "व्यावहारिक प्रमाणाभिमतेनैव ज्ञानेन सर्वविकल्पाधिष्ठानं ब्रह्मैव ब्रह्मवित्तया कल्पितमाचार्यः, वेदाद्यात्मना च कल्पितं प्रमाणादिरपि, यथा अज्ञत्वेन परिकल्पितं ब्रह्मैव शिष्यः। तस्माद्यथा शिष्यः स्वाविद्याकल्पितमाचार्यं द्वैतं च पश्यति तथा चाचार्योपि ब्रह्मविद्यानाधितया प्रारब्धकर्मशेषवशादनुवर्तमानया स्वविद्यया शिष्यमन्यच्च पश्यति।"

भूरम्भांस्यनलोऽनिलोऽम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमान्
इत्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम् ।
नान्यत्किंचन विद्यते विमृशतां यस्मात्परस्माद्विभोः
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥९॥

अत्रेयं 'तत्त्वसुधा' ।

इदानीमुक्तरूपब्रह्मापरोक्षज्ञाने मन्दाधिकारिणां अष्टमूर्त्युपासनं क्रम-मुक्तिदायकं, उत्तमाधिकारिणां श्रोतव्यादिश्रुतिसिद्धवेदान्ततद्विषयब्रह्मविचारः साधनम्, इत्यभिप्रेत्याह—भूरम्भांसीति । भूः पृथिवी । अम्भांसि जलानि । अनलः अग्निः । अनिलः वायुः । अम्बरं आकाशः । अहर्नाथः सूर्यः । हिमांशुः चन्द्रः । पुमान् सकलकर्मविद्याधिकारी जीवः । इति एवंप्रकारेण । यस्यैव परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सच्चिदानन्दाद्वयस्य सदाशिवस्यैव । मूर्त्यष्टकं मूर्तीनां विग्रहभूतानां अष्टकम् । आभाति आ समन्ताद् भाति ।

अयमर्थः । उपासकः स्वदेहे वर्तमानपंचभूतानि व्यष्टिभूतानि समष्टि-भूतैः, प्राणापानौ च सूर्यशशांकाभ्यामेकीकृत्य, पंचभूतात्मकशरीराभिमानिनं स्वात्मानं अष्ट[म]मूर्तिं परमेश्वरेणैकीकृत्य, सकलव्यापी अष्टमूर्त्यात्मकः सदाशिवोस्मि इति चिन्तयेत् ततो भावनातिशयेन तत्सायुज्यं प्राप्य सर्वैश्वर्यसम्पन्नः अन्ते तत्प्रसादासादिततत्त्वज्ञानेन तत्त्वसाक्षात्कारेण विमुच्यते, इति ।

विमृशतां तत्त्वं विधिवद् गुरुश्रुतिभ्यो युक्त्या च अनिशं विचारयतां पुरुषाणाम् । परस्मात् सर्वकारणात् । विभोः विविधप्रपंचात्मना, भवतः विवर्तमानात् । यस्मात् सर्वाधिष्ठानात् सच्चिदानन्दात्मकात् परमेश्वरात् । अन्यत् पृथक् । किंचन किंचिदपि । न विद्यते न भवति, सर्वस्य तस्मिन् परमेश्वरे अध्यस्तत्वेन तन्मात्रत्वात् । तथा चोक्तं महिम्नस्तवे—'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणि रात्मा त्वमिति च । परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणतां विभ्रति गिरं न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥' इति (२७) । श्रुतिश्च 'विश्वं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत् ।सर्वो ह्येष रुद्रः तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ यस्मात्परं

नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति कश्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥" इत्याद्या (तै०उ० ४.२४,१२)। स्तब्धः निश्चलः । दिवि स्वप्रकाशे स्वरूपे । तथा च उक्तरूप ब्रह्मात्मज्ञानात् उत्तमाधिकारिणामिहैव सच्चिदानन्दाद्वयपरशिवरूपेणावस्थानलक्षणा मुक्तिः आसाद्यते, 'अत्र ब्रह्मसमश्नुते' इत्यादिश्रुतेः (कठ० ६.१४) इति भावः। तस्मै ज्ञानोपदेष्ट्रे गुरुरूपाय दक्षिणामूर्तये परमेश्वराय नमोऽस्तु इति ॥९॥

सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुष्मिन् स्तवे
तेनास्य श्रवणात् तथाऽर्थमननाद् ध्यानाच्च संकीर्तनात् ।
सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतः
सिद्ध्येत् तत् पुनरष्टधापरिणतं चैश्वर्यमव्याहृतम् ॥१०॥

अत्रेयं 'तत्त्वसुधा' ।

इदानीमेतत्स्तोत्रपाठादौ प्रवृत्तानां पुरुषधौरेयाणां अवश्यंभावि फलं कीर्तयन् स्तोत्रमुपसंहरति—सर्वात्मत्वमिति । इति उक्तप्रकारेण । अमुष्मिन् स्तवे अस्मिन् स्तोत्रे । इदं श्रुतिषु 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिषु (बृ० ४.५.७) श्रूयमाणम् । सर्वात्मत्वं प्रत्यगात्मनः स्वरूपत्वम् । स्फुटीकृतं स्फुटमावेदितम् । यस्मात् तेन अस्य स्तोत्रस्य । श्रवणात् गुरुतो विधिवत् श्रवणात् । तदर्थमननात्[1] श्रुतस्य अर्थस्य युक्तिभिरनुचिन्तनात् । ध्यानात् श्रवणमननाभ्यां निर्णीतस्य तथैव सोहं सर्वात्मा परमेश्वरोस्मीति विजातीय प्रत्ययतिरस्कारेण सजातीयप्रत्ययैकविषयीकरणात् । संकीर्तनात् सम्यक् परेभ्यः कथनाच्च । सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं सर्वात्मत्वमेव महाविभूतिः महती सिद्धिः अणिमाद्यपेक्षया, तस्य त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वात् तया सहितम् युक्तम् । ईश्वरत्वं सत्यज्ञानानन्दलक्षणपरमेश्वरत्वम् । तत् श्रुतिप्रसिद्धम् ।

---

१. रामतीर्थीये तु तथेत्येव पाठः ।

स्वतः एव नित्यं विद्यमानम् । स्यात् भवेत्. अधुना ज्ञायत इत्यर्थः । पुनः भूयः । अष्टधा अष्टप्रकारेण । परिणतं मायापरिणामरूपम् । ऐश्वर्यं च अणिमादिकम् । अव्याहतं क्वचिदपि अप्रतिहतम् । सिद्धयेत् 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७.२६), 'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेव पितरः समुपतिष्ठन्ते' (छा० ८.२.१) इत्यादिश्रुत्युक्तं सर्वं भवेदित्यर्थः ॥१०॥

एवमेषा कृता व्याख्या दक्षिणाशामुखस्तुतेः ।
यथामति तया तुष्टो दक्षिणामूर्तिरस्तु नः ॥

—०—

समाप्ता 'तत्त्वसुधा'

श्लोकानुक्रमणिका

त

द

ध

न

ब

भ

म

य

र

ल

व

श

ष

स

ह

